नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक

हजारीप्रसाद द्विवेदी

पृथ्वीनाथ द्विवेदी

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक

भारतीय नाट्य-परम्परा बहुत प्राचीन है। भरत मुनि ने सबसे पहले 'नाट्यशास्त्र' की रचनाकर भारतीय नाट्य-परम्परा को एक विधिवत् और शास्त्रीय रूप प्रदान किया। 'नाट्यशास्त्र' के बीसवें अध्याय को 'दशरूप-विकल्पन' या 'दशरूप-विधान' कहा गया है। इसी आधार पर मुंजराज (९७४-९९५ ई०) के सभासद विष्णु-पुत्र धनंजय ने अपना 'दशरूपक' ग्रन्थ लिखा। लेकिन संक्षेप में लिखने के कारण वह दुरूह हो गया। धनंजय की कारिकाओं की व्याख्या करते हुए उनके छोटे भाई धनिक ने 'दशरूपक' की वृत्तियाँ लिखीं। भारतीय नाट्यशास्त्र में इन दोनों के योगदान का बड़ा महत्व है। हिन्दी में 'दशरूपक' और उस पर धनिक की वृत्तियों का यह प्रामाणिक अनुवाद आचार्य
प्रसाद द्विवेदी और श्री पृथ्वी
आरम्भ में आचार्य
भारतीय
वि

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा
और
दशरूपक

[धनिक की वृत्ति सहित]

हजारी प्रसाद द्विवेदी
पृथ्वीनाथ द्विवेदी
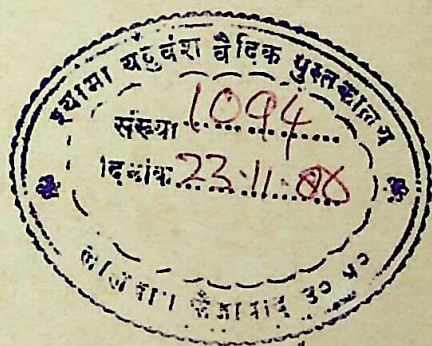
राजकमल प्रकाशन

दिल्ली : पटना

द्वितीय संस्करण : १९७१

NATYA SHASTRA KI BHARTIYA PARAMPARA
Aur
DASHROOPAK

By

Hazariprasad Dwivedi
Prathwinath Dwivedi

मूल्य : १८.००
Price : Rs. 18.00

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
शाखा : साइंस कालेज के सामने, पटना-६
मुद्रक : बाबूलाल जैन फागुल्ल, महावीर प्रेस, वाराणसी-१

क्रम

भूमिका

'भारतीय नाट्यशास्त्र और दशरूपक' का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। 'दशरूपक' का अनुवाद मेरे अनुज स्वर्गीय पृथ्वीनाथ द्विवेदी ने किया था। वे बहुत मेधावी विद्वान थे। अत्यन्त अल्पवय में ही उन्होंने संस्कृत साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का बहुत सुन्दर हिन्दी अनुवाद किया था पर केवल दश-रूपक का अनुवाद ही अब तक प्रकाशित हो सका है। उनके किए हुए भास-कवि कृत नाटकों के अनुवाद भी शीघ्र ही प्रकाशित करने का विचार है। दुर्भाग्यवश वे अत्यन्त कच्ची उमर में ही भगवान् के दरबार में बुला लिए गए और उनके बहुत-से काम अधूरे ही पड़े रह गए हैं। उन्हें पूरा करके प्रकाशित करने का प्रयत्न चल रहा है। इस अनुवाद के साथ मैंने अपना लिखा भारतीय नाट्य परंपरा का परिचय जोड़ दिया है और धनिक की मूल वृत्ति भी जोड़ दी है। इस वृत्ति में दो स्थल ऐसे हैं जिसे प्राकृत का पद्य समझ कर प्रायः दुरूह कहकर छोड़ दिया गया है। वस्तुतः वे अपभ्रंश के दोहे हैं। हमने परिशिष्ट २ में उनका अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसके सिवा इस संस्करण में और कोई नई बात नहीं है। कुछ मुद्रण-दोष अवश्य दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तक को साहित्य प्रेमियों ने बड़े प्रेम से अपनाया है। उसी का फल है कि इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो सका है। इस अवसर पर सभी सहृदयों के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

वाराणसी, — हजारीप्रसाद द्विवेदी
विजयादशमी,
सं० २०२८

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक

नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा

१. नाट्य-वेद और नाट्यशास्त्र

भारतीय 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भ में (१-१-४२) एक कथा दी गई है। उसमें बताया गया है कि कभी अनध्याय के समय जब भरत मुनि शान्त भाव से बैठे हुए थे, आत्रेय प्रभृति मुनियों ने उनसे जाकर प्रश्न किया कि भगवन्, आपने जो 'वेदसम्मित नाटच-वेद' ग्रथित किया है वह कैसे उत्पन्न हुआ और किसके लिये बनाया गया; उसके अंग, प्रमाण और प्रयोग किस प्रकार होते हैं, यह बताने की कृपा करें। भरतमुनि ने बताया कि वैवस्वत मनु के समय त्रेता युग प्राप्त हुआ और काम तथा लोभवश लोग ग्राम्य-धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए तथा ईर्ष्या और क्रोध से मूढ़ होकर वे अनेक प्रकार के सुख-दुःखों के शिकार होने लगे। लोकपालों द्वारा प्रतिष्ठित जम्बूद्वीप जब देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो गया, तब इन्द्र प्रभृति देवताओं ने ब्रह्मा से जाकर कहा कि "हे पितामह, हम ऐसा कोई 'क्रीडनीयक' या खेल चाहते हैं जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी हो; जो वेद-व्यवहार है वह शूद्र जाति को सिखाया नहीं जा सकता, अतएव आप सब वर्णों के योग्य किसी पाँचवें वेद की सृष्टि कीजिए !" ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहकर सब देवों को विदा किया, चारों वेदों को समाधिस्थ होकर स्मरण किया और संकल्प किया कि मैं धर्म, अर्थ और यश का साधन, उपदेशयुक्त, शास्त्र-ज्ञान-समन्वित, भावी जनता को समस्त कर्मों का अनुदर्शन कराने वाला, समस्त शास्त्रार्थों से युक्त, सब शिल्पों का प्रदर्शक, इतिहासयुक्त 'नाटच' नामक वेद बनाऊँगा। उन्होंने 'ऋग्वेद' से पाठच-अंश लिया, 'सामवेद' से गीत का अंश, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्ववेद' से रसों का संग्रह किया। 'नाटच-वेद' का निर्माण करके ब्रह्मा ने प्रचार करने के उद्देश्य से उसे देवताओं को दिया। परन्तु इन्द्र ने उनसे निवेदन किया कि देवता लोग इस नाटच-कर्म के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में असमर्थ हैं। इस काम को वेदों के रहस्य जानने वाले संशित-व्रत मुनियों को देना चाहिए। ब्रह्मा ने इसके बाद भरत मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम अपने सौ पुत्रों के साथ इस 'नाटच-वेद' के प्रयोक्ता बनो ! पितामह की आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस 'नाटच-वेद' का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाटच-वेद' पृथ्वी-तल पर आया।

यह कहानी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वेदों से भिन्न पाँचवाँ वेद होते हुए भी 'नाटच-वेद' के मुख्य अंश चारों वेदों से ही लिये गए

हैं। दूसरा यह है कि यद्यपि इसके मूल तत्त्व वेदों से गृहीत हैं, तथापि यह स्वतंत्र वेद है और अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी दूसरे का मुखापेक्षी नहीं। तीसरा यह कि यह वेद अन्य वेदों की तरह केवल ऊँची जातियों के लिए नहीं है बल्कि सार्ववर्णिक हैं, और चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक आचार और क्रिया-परंपरा के प्रवर्त्तित होने के बहुत बाद त्रेता युग में इस शास्त्र का निर्माण हुआ। उस समय जम्बूद्वीप देवता, दानव, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो चुका था; यानी भारतवर्ष में बहुत-सी नयी जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था।

भारतीय परंपरा यह है कि किसी भी नये शास्त्र के प्रवर्त्तन के समय उसका मूल वेदों में अवश्य खोजा जाता है। वेद ज्ञान-स्वरूप हैं, उनमें त्रिकाल का ज्ञान बीज-रूप में सुरक्षित है। भारतीय मनीषी अपने किसी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना नहीं मानते। 'नाटच-वेद' की उत्पत्ति की कथा में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है, परन्तु इस शास्त्र को वेद की मर्यादा देने का एक और अर्थ भी है। इसमें कुछ ऐसी बातें हैं जो प्रसिद्ध चार वेदों में नहीं हैं और उनके लिए यह 'नाटच-वेद' ही 'स्वतः प्रमाण' वाक्य है। किसी शास्त्र को वेद कहने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपना प्रमाण है, उसके लिए किसी अन्य आप्त वाक्य की अपेक्षा नहीं। मनु ने साक्षात् धर्म के कारण को चतुर्विध बताया है— श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने-आपको प्रिय लगने वाली बात। परन्तु ये चारों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं। स्मृति उतनी ही ग्रहणीय है जितनी की श्रुति से समर्थित है; सदाचार उतना ही ग्रहणीय है जितना कि श्रुति और स्मृति से समर्थित है और अपनी प्रिय बात उतनी ही दूर तक स्वीकार्य है जितनी दूर तक वह श्रुति, स्मृति और सदाचार के अविरुद्ध हो। धर्म के अन्तिम तीन कारण श्रुति से मर्यादित हैं। मनु जिसे श्रुति समझते हैं, उसमें ऐसी बहुत-सी बातों का समावेश नहीं रहा होगा जो नाटच-वेद में गृहीत हैं। इसलिये 'नाटचशास्त्र' के आरम्भ में इसे श्रुति की मर्यादा दी गई है।

जब से नये ढंग की शोध-प्रथा प्रचलित हुई है तब से 'नाटच-वेद' के विषय में आधुनिक ढंग के पण्डितों में अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पना चल पड़ी है। यह भी विचार का विषय बना हुआ है कि 'नाटचशास्त्र' को पाँचवाँ वेद क्यों कहा गया। वे कौन-सी ऐसी बातें थीं जो इस शास्त्र के प्रवर्त्तित होने के पहले वैदिक आर्यों में प्रचलित थीं और कौन-सी ऐसी बातें हैं जो नयी हैं? फिर जो नई हैं उनकी प्रेरणा कहाँ से मिली? क्या यवन आदि विदेशी जातियों से भी कुछ लिया गया, या यहाँ की आर्येतर जातियों में प्रचलित प्रथाओं से उन्हें ग्रहण किया गया? इन जल्पना-कल्पनाओं का साहित्य काफ़ी बड़ा और जटिल है। सबकी पुनरावृत्ति करना न तो यहाँ आवश्यक ही है और न उपयोगी ही। 'नाटच-

शास्त्र' की कथा से इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटकों में जो पाठयअंश होता है उसका मूल रूप 'ऋग्वेद' में मिल जाता है, जो गेय अंश है वह भी 'सामवेद' में प्राप्त हो जाता है और जो रस है उसका मूल रूप 'अथर्ववेद' में प्राप्त हो जाता है। कम-से-कम 'नाटयशास्त्र' के रचयिता को इसमें कोई सन्देह नहीं था।

आधुनिक पण्डितों को भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि 'ऋग्वेद' में अनेक स्थल हैं जो निर्विवाद रूप से संवाद या 'डायलॉग' हैं। कम-से-कम पन्द्रह ऐसे स्थल तो खोजे ही जा सकते हैं जिनमें स्पष्ट रूप से संवाद या संवाद का आभास मिल जाता है। ('ऋग्वेद' १०।१०) में यम और यमी का प्रसिद्ध संवाद है तथा (१०।९५) में पुरूरवा और उर्वशी की बातचीत है। ८ वें मण्डल के १०० वें सूक्त में नेम भार्गव ने इन्द्र से प्रार्थना की और इन्द्र ने उसका उत्तर दिया। कहीं-कहीं तीन व्यक्तियों के भी संवाद मिलते हैं। प्रथम मंडल के १७९ वें सूक्त में इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है। १०वें मंडल के १०८वें सूक्त में इन्द्र-दूती सरमा अपने सारमेय पुत्रों के लिए पणियों के पास जाती है और उनसे जम-कर बात करती है। कुछ ऐतिहासिक-जैसे लगने वाले संवाद भी हैं। विश्वामित्र की नदियों से बातचीत तीसरे मंडल के ३३वें सूक्त में पाई जाती है और वशिष्ठ की अपने पुत्रों के साथ बातचीत सातवें मंडल के ३३वें सूक्त में सुरक्षित है। ऐसे ही और भी बहुत से सूक्त हैं जिनमें देवताओं की बातचीत है। यद्यपि कभी-कभी आधुनिक पंडित सूक्तों के अर्थ के सम्बन्ध में एकमत नहीं हो पाते; एक पंडित जिसे संवाद समझता है, दूसरा पंडित उसे संवाद मानने को प्रस्तुत नहीं। इस प्रकार का झगड़ा कोई नया नहीं है। दशम मंडल के ९५वें सूक्त को, जिसमें पुरूरवा और उर्वशी का संवाद है, यास्क संवाद ही मानते थे; परन्तु शौनक उसे कहानी-मात्र मानते थे।

वेदों में संवाद क्यों आए? सन् १८६९ में सुप्रसिद्ध पंडित मैक्समूलर ने प्रथम मंडल के १६५वें सूक्त के सम्बन्ध में, जिसमें इन्द्र और मरुतों की बातचीत है, अनुमान किया था कि यज्ञ में यह संवाद अभिनीत किया जाता था। संभवतः दो दल होते थे; एक इन्द्र का प्रतिनिधि होता था, दूसरा मरुतों का। १८९० ई० में प्रो० लेवी ने भी इस बात का समर्थन किया था। प्रो० लेवी ने यह भी बताया था कि वैदिक काल में गाने की प्रथा काफ़ी प्रौढ़ हो चुकी थी। इतना ही नहीं, 'ऋग्वेद' (१।९२।४) में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थीं और प्रेमियों को आकृष्ट करती थीं। 'अथर्ववेद' में (७।१।४१) पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख है। श्री ए० बी० कीथ ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को देखते हुए इस बात में कोई कठिन आपत्ति उपस्थित होने की सम्भावना नहीं

देखी कि ऋग्वेद-काल में लोग ऐसे नाटकीय दृश्यों को जानते थे जो धार्मिक हुआ करते थे और जिनमें ऋत्विक् लोग स्वर्गीय घटनाओं का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और मुनियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

नाटक में जो अंश पाठ्य होता है वह पात्रों का संवाद ही है। 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता ने जब यह संकेत किया था कि ब्रह्मा ने 'नाट्यवेद' की रचना के समय 'पाठ्यअंश' 'ऋग्वेद' से लिया था तो उनका तात्पर्य यही रहा होगा कि ऋग्वेद में पाए जाने वाले काव्यात्मक संवाद वस्तुतः नाटक के अंश ही हैं। ऐसा निष्कर्ष उन दिनों यज्ञादि में प्रचलित नाटकीय दृश्यों को देखकर ही निकाला जा सकता है। आधुनिक काल के कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेदकालीन यज्ञों में वस्तुतः कुछ अभिनय हुआ करता था। सारे संसार की प्राचीन जातियों में नाच-गान और अभिनय का अस्तित्व पाया जाता है। प्रो० फान श्रेडर ने बताया था कि 'ऋग्वेद' में आए हुए संवाद प्राचीनतर भारोपीय काल के आर्यों में प्रचलित नाच, गान और अभिनय के उत्तरकालीन रूप होंगे। सारे संसार में सृष्टि-प्रक्रिया के रहस्य को प्रतीक-रूप में अभिनीत करने के लिए अनेक प्रकार के मैथुनिक अभिनय प्रचलित थे। प्राचीन ग्रीक लोगों में भी एक प्रकार का शिश्न-नृत्य प्रचलित था, परन्तु इस प्रकार के अनुमान के लिए न तो मूल संहिताओं में ही कोई निश्चित सबूत पाया जाता है और न हज़ारों वर्षों की भारतीय परंपरा में ही कोई संकेत मिलता है। लुडविक, पिशेल और ओल्डेनबर्ग-जैसे विद्वानों ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि इन संवाद-मूलक पद्यों के बीच-बीच गद्य का भी समावेश हुआ करता था, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं था। पद्य केवल उन स्थलों पर व्यवहृत होते थे जहाँ वक्ता का भावावेग तीव्र होता था। इन तीव्र भावावेग वाले स्थलों को ही इन संवाद-मूलक सूक्तों में संगृहीत कर लिया गया है। 'शकुन्तला' नाटक से गद्य वाले सभी अंश हटा दिए जाएँ और केवल पद्य अंश ही सुरक्षित रखे जाएँ तो उसकी वही स्थिति होगी जो बहुत-कुछ इन संवाद-मूलक सूक्तों की है। प्रो० पिशेल ने इस अनुमान को और भी आगे बढ़ाया है। उनका अनुमान है कि संस्कृत-नाटकों में जो गद्य और पद्य का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है वह उसी पुरानी यज्ञ-क्रिया से सम्बद्ध नाटकीय तत्त्वों का परवर्ती रूप है। संस्कृत-नाटक में पात्र गद्य बोलते-बोलते जब भावावेश की स्थिति में आता है तब पद्य बोलने लगता है। परन्तु इस विषय में भी विशाल भारतीय परंपरा एकदम मौन है। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता के मन में 'ऋग्वेद' में नाटकों में पाए जाने वाले पाठ्य-तत्त्व के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं था। या तो, परंपरया यह प्रचलित था कि 'ऋग्वेद' के संवाद-मूलक पाठ्य-

अंश किसी प्रकार के नाटकीय प्रदर्शन के अंश हैं, या उन्होंने स्वयं ही किसी धार्मिक उत्सव के अवसर पर इन नाटच-अंशों को नाटकीय रूप में अभिनीत होते देखा था। भारत मुनि ने 'नाटचशास्त्र' के प्रथम अध्याय में 'रंग-दैवत पूजन' विधि को 'यज्ञ-सम्मत' कहा है''''यज्ञेन सम्मतं ह्येतद् रंगदैवतपूजनम्'—(१-१२३)। यदि 'नाटचशास्त्र' के इस उल्लेख को परंपरा का इंगित मान लिया जाए तो प्रो० पिशेल का अनुमान सत्य सिद्ध हो सकता है। इतना तो निश्चित है कि 'नाटचशास्त्र' का यह कहना (१-१७) कि नाटक के पाठ्य-अंश 'ऋग्वेद' से लिए गए हैं, साधार और युक्तियुक्त हैं। भारतीय नाटकों के विकास में, हमें इस तत्त्व के लिए वहुत भटकने की जरूरत नहीं है। वह निश्चित रूप से संहिताओं में प्राप्त है।

'सामवेद' से गीत-अंश लिया गया, यह कहना ठीक ही है। ऋक् या पद्य को साम की योनि कहा गया है। योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थल। आर्चिक और उत्तरार्चिक, ये सामवेद के दो भाग हैं। आर्चिक अर्थात् ऋचाओं का संग्रह। इसमें ५८५ ऋचाएँ हैं। विंटरनित्स ने कहा है कि इसकी तुलना एक ऐसी गान-पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गान के केवल एक-एक ही पद्य लय या सुर की याद दिलाने के लिए संग्रह किये गए हों। दूसरी ओर उत्तरार्चिक ऐसी पुस्तक से तुलनीय हो सकता है जिसमें पूरे गान संगृहीत होते हैं और यह मान लिया गया होता है कि सुर या लय पहले से ही जाने हुए हैं। कहने का अर्थ है कि सामवेद एक अत्यधिक समृद्ध संगीत-परंपरा का परिचायक ग्रन्थ है। इसलिये शास्त्रकार का यह कहना कि 'नाटच-वेद' में गीत सामवेद से लिए गए हैं, युक्तियुक्त और साधार है।

शास्त्र का दावा है कि 'नाटच-वेद' में जो अभिनय है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। 'यजुर्वेद' अध्वर्युवेद कहलाता है। पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में बताया है कि उसकी १०१ शाखाएँ थीं। यज्ञ में अध्वर्युलोग 'यजुर्वेद' के मन्त्रों का पाठ करते हैं। इस वेद की पाँच शाखाएँ या पाँच विभिन्न पाठ प्राप्त हैं।

१. 'काठक' अर्थात् कठ लोगों की संहिता, (२) 'कपिष्ठल-कठ-संहिता' कुछ थोड़ी-सी भिन्न और अपूर्ण हस्तलिपियों में ही प्राप्त हुई है, (३) 'मैत्रायणी संहिता' अर्थात् मैत्रायणीय परंपरा की संहिता, (४) 'तैत्तिरीय संहिता' या आपस्तम्ब संहिता। इन चारों में बहुत साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेद की शाखा कहते हैं।) तथा (५) 'वाजसनेयी संहिता' शुक्ल यजुर्वेद की संहिता कहलाती है। इसका नाम 'याज्ञवल्क्य वाजसनेयी' के नाम पर पड़ा। यही इस शाखा के आदि आचार्य थे। इसकी भी दो शाखाएँ प्राप्त हैं, कण्व और माध्यन्दिनीय।

'यजुर्वेद भाष्य' की भूमिका में महीधर ने लिखा है कि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने अपने याज्ञवल्क्य इत्यादि शिष्यों को चारों वेद पढ़ाए। एक दिन वैशम्पायन क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से बोले कि तूने मुझसे जो कुछ पढ़ा है उसे छोड़ दे। गुस्से में याज्ञवल्क्वय ने भी जो पढ़ा था, सब उगल दिया, जिसे गुरु की आज्ञा से वैशम्पायन के शिष्यों ने तीतर बनकर खा लिया। यही उद्वान्त ज्ञान 'तैत्तिरीय संहिता' है। याज्ञवल्क्य ने तपस्या करके सूर्य से 'शुक्ल यजुर्वेद' प्राप्त किया। सूर्य से प्राप्त होने के कारण ही इसका नाम 'शुक्ल यजुर्वेद' पड़ा और इसके विरोध में 'तैत्तिरीय शाखा' का नाम 'कृष्ण यजुर्वेद' पड़ा। आधुनिक पण्डितों ने दोनों वेदों की विषय-वस्तु पर विचार करके बताया है कि शुक्ल का अर्थ है ....सुसम्पादित, स्पष्ट और साफ़ जबकि कृष्ण का अर्थ है असम्पादित, अस्पष्ट और घिचिर-पिचिर। 'कृष्ण यजुर्वेद' में ऐसे बहुत-से अंश हैं जो ब्राह्मण-ग्रंथों के अंश-से जान पड़ते हैं। शुक्ल में यह बात नहीं है। वह विशुद्ध मन्त्रों की संहिता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि रावण-कृत-वेद-भाष्य इसमें मिल गया है, इसलिये इसे कृष्ण या काला कहा गया है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'माध्यन्दिनीय शाखा' ही सम्भवतः पुराना और प्रामाणिक यजुर्वेद है। इसकी उक्त दोनों शाखाओं में अन्तर बहुत कम है। माध्यन्दिनीय शाखा पुरानी मानी जाती है, उसी का प्रचार भी अधिक है। आधुनिक पण्डितों का विश्वास है कि इसके ४० अध्यायों में अन्तिम १५ (या २२) परवर्ती हैं, प्रथम भाग पुराना।

'यजुर्वेद' में कुछ अंश ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जो यज्ञ-क्रिया की विधियों को बताते हैं जिनमें थोड़े-बहुत ऐसे कार्य होते हैं जो अभिनय की कोटि में आ सकते हैं। आधुनिक ढंग के विद्वानों ने यज्ञ के सोम-विक्रय प्रकरण को और महाव्रत के विविध अनुष्ठानों को एक प्रकार का नाटकीय अभिनय ही माना है। इसी प्रकार अन्य याज्ञिक अनुष्ठानों में भी कुछ ऐसे अनुष्ठान मिल जाते हैं जो नाटकीय अभिनय की कोटि में आ जाते हैं। यह सत्य है कि इन अनुष्ठानों को नाटक नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध नाटक वह है जहाँ अभिनेता जान-बूझकर किसी दूसरे व्यक्ति की भूमिका में उतरता है, स्वयं आनन्दित होता और दूसरों को आनन्द देता है। 'यजुर्वेद' में इस श्रेणी का नाटक खोजना व्यर्थ का परि-श्रम-मात्र है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि याज्ञिक क्रिया के अनुष्ठान में ऐसी कुछ बातें आ मिली हैं जो उन दिनों के साधारण जन-समाज में प्रचलित नाच-गान और तमाशों से ली गई होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोक-नृत्य और लोक-नाट्य उन दिनों प्रचलित अवश्य थे। 'कौशीतकी ब्राह्मण' (२४।५) में नृत्य-गीत आदि को कलाओं में गिनाया गया है। 'पारस्कर गृह्य-सूत्र' में (२-७-३) द्विजातियों को यह सब करने की मनाही है। इसलिये यह

सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों लोक में बहुत-से नृत्य, गीत, नाट्य प्रचलित थे। लोग उनकी कद्र भी करते थे, परन्तु अत्यन्त नैतिकतावादी ब्राह्मण उनसे बचने का भी प्रयत्न करते थे। वेदों का वातावरण पवित्रता का वातावरण है, और ब्राह्मण-विश्वास के अनुसार ऐसा कोई काम द्विजों को नहीं करना चाहिए जिससे चरित्रगत पतन की सम्भावना हो। इसलिये यद्यपि नृत्य, नाट्य आदि की मनोरञ्जकता उन्होंने अस्वीकार नहीं की, किन्तु उन्हें भले आदमियों के योग्य भी नहीं माना। जो हो, शास्त्र में यह बताया गया है कि नाटकों में जो अभिनय-तत्त्व हैं वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। इस वक्तव्य को समझने के लिये जिस प्रकार यह आवश्यक है कि हम समझें कि यजुर्वेद क्या है, उसी प्रकार हम यह भी समझें कि नाट्यशास्त्र ने 'अभिनय' किस वस्तु को कहा है।

'नाट्यशास्त्र' में अभिनय शब्द बहुत व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। इसमें नाटक के प्रायः सभी तत्त्व आ जाते हैं। वेश-विन्यास भी इससे अलग वस्तु नहीं और रंगमंच की सजावट भी उसके अन्तर्गत आ जाती है। वस्तुतः पाठ्यगान और रस के अतिरिक्त जो-कुछ भी नाटक में किया जा सकता है वह सब अभिनय के अन्तर्गत आता है और पाठ्यगान और रस के भी सभी आश्रय और उपादान अभिनय के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिये नाट्यशास्त्रीय परंपरा में जब अभिनय शब्द का व्यवहार होता है तो वस्तुतः कुछ भी छूटता नहीं।

कुछ लोगों ने 'नाट्यशास्त्र' के 'अभिनय' शब्द का अर्थ 'इमिटेशन' (अनुकरण) और 'जेश्चर' (भाव-भंगी) किया है, जो ठीक नहीं है। यह समझना भूल है कि अभिनय में केवल अंगों की विशेष प्रकार की भंगिमाएँ ही प्रधान स्थान प्राप्त करती हैं। अभिनय के चारों अंगों—अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—पर समान भाव से ज़ोर दिया गया है। आंगिक अर्थात् देह-सम्बन्धी अभिनय उन दिनों चरम उत्कर्ष पर था। इसमें देह, मुख और चेष्टा के अभिनय शामिल थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर इन अंगों के सैकड़ों प्रकार को अभिनय 'नाट्यशास्त्र' में और 'अभिनय दर्पण' आदि ग्रंथों में गिनाए गए हैं। 'नाट्य शास्त्र' में बताया गया है कि किस अंग या उपांग के अभिनय का क्या विनियोग है, अर्थात् वह किस अवसर पर अभिनीत हो सकता है। फिर नाना प्रकार की घूमकर नाचने-गाने वाली भंगिमाओं का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् वचन-सम्बन्धी अभिनय को भी उपेक्षणीय नहीं समझा जाता था। 'नाट्यशास्त्र' (१५-२) में कहा गया है कि वचन का अभिनय बड़ी सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि यह नाट्य का

शरीर है, शरीर और पोशाक के अभिनय वाक्यार्थ को ही व्यञ्जित करते हैं। उपयुक्त स्थलों पर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना, नाम-आख्यात-निपात-उपसर्ग-समास-तद्धित, विभक्ति-सन्धि आदि को ठीक-ठीक प्रकट करना, छन्दों का उचित ढंग से प्रयोग करना, शब्दों के प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन का उपयुक्त रीति से उच्चारण करना, इत्यादि बातें अभिनय का प्रधान अंग मानी जाती थीं। परन्तु यही सब-कुछ नहीं था। केवल शारीरिक और वाचिक अभिनय भी अपूर्ण माने जाते थे। आहार्य और वस्त्रालङ्कारों की उपयुक्त रचना भी अभिनय का अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकार की होती थी—पुस्त, अलङ्कार, अङ्ग-रचना और संगीत। नाटक के स्टेज को आज के समान 'रियलिस्टिक' बनाने का ऐसा पागलपन तो नहीं था, परन्तु पहाड़, रथ, विमान आदि को यथार्थ का कुछ रूप देने के लिये तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस या सरकण्डे से बने होते थे, जिन पर कपड़ा या चमड़ा चढ़ा दिया जाता था, या फिर यन्त्र आदि की सहायता से फर्जी बना लिए जाते थे, या फिर अभिनेता ऐसी 'चेष्टा' करता था जिसमें उन वस्तुओं का बोध प्रेक्षक को हो जाए (२३-५-७)। इन्हें क्रमशः सन्धिम, व्यञ्जिम और चेष्टिम पुस्त कहते थे। अलङ्कार में विविध प्रकार के माल्य, आभरण, वस्त्र आदि की गणना होती थी। अङ्ग-रचना में पुरुष और स्त्रियों के बहुविध वेष-विन्यास शामिल थे। प्राणियों के प्रवेश को संजीव कहते थे (२३-१५२), परन्तु इन तीनों प्रकार के अभिनयों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्विक था। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय में अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती थी।

'यजुर्वेद संहिता' में बताए हुए याज्ञिक विधानों में निःसन्देह अभिनय के ऊपर बताए गए अनेक तत्त्व मिल जाएँगे। इसलिये शास्त्रकार ने अभिनय को 'यजुर्वेद' से गृहीत बताया है, क्योंकि अथर्ववेद में मारण, मोहन, वशीकरण आदि अभिचार पाए जाते हैं। इसमें जिन लोगों पर ये प्रयोग किए जाते हैं उनके स्थानापन्न किसी का अवधारण होता है जो नाटक के विभावादि के समान ही हैं और साथ ही इसमें मारणादि अभिचारों के समय सिहरन, कम्पन आदि अनुभाव तथा धृति, प्रमोद आदि संचारी भाव भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार विभाव-अनुभाव-संचारी भाव का योग, जिससे रस-निष्पत्ति हुआ करती है, इसमें मिल जाता है। अभिनवगुप्त का मत है कि इसीलिये इसको अथर्ववेद से ग्रहण किया हुआ बताया गया है। 'अथर्ववेद' से रसों के ग्रहण करने का अनुमान भी उचित और संगत है।

२. विधि और शास्त्र

'नाट्य-वेद' के दो अंग हैं—विधि और शास्त्र। भरत मुनि ने प्रथम अध्याय

के १२५ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति 'यथाविधि' और 'यथाशास्त्र' पूजा करेगा वह शुभ फल प्राप्त करेगा और अन्त में स्वर्ग-लोक में जाएगा—

यथाविधि यथाशास्त्रं यस्तु पूजां करिष्यति ।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ (१-१२५)

दूसरे से पाँचवें अध्याय तक विधि पर बड़ा ज़ोर है । विधि-दृष्टकर्म (२-६९) से सभी कार्यों को करने को कहा गया है। काष्ठ-विधि (२-७९), भित्ति-कर्म-विधि (२-८३), द्वार-विधि (३-२२), मन्त्र-विधान (३-४६), आसारित विधि (४-२८२), वृत्ताभिनय-विधि (४-२९२), नृत्याभिनय-वादित सम्बन्धी वस्तुक विधि (४-२९४), ताण्डव-प्रयोग-विधि (४-३२१), गीतक-विधि (५-६०), रंग-सिद्धि के पश्चात् काव्य-निरूपण विधि (५-१४०), पूर्व-रंग विधि, (५-१७२ और १७६) इत्यादि अनेक विधियों का उल्लेख है । दर्जनों स्थानों पर विधि-लिङ् की क्रिया का प्रयोग है । मीमांसकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य केवल विधि से है । जहाँ विधि-लिङ् का प्रयोग होता है वही श्रुति होती है । नाटचशास्त्र इन विधियों पर बहुत ज़ोर देता है और स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप से निर्देश देता है कि यह विधि अवश्य करणीय है । जो इस विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से इसका प्रयोग करता है वह तिर्यग् योनि को प्राप्त होता है और विनाश (अपचय) का शिकार होता है—

यश्चेमं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ (५-१७३)

और—

यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्तोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ (३-९८)

पाँचवें अध्याय के बाद विधि शब्द कम आता है । अन्तिम अध्यायों में वह फिर बहुलता से आने लगता है । स्पष्ट ही 'नाटच-वेद' का श्रुतित्व इन विधियों में है । कई स्थानों पर 'अनेनैव विधानेन'-जैसे वाक्यांशों का प्रयोग आता है, जिसमें शास्त्रकार 'एव' पद देकर अन्य विधियों का तिरस्कार करते हैं ।

विधि के बाद जो बचता है, वह शास्त्र है । साधारणतः इसके लिए 'नाटचम्' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसमें युक्ति-तर्क और प्रयोग-पाठच का निर्देश है । छठे और सातवें अध्याय में रस और भावों को समझाया गया है । इन अध्यायों में विधि शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है । यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि विधि और शास्त्र बिलकुल अलग करके दिखाए जा सकते हैं, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि विधि साधारणतः अभिनेताओं की दृष्टि में रखकर

निर्दिष्ट हुए हैं और शास्त्र अभिनेता, सामाजिक और कवि या नाटककार सबको ध्यान में रखकर रचित हुआ है।

नाट्य-वेद में विस्तार

ब्रह्मा ने जब नाट्य-वेद की सृष्टि की तो उसमें स्वयं ही इतिहास को जोड़ दिया और इन्द्र को आज्ञा दी कि इसका प्रयोग देवताओं से कराओ, लेकिन इन्द्र ने कहा कि इसके ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति देवताओं में नहीं है। केवल मुनि लोग ही ऐसा कर सकते हैं। इन्द्र के कथन का तात्पर्य यह था कि देवता भोग-योनि है, उस योनि में क्रिया-शक्ति नहीं होती जबकि मनुष्य में ग्रहण धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि नाटक केवल अनुकरण-मात्र नहीं है, वह उससे अधिक है। उसमें मनुष्य की इच्छा, ज्ञान और कर्म-शक्ति की आवश्यकता होती है। ग्रहण की हुई वस्तु को धारण करना साधना से सम्भव होता है। देवता का शरीर और मन सिद्ध होता है, साधक नहीं। उसमें इच्छा-शक्ति का अभाव होता है, नाटक में संकल्प होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया से मनुष्य-शरीर त्रिपुटीकृत है। इसलिए इच्छा, ज्ञान और क्रिया में त्रिधा अभिव्यक्ति ग्रहण करने वाली महाशक्ति त्रिपुरा मनुष्य-पिण्ड में कुण्डलिनी-रूप में प्रकाशित होती है, किन्तु देवता में उसका अभाव है। इसीलिये नाटक, जो मनुष्य की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा का उत्तम रूप है, देवता लोगों की शक्ति का विषय नहीं है। देवता सिद्धि दे सकता है, साधना नहीं कर सकता। नाटक साधना का विषय है। मनुष्य में जो सर्जनेक्षा या नया कुछ रचने की जो आकांक्षा है, वह उसका विषय है। इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त 'नाट्य-वेद' को भरत मुनि के ज़िम्मे किया जिन्होंने अपने सौ पुत्रों को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार इतिहास 'नाट्य-वेद' में जोड़ा गया। पाठ्य, गीत, अभिनय और रस के साथ कथानक का योग हुआ। शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रथम प्रयोग इन पाँच वस्तुओं को लेकर ही हुआ। भरत मुनि ने इसमें तीन वृत्तियों का योग किया था। ये तीन वृत्तियाँ हैं, भारती, सात्वती और आरभटी। भारती वृत्ति "वाक्प्रधाना, पुरुष-प्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता, संस्कृत वाक्य युक्ता" वृत्ति है (२२-५)। इसे भरत-पुत्रों को प्रयोग करने में कठिनाई नहीं हुई; सात्वती "हर्षोत्कटा, संहृत-शोकभावा, वाग्अंगाभिनयवती, सत्वाधिकारयुक्ता" वृत्ति है (५२-३८, ३९)। इसे भी बिना कठिनाई के सम्हाल लिया गया; आरभटी कूद-फाँद, इन्द्र-जाल, आक्रमण आदि को प्रकट करने वाली वृत्ति है (२२-५७,५८), भरत-पुत्रों ने इसका प्रयोग भी आसानी से कर लिया। परन्तु चौथी वृत्ति, जो कैशिकी है, वह उनके वश की नहीं थी। इसमें सुकुमार साज-सज्जा, स्त्री-सुलभ चेष्टाएँ, कोमल शृंगारोपचार (२२-४७) की आवश्यकता थी। भरत-पुत्र इसका

प्रयोग नहीं कर सके। ब्रह्मा ने इस कमी को महसूस किया और भरत मुनि को आज्ञा दी कि कैशिकी वृत्ति को भी इसमें जोड़ो (१-४३)। भरत मुनि ने कहा कि यह वृत्ति तो पुरुषों के वश की नहीं है, इसे तो केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। ब्रह्मा ने तब अप्सराओं की सृष्टि की, इस प्रकार 'नाटच-वेद' में स्त्रियों का प्रवेश हुआ।

इन्द्र के ध्वजारोपण के अवसर पर प्रथम बार चारों वृत्तियों से संयुक्त नाटक खेला गया और प्रसन्न होकर देवताओं ने भरत मुनि को अनेक उपकरण दिए और रक्षा करने का आश्वासन भी दिया।

कथा से स्पष्ट है कि पहले नाटक में स्त्रियों का योग नहीं था। बाद में जब यह अनुभव किया गया कि नाटक की कुछ क्रियाएँ स्त्रियों के बिना असम्भव हैं तो नाटक में स्त्रियों के प्रवेश करने का विधान हुआ।

दैत्यों ने नाटक के समय उपद्रव शुरू किया। उनसे बचाव के लिये रंगपूजा की विधि का समावेश हुआ। इसकी बड़ी विस्तृत विधि 'नाटचशास्त्र' में बताई गई है। इस आडम्बरपूर्ण विधान से नाटक में यज्ञ का गौरव आ गया। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होने की सूचना देने का विधान है। फिर गायक और वादक लोग यथास्थान बैठ जाते थे; वृन्द गान आरम्भ होता था। मृदंग, वीणा, वेणु आदि वाद्यों के साथ नर्तकी का नूपुर झनकार कर उठता था और इस प्रकार नाटक के उत्थापन की विधि सम्पन्न होती थी। आधुनिक पण्डितों में इसके बारे में मतभेद है कि यह परदे के पीछे की क्रिया है या बाहर अर्थात् रंगभूमि की। मतभेद का कारण सदा ग्रीक रंगमंच की बात सोच-सोचकर भारतीय रंगमंच को समझने की अवांछित चेष्टा है। शुरू में ही अवतरण या रंगावतरण का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि यह क्रिया रंगभूमि में ही होती थी। फिर सूत्रधार का प्रवेश होता था, उसके एक ओर गडुए में पानी लिए भृङ्गारधर होता था और दूसरी ओर विघ्नों को जर्जर करने वाली पताका लिए जर्जरधर होता था। इन दो परिपार्श्वकों के साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढ़ता था। परन्तु यह बढ़ना साधारण बात न थी, उसमें विशेष गौरवपूर्ण अभिनय हुआ करता था। फिर सूत्रधार भृङ्गार से जल लेकर आचमन, प्रोक्षण आदि करके पवित्र हो लेता था। फिर एक विशेष आडम्बरपूर्ण भंगिमा के साथ विघ्न को जर्जर करने वाले जर्जर नामक ध्वज को उत्तोलित करता था और इन्द्र तथा अन्य देवताओं की स्तुति करता था। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को और वाम पैर के अभिनय से विष्णु को नमस्कार करता था। पहला पुरुष का और दूसरा स्त्री का पद माना जाता था। एक नपुंसक पद का भी विधान है, इसमें दाहिने पैर को नाभि तक उत्क्षिप्त कर लेने का इस नपुंसक पद से निर्देश है। इस नपुंसक पद से वह ब्रह्मा को नमस्कार

करता था, फिर यथाविधि वह चार प्रकार के पुष्पों से जर्जर की पूजा करता था। वह वाद्य-यन्त्रों की भी पूजा करता था और तब जाकर नान्दीपाठ होता था। सब देवताओं को वह नमस्कार करता था और उनसे कल्याण की प्रार्थना करता था। वह राजा की विजय-कामना करता था, दर्शकों में धर्म-बुद्धि होने की शुभाशंसा करता था, कवि या नाटककार के यशोवर्धन की भी वह कामना करता था। प्रत्येक शुभ कामना के बाद पारिपार्श्वक लोग 'ऐसा ही हो' (एवमस्तु) कहकर प्रतिवचन देते थे और इस प्रकार नान्दी-पाठ का आडम्बरपूर्ण कार्य सम्पन्न होता था।

इस प्रसंग में हम 'नाटचशास्त्र' में से केवल मुख्य-मुख्य क्रियाओं का संग्रह कर रहे हैं। नान्दी-पाठ तक की क्रिया बहुत विस्तृत है। इस नान्दी-पाठ को 'नाटचशास्त्र' बहुत महत्त्व देता है। अस्तु; जब नान्दी-पाठ हो जाता था तो फिर शुष्कावकृष्टा विधि के बाद सूत्रधार एक ऐसा श्लोक-पाठ करता था जिसमें अवसर के अनुकूल बातें होती थीं, अर्थात् वह या तो जिस देवता-विशेष की पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा हो उस देवता की स्तुति का श्लोक होता था, या फिर जिस राजा के उत्सव पर अभिनय हो रहा था उसकी स्तुति का। या फिर वह ब्रह्मा की स्तुति का पाठ करता था, फिर जर्जर के सम्मान के लिये भी वह एक श्लोक पढ़ता था और फिर चारी नृत्य शुरू होता था। इसकी विस्तृत व्याख्या और विधि 'नाटच शास्त्र' के बारहवें अध्याय में दी हुई है। यह चारी का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था, क्योंकि पूर्वकाल में शिव ने इस विशेष भंगी से ही पार्वती के साथ क्रीड़ा की थी। इस सविलास अंगविचेष्टता-रूप चारी के बाद महाचारी का विधान भी 'नाटचशास्त्र' में दिया हुआ है। इस समय सूत्रधार जर्जर या ध्वजा को पारिपार्श्विकी के हाथ में दे देता था। फिर भूतगण की प्रीति के लिए ताण्डव का भी विधान है। फिर विदूषक आकर कुछ ऐसी ऊल-जलूल बातें करता था जिससे सूत्रधार के चेहरे पर स्मित हास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी, जिससे नाटक के विषय-वस्तु अर्थात् किसको कौन-सी हार या जीत की कहानी अभिनीत होने वाली है, ये सब बातें बता दी जाती थीं, और तब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्र में ऊपर लिखी गई बातें विस्तारपूर्वक कही गई हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रिया को संक्षेप में भी किया जा सकता है। अगर इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करने का निर्देश देने में भी शास्त्र चूकता नहीं। ऊपर बताई गई क्रियाओं से यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएँ, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष तथा अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। नाटचशास्त्र के बाद के इसी विषय के लक्षण-ग्रन्थों

में यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही गई है। 'दशरूपक' तथा 'साहित्य-दर्पण' आदि में तो बहुत संक्षेप में इसकी चर्चा-भर कर दी गई है।[1] इस बात से यह अनुमान होता है कि वाद को इतने विस्तार और आडम्बर के साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके ज़माने में इतनी विस्तृत क्रिया नहीं होती थी। जो हो, सन् ईसवी के पहले और बहुत वाद भी इस प्रकार की विधि रही ज़रूर है।

यहाँ तक 'नाटच-वेद' सीधा-सादा ही था। 'नाटचशास्त्र' के चौथे अध्याय में इसमें एक और क्रिया के जोड़ने की कथा है। वेदों से गृहीत पाठच, गीत, अभिनय और रस वाले 'नाटच-वेद' में ब्रह्मा ने पहली बार इतिहास जोड़ा, दूसरी

---

१. उदाहरण के लिए दशरूपक को लिया जा सकता है। वहाँ पूर्वरंग का तो नाममात्र से उल्लेख है। पूर्वरंग का विधान करके जब सूत्रधार चला जाता है तो उसी के समान वेश वाला नट (स्थापक) काव्यार्थ की स्थापना करता है। उसकी वेश-भूषा कथावस्तु के अनुरूप होती है, अर्थात् यदि कथावस्तु दिव्य हुई तो वेश भी दिव्य और मर्त्य-लोक की हुई तो वेश-भूषा भी तदनुरूप। सर्वप्रथम उसे काव्यार्थ-सूचक मधुर श्लोकों से रंग-स्थल के सामाजिकों की स्तुति करनी चाहिए। फिर उसे किसी ऋतु के वर्णन द्वारा भारती वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। भासंरती वृत्ति स्कृत-बहुल वाग्व्यापार है। इसके चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख या प्रस्तावना। वीथी और प्रहसन तो रूपकों के भेद हैं। वैसे, वीथी में बताये हुए सभी अंग आमुख में भी उपयोगी हैं। प्ररोचना, नाटक में खेले जानेवाले अर्थ की प्रशंसा है, उसका उद्देश्य होता है सामाजिकों को नाटकीय कथावस्तु कीओर उन्मुख करना। आमुख या प्रस्तावना में सूत्रधार (या स्थापक) नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक से ऐसी विचित्र उक्तियों में वात करता है जिससे नाटक का प्रस्तुत विषय अनायास खिंच आता है। तीन प्रकार से यह वात होती है। सूत्रधार या स्थापक कोई ऐसी बात कह देता है जिसका साम्य नाटक की प्रस्तावित वस्तु से होता है कि कोई पात्र उसी वाक्य को कहता हुआ रंगमंच पर आ जाता है (कथोद्घात); या वह ऋतु-वर्णन के वहाने श्लेष से ऐसा कुछ कहता है जिससे पात्र के आगमन की सूचना मिल जाती है (प्रवृत्तक); या वह कहता है—'यह देखो वह आ गया', और पात्र मंच पर आ जाता है (प्रयोगातिशय)। फिर वह वीथी के बताए हुए तेरह अंगों का भी सहारा लेता है। ये तेरह अंग विशेष प्रकार की उक्तियाँ हैं। ये हैं—(१) उद्घातक (गूढ़ प्रश्नोत्तर), (२) अवलगित (एक-दूसरे से सटे हुए कार्यों के सूचक वाक्य), (३) प्रपंच (हँसाने वाली पारस्परिक मिथ्या स्तुति), (४) त्रिगत (शब्द साम्य से अनेक अर्थों की योजना), (५) छलन (चिकनी-चुपड़ी से बहकाना), (६) वाक्केली (आधा कहकर बाकी को भाँप लेने योग्य छोड़ देना), (७) अधिबल (बढ़-बढ़कर बातें करना), (८) गण्ड (सम्बद्ध से भिन्न का उपस्थित हो जाना), (९) अवस्कन्दित (सरल बात कहकर मुकरने का प्रयत्न), (१०) नालिका (गूढ़ वचन), (११) असत्प्रलाप (ऊटपटाँग, ढकोसला), (१२) व्याहार (हँसाने के लिए कुछ-का-कुछ कह देना) और (१३) मृदव (दोष को गुण और गुण को दोष बता देना)।

बार कैशिकी वृत्ति के साथ स्त्रियों का प्रवेश हुआ और तीसरी बार दैत्यजनित बाधा को दूर करने के उद्देश्य से रंग-पूजा की विधि जोड़ी गई। अब इतना हो जाने के बाद भरत ने 'अमृत-मन्थन' का नाटक खेला। 'नाटचशास्त्र' की कुछ प्रतियों में इसे 'समवकार' कहा गया है, कुछ में नहीं कहा गया है। ब्रह्मा ने फिर इस नाटच-प्रयोग को शिवजी को दिखाने के लिए कहा। शिवजी ने देखा और प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्रह्मा से कहा कि तुमने जो इस नाटच की सृष्टि की है वह यशस्य है, शुभ है, पुण्य है और बुद्धि-विवर्धक भी है। परन्तु मैंने सन्ध्या-काल में नृत्य करते समय 'नृत्त' को स्मरण किया है, जो अनेक करणों से संयुक्त है और अंगहारों से विभूषित है। पूर्वरंग की तुम्हारी विधि 'शुद्ध' है, इसमें इस नृत्त को जोड़ दोगे तो वह 'चित्र' हो जाएगा, अर्थात् उसमें वैचित्र्य आ जाएगा। फिर शिव ने करणों और अंगहारों की विधि बताई और ब्रह्मा ने ने ताण्डव-नृत्य का भी नाटच में समावेश किया। यह चौथा संस्कार था। भारतीय परंपरा के अनुसार इन चार कक्षाओं का अतिक्रमण करने के बाद 'नाटच-शास्त्र' पूर्णाङ्ग हुआ। इसे ऐतिहासिक विकास कहा जा सकता है।

४. नाटचशास्त्र किसके लिए ?

भारतीय 'नाटचशास्त्र' तीन प्रकार के लोगों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। 'दशरूपक' आदि परवर्ती ग्रंथों की तरह वह केवल नाटक लिखने वाले कवियों के लिये मार्गदर्शक ग्रन्थ-मात्र नहीं है। सच पूछा जाए तो वह अभिनेताओं के लिये ही अधिक है, नाटककारों और नाटक समझने वाले सहृदयों के लिये कम। जब तक 'नाटचशास्त्र' के इस रूप को नहीं समझा जाएगा, तब तक इस विशाल ग्रन्थ के महत्त्व का अनुभव नहीं किया जा सकेगा। सबसे पहले 'नाटच-शास्त्र' नाटक के अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया। इस ग्रन्थ में करण, अंगहार, चारी आदि की विधियाँ, जो विस्तारपूर्वक समझाई गई हैं, नृत्य, गीत और वेश-भूषा का जो विस्तृत विवेचन है, वह भी अभिनेताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। रंगमंच का विधान अभिनेताओं की सुविधा को ही दृष्टि में रखकर किया जाता था। साधारणतः रंगमंच या प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देवताओं के प्रेक्षागृह कहलाते थे और १०८ हाथ लम्बे होते थे; दूसरे राजाओं के प्रेक्षागृह होते थे, जो ६४ हाथ लम्बे और इतने ही चौड़े होते थे; तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होते थे और उनकी तीनों भुजाओं की लम्बाई ३२ हाथ होती थी। सम्भवतः दूसरी श्रेणी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजभवनों में और बड़े-बड़े समृद्धिशाली भवनों में ऐसे प्रेक्षागृह स्थाई हुआ करते थे। 'प्रतिमा' नाटक के आरम्भ में ही राजभवन में नेपथ्यशाला की बात आई है। राजा राम-

चन्द्र के अन्तःपुर में एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी हुई थी। साधारण नागरिक विवाह तथा अन्य उत्सवों के समय अस्थायी रूप से छोटी-छोटी प्रेक्षण-शालाएँ, जो तीसरी श्रेणी की हुआ करती थी, बनवा लिया करते थे। प्रेक्षण-शालाओं का निर्माण अभिनेता की सुविधा के लिए हुआ करता था। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रंगभूमि में अभिनय करनेवालों की आवाज़ अन्तिम किनारों तक अनायास पहुँच सके और सहृदय-दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव-भंगिमा को आसानी से देख सकें।

अभिनव भारती से पता चला है कि नाटयशास्त्र के पूर्ववर्ती टीकाकार ऐसा ही मानते थे कि यह शास्त्र-अभिनेता, कवि और सामाजिक को शिक्षा देने के लिए लिखा गया है पर स्वयं अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि नाटयशास्त्र केवल कवियों और अभिनेताओं को शिक्षित करने के उद्देश्य से ही बना था। उनका मत आरम्भ के पाँच प्रश्नों के विश्लेषण पर आधारित है। लेकिन पूरे नाटयशास्त्र को पढ़ने पर पूर्ववर्ती टीकाकारों की बात ही मान्य जान पड़ती है।

'नाटयशास्त्र' रंगमंच के निर्माण को बहुत महत्त्व देता है। भूमि-निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कील, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ़ किया जाता था, उसे सम और पटसर बनाया जाता था और तब प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। 'नाटयशास्त्र' को देखने से पता चलता है कि प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगल-जनक समझा जाता था। सूत्र ऐसा बनाया जाता था, जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था या बेर की छाल से बनता था या मूँज से बनता था और किसी वृक्ष की छाल की मज़बूत रस्सी भी काम में लाई जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाए तो स्वामी को मृत्यु होती है, तिहाई से टूट जाए तो राज-कोप की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है, हाथ-भर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। इस प्रकार सूत्र-धारण का काम बहुत ही महत्त्व का कार्य समझा जाता था। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई कषाय वस्त्रधारी, हीन वपु, वा विकलांग पुरुष मण्डप-स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे। खम्भा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया, खिसक

गया, या काँप गया तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना मानी जाती थी। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में भावाजोखी का डर लगा रहता था। पद-पद पर पूजा, प्रायश्चित्त और ब्राह्मण-भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति-कर्म, माप-जोख, चूना पोतना, चित्र-कर्म, खम्भा गाड़ना, भूमि-शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है? उसकी ज़रा-सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती है। नाटक की सफलता का दारमदार सूत्रधार पर रहता है।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालाएँ बना ली जाती थीं। इन शालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकों का स्थान, जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता था, उसे रंगभूमि (या संक्षेप में 'रंग') कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करणी या परदा लगा दिया जाता था। परदे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से सज-धजकर अभिनेतागण रंग-भूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि + पथ् + य) में 'नि' उपसर्ग को देखकर कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि नेपथ्य का धरातल रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि में उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रिया के लिये 'रंगावतार' (रंगभूमि में उतरना) शब्द ही व्यवहृत हुआ है।

५. नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढ़ियाँ

'नाट्यशास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल ग्रन्थ है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बहुत दीर्घकाल से प्रचलित अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ इसमें संगृहीत हुई हैं। इसीलिये 'नाट्यशास्त्र' का जो लक्ष्यीभूत श्रोता है उसे लोक और शास्त्र का बहुत अच्छा ज्ञाता होना चाहिए। उसे बहुत-से इंगितों का इतना सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए कि वह अभिनेता की एक-एक अंगुली के घुमाव का संकेत ग्रहण कर सके। उसे 'रसशास्त्र' के नियमों का बहुत अच्छा ज्ञान होना चाहिए। अभिनेताओं को विविध प्रकार के अभिनय समझाने के बहाने 'नाट्य-शास्त्र' का रचयिता अपने लक्ष्यीभूत श्रोताओं को कितनी ही बातें बता जाता है। पन्द्रहवें अध्याय में दो रूढ़ियों की चर्चा है— एक नाट्यधर्मी, दूसरी लोकधर्मी या लौकिकी (१५-६९)। लोकधर्मी, लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण है। इसमें विभिन्न भावों का संकेत करने वाली

आंगिक अभिनय-भंगिमाओं का समावेश नहीं किया जाता (अंगलीला विवर्जितम्)। परन्तु अत्यन्त सांकेतिक वाक्य और क्रियाएँ, लीलांगहार, नाट्योक्त रूढ़ियाँ—जैसे जनान्तिक, स्वगत, आकाशभाषित आदि; शैल, यान, विमान, ढाल, तलवार आदि के संकेत देने वाली रूढ़ियाँ—तथा अमूर्त भावों का संकेत करने वाले अभिनय नाट्यधर्मी हैं। लोक का जो सुख-दुःख-क्रियात्मक आंगिक अभिनय है वह भी नाट्यधर्मी है। संक्षेप में रंगमंच पर किए जानेवाले वे संकेत-मूलक आंगिक अभिनय नाट्यधर्मी हैं जो सीधे अनुकरण के विषय नहीं हैं।

संस्कृत-नाटकों में 'अभिरूपभूयिष्ठा' और 'गुणग्राहिणी' कहकर दर्शक-मण्डली का जो परिचय दिया गया है वह दर्शकों में इन्हीं नाट्यधर्मी गूढ़ अभिप्रायों को समझने की योग्यता को लक्ष्य करके। ये दर्शक शिक्षित होते थे तब तो निस्सन्देह अभिनय की सभी बारीकियों को समझ सकते थे। परन्तु जो पढ़े-लिखे नहीं होते थे वे भी इन रूढ़ियों को आसानी से समझ लेते थे। भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि ऊँची-से-ऊँची चिन्तन-धारा अपने सहज रूप में सामाजिक जीवन में बद्धमूल हो जाया करती थी। शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली तो सीमित क्षेत्रों में ही प्रचलित होती थी, किन्तु मूल सिद्धान्त साधारण जनता में भी ज्ञात होते थे। यही कारण है कि भारतवर्ष में निरक्षर व्यक्ति भी ऊँचे तत्त्व-ज्ञान की बात आसानी से समझ लेता था। मध्यकाल के निरक्षर सन्तों ने तत्त्व-ज्ञान की जो बातें कही हैं उन्हें देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति भी चकित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई थी उन दिनों नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ साधारण दर्शकों को भी ज्ञात थीं। आजकल जिसे 'क्रिटिकल आडिएंस' कहते हैं वही 'नाट्य-शास्त्र' का लक्ष्यीभूत श्रोता है। २७वें अध्याय में 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाटक का लक्ष्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए; जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर उल्लसित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्यभाव के प्रदर्शन के समय दीनत्व का अनुभव कर सके, उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे देश-भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और शिल्प का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्द-शास्त्र और छन्द-शास्त्र के विधानों से परिचित होना चाहिए, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। 'नाट्य-शास्त्र' यह मानता है कि सबमें सभी गुण हों, यह सम्भव नहीं है। वयस्, सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कम-बेशी होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें अधिक-से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। जवान आदमी शृंगार-

रस की बातें देखना चाहता है, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणों का अभिनय देखने में रस पाते हैं। 'नाट्यशास्त्र' इस रुचि-भेद को स्वीकार करता है। फिर भी वह आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रसग्राही बना सकेगा।

६. नाट्य-प्रयोग का प्रमाण लोक-जीवन है

यद्यपि नाट्यशास्त्र नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह-ग्रन्थ है, तो भी वह मानता है कि नाटक की वास्तविकता प्रेरणा-भूमि और वास्तविक कसौटी भी लोक-चित्त ही है। परवर्ती-काल के अलंकार-शास्त्रियों ने इस तथ्य को भुला दिया। परन्तु भरत मुनि ने इस तथ्य पर बड़ा ज़ोर दिया। छब्बीसवें अध्याय में उन्होंने विस्तारपूर्वक अभिनय-विधियों का निर्देश किया है ! परन्तु साथ ही यह भी बता दिया गया है कि दुनिया यहीं नहीं समाप्त हो जाती। इस स्थावर जंगम चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता है। लोक में न जाने कितनी प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से उत्पन्न हो तो भी वह तभी सिद्ध होता है जब वह लोक-सिद्ध हो; क्योंकि नाट्य लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसीलिये नाट्य-प्रयोग में लोक ही सबसे बड़ा प्रमाण है :

> वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दः समन्वितम्।
> लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
> तस्मात् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते। (२६-११३)

उन्होंने यहाँ तक कहा है कि जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प और जो क्रियाएँ लोकधर्मप्रवृत्त हैं, वे ही नाट्य कही जाती है :

> **यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानी याः क्रियाः**
> **लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥**

इसलिए लोक-प्रवृत्ति नाटक की सफलता की मुख्य कसौटी है। फिर भी अभिनेता को उन बारीक विधियों का ज्ञान होना चाहिए जिनके द्वारा वह सहृदय श्रोता के चित्त में आसानी से विभिन्न शीलों और प्रकृति की अनुभूति करा सके। इसलिये जहाँ तक अभिनेता का प्रश्न है उसे 'प्रयोगज्ञ' अवश्य होना चाहिए। वाचिक, नेपथ्य-सम्बन्धी और आंगिक जितने भी अभिनय शास्त्र में बताए गए हैं वे अभिनेता को प्रयोगज्ञ बनाने की दृष्टि से। क्योंकि जो अच्छा प्रयोग नहीं जानता वह सिद्धि भी नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रकार ने कहा है।

> **गेयास्त्वभिनयाह्येते वाङ्नेपथ्यांगसंश्रयाः।**
> **प्रयोगे येन कर्त्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ॥** (२६-१२२)

कभी-कभी अभिनेताओं में अपने-अपने अभिनय-कौशल की उत्कृष्टता के सम्वन्ध में कलह उपस्थित हो जाता था। साधारणतः ये विवाद दो श्रेणियों के होते थे—शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय विवाद का एक सरल उदाहरण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में है। इसमें रस भाव, अभिनय, भंगिमा, मुद्राएँ आदि विचारणीय होती थी। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमें लोक-जीवन की चेष्टाओं के उपस्थान पर मतभेद हुआ करता था। ऐसे अवसरों पर 'नाटच-शास्त्र' प्राश्निक (असेसर) नियुक्त करने का विधान करता है। प्राश्निक के लक्षण 'नाटचशास्त्र' में दिए हुए हैं। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता था तो यज्ञविद् कर्मकाण्डी निर्णायक (प्राश्निक) नियुक्त होता था। यदि नाच की भंगिमा में विवाद हुआ तो नर्त्तक निर्णायक होता था। इसी प्रकार छन्द के मामले में छन्दोविद्, पाठ-विस्तार के मामले में वैयाकरण, राजकीय आचरण के विषय में हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। राजकीय विभव या राजकीय अन्तःपुर का आचरण या नाटकीय सौष्ठव का मामला होता था तो राजकीय दरवार के अच्छे वक्ता बुलाए जाते थे। प्रणाम की भंगिमा, आकृति और उसकी चेष्टाएँ, वस्त्र और आचरण का योजना तथा नेपथ्य-रचना के प्रसंग में चित्रकारों को निर्णायक बनाया जाता था, और स्त्री-पुरुष के परस्पर-आकर्षण वाले मामलों में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। मृत्यु के आचरण के विषय में विवाद उपस्थित हुआ तो राजा के भृत्य प्राश्निक होते थे (२९-६३-६७)। अवश्य ही जव शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्र के जानकारों की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार 'नाटचशास्त्र' ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि लोकधर्मी विधियों की कसौटी लोक-जीवन ही है।

७. शास्त्र के विभिन्न अंग

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि नाटच-वेद में दो वस्तुएँ हैं—विधि और शास्त्र। पाँचवें अध्याय तक पूर्वरंग की विधि विस्तारपूर्वक बतायी गई है। छठे अध्याय में पूर्वरंग विधि के सुन लेने के बाद मुनियों के पाँच प्रश्नों का उल्लेख है।

१. रस क्या है, और सत्त्व का करण क्या है ?

२. भाव क्या हैं और वे किस वस्तु को भावित करते हैं ?

३. संग्रह किसे कहते हैं ?

४. कारिका क्या है ?

५. निरुक्ति किसे कहते हैं ?

भरत मुनि ने उत्तर में बताया, चूँकि ज्ञान और शिल्प अनन्त हैं इसलिए नाटच का कोई अन्त नहीं है। लेकिन संक्षेप में सूत्ररूप में नाटच का रसभावादि संग्रह मैं आप लोगों को बताऊँगा। उन्होंने बताया कि सूत्र और भाष्य में जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहे गए हैं उनका संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहलाता है और

सम्पूर्ण नाटच-शास्त्र का संग्रह उन्होंने एक श्लोक में बताया । वह श्लोक है :

रसाभावाह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंग च संग्रह ॥

अर्थात् नाटच-शास्त्र के संक्षेप में इतने अंग हैं :

१. रस; २. भाव; ३. अभिनय; ४. धर्मी; ५ वृत्ति; ६. प्रवृत्ति; ७. सिद्धि; ८. स्वर; ९. आतोद्य; १०. गान और ११. रंग ।

इस संग्रहश्लोक में भरत मुनि ने नाटच-शास्त्र के ११ अंगों का निर्देश किया है । प्रारम्भ में इनका संक्षेप में विवरण दिया है और बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या की है । वस्तुतः इन ११ विषयों का विवेचन ही शास्त्र है । स्पष्ट जान पड़ता है कि इन श्लोकों के लिखे जाने के पूर्व इन विषयों पर सूत्र, कारिका और भाष्य लिखे जा चुके थे और इन शब्दों की निरुक्ति भी बताई जा चुकी थी । छठे, सातवें और आठवें अध्याय में सूत्र भी हैं और कारिकाएँ भी हैं, प्रत्येक शब्द की निरुक्ति भी बतायी गई है । गद्य में इन विषयों की जो व्याख्या की गई है वह बहुत-कुछ भाष्य की शैली पर है । कई श्लोकों को आनुवंश्य कहा गया है । आनुवंश्य अर्थात् वंश-परम्परा से प्राप्त । स्पष्ट ही नाटच-शास्त्र अपने पूर्व के एक विशाल नाटच-साहित्य की स्थिति की सूचना देता है । विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के पहले शास्त्रकार ने संक्षेप में इनकी चर्चा कर दी है । उन्होंने बताया है कि शृङ्गार, हास्य आदि आठ रस हैं, रति-हास आदि आठ स्थायी भाव हैं, इनके अतिरिक्त स्वेद, स्तम्भ आदि आठ सात्त्विक भाव हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर भावों की संख्या ४९ है । काव्य-रसिकों के निकट ये भाव काफ़ी परिचित हैं, अतएव हम उनका नाम नहीं गिना रहे हैं । आगे बताया गया है कि अभिनय चार प्रकार के होते हैं—१. आंगिक, २. वाचिक, ३. आहार्य, और ४. सात्विक; धर्मी दो हैं—१. लोकधर्मी, २. नाट्म-धर्मी; जिन वृत्तियों में नाट्य प्रतिष्ठित होता है वे चार हैं—भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी; प्रवृत्तियाँ पाँच हैं—अवन्ती, दाक्षिणात्या, मागधी, पाँचाली और मध्यमा;— सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं—दैविकी और मानुषी; षड्ज प्रभृति सात स्वर हैं जो मुख और वेणु दोनों ही से निकलते हैं; आतोद्य चार प्रकार के हैं—तत, अवनद्ध, घन और सुषिर । इनमें तार वाले बाजे तत हैं, मृदंगादि अवनद्ध हैं, ताल देने वाले घन हैं और वंशी सुषिर (छिद्रयुक्त) हैं । गान पाँच प्रकार के होते हैं— प्रवेश, आक्षेप, निष्काष्य, प्रासारिक और ध्रुवावेग । रंगमंच तीन प्रकार होते हैं- चतुरस्र, विकृष्ट और मिश्र । संक्षेप में यही शास्त्र के विषय हैं—

'एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो व्यादिश्ये नाटचसंग्रहः ।'

इन्हीं ११ विषयों के विस्तृत विवेचन को नाट्य-वेद का शास्त्र-अंग कहा गया

है। यह विधि से भिन्न है। इनके अनेक भेदोंपभेदों का ज्ञान कराया गया है और युक्तिपूर्वक बताया गया है कि इनका प्रयोग कब, क्यों और कैसे किया जाना चाहिए ! विधि अवश्य करणीय है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और ऊहापोह से युक्त है। उसमें शंका और समाधान के लिये स्थान है और बौद्धिक विवेचन की गुन्जाइश है।

८. वर्तमान नाटचशास्त्र

नाट्य-शास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'हाल' ने सन् १८६५ में अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट में नाट्य-शास्त्र के १८वें, २०वें और ३४वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी० रेगनाड ने भी नाटचशास्त्र के १४वें और १५वें अध्याय और सन् १८८४ में 'रेटोरिके संस्कृते' में ६वें और ७वें अध्याय का प्रकाशन कराया। 'निर्णयसागर' प्रेस से काव्यमाला सीरीज़ में पूरा नाट्य-शास्त्र प्रकाशित हुआ और फिर उसके कुछ दिन बाद १९३९ में काशी में पं० बटुकनाथ शर्मा और पं० बलदेव उपाध्याय ने काशी संस्कृत सीरीज़' (जो प्रायः चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्य-शास्त्र का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। सन् १९२६ में श्री रामकृष्ण कवि ने अभिनवगुप्त की महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनव-भारती' के साथ नाट्य-शास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का सम्पादन करके 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़' में प्रकाशित कराया। ८वें से १८वें तक के अध्यायों की दूसरी जिल्द सन् १९३४ में प्रकाशित हुई और तीसरी जिल्द भी अब प्रकाशित हो गई है। श्री कवि ने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका में दिया है। उस भूमिका में और महामहोपाध्याय पं० सी० वी० काने ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोयटिक्स' में विस्तारपूर्वक इन संस्करणों में पाए जाने वाले विभिन्न रूपों और पाठ-भेदों की चर्चा की है। उससे लगता है कि नाट्य-शास्त्र के पाए जाने वाले विभिन्न रूपों में बहुत अन्तर है।

वर्तमान नाटचशास्त्र से यह स्पष्ट है कि नाटचशास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है : ६ठे, ७वें तथा अन्य अध्यायों में भी लम्बे-लम्बे गद्यांश आए हैं, जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली में लिखे गए हैं। कम-से-कम १५ श्लोक और १६ आर्याएँ आनुवंश्य अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त बतायी गई हैं। कुछ सूत्रानुबद्ध आर्याएँ हैं, जो श्लोकरूप में लिखे हुए सूत्रों की व्याख्या हैं। इन्हें सूत्रानुबद्ध या सूत्रनुविद्ध आर्या कहा गया है। लगभग सौ पद्य ऐसे हैं जिन्हें 'अत्र श्लोकाः' या 'आत्रार्या' कहकर उद्धृत किया गया है और जिनके बारे में अभिनव गुप्त ने कहा है कि ये प्राचीन आचार्यों के कहे हुए श्लोक हैं।[1] इससे सहज ही अनु-

१. 'अभिनव भारती', ज़िल्द १, ६, पृ० २६६।

मान किया जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में पूर्व-परम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्य-शास्त्र में कुछ अंश निश्चय ही बहुत पुराना है। उपलब्ध नाट्य-शास्त्र का लेखक स्वीकार करता है कि वह परम्परागत सूत्रों का हवाला दे रहा है, जबकि आरम्भिक अध्यायों में यह भी कहता है कि यह सबसे पहला प्रयास है। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में कृशाश्व और शिलालि नाम के दो सूत्र-कर्ताओं का उल्लेख किया है। यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में मानो प्रयत्नपूर्वक इन दो आचार्यों का नाम छोड़ दिया गया है। सम्भवतः वर्तमान रूप के लेखक या सम्पादक को इस शास्त्र की सर्वप्रथमता सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक लगा हो (भाव-प्रकाशन में वासुकि नाम के एक प्राचीन आचार्य का यह मत उद्धृत किया गया है कि इन्होंने भी भावों से उसका उत्पन्न (रस,सम्भवः) होना बताया है और प्रमाण-स्वरूप नाट्य-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत किया है,[1] जो वर्तमान नाट्य-शास्त्र में 'भवन्ति चात्रश्लोकाः' कहकर उद्धृत किया है। अनुमान किया जा सकता है कि किसी वासुकि नाम के आचार्य की किसी कृति से वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक परिचित अवश्य था, परन्तु उनका नाम देना किसी कारणवश उचित नहीं समझा। पाणिनि ने जिन दो आचार्यों का उल्लेख किया है उनकी कुछ बातें भी इन परम्परा-प्राप्त कारिकाओं या सूत्रों में आई हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। नन्दिकेश्वर, तण्डु (यह भी अभिनव गुप्त के मत से नन्दिकेश्वर का ही दूसरा नाम है), कोहल आदि आचार्यों का नाम लेकर उल्लेख है और 'गन्धर्ववेद' नामक शास्त्र की भी चर्चा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक ऐसे लोगों का नामतः उल्लेख करने में नहीं हिचकता, जिनकी प्रसिद्धि देवकोटि के लेखकों में है, परन्तु मनुष्य-कोटि के लेखकों का वह जान-बूझकर नाम नहीं लेना चाहता। उद्देश्य है, शास्त्र की सर्वप्रथमता खण्डित न होने देना। कोहल को मनुष्य-कोटि का आचार्य माना गया है, इसलिए भविष्यवाणी के रूप में[2] इनका उल्लेख किया गया है और प्रथम अध्याय में इन्हें भरत के पुत्रों में गिनाया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि नाट्य-शास्त्र का कुछ अंश काफ़ी पुराना है। महामहोपाध्याय डॉ० पी० वी० काने का अनुमान है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का छठा और सातवाँ अध्याय (रसभाव-विवेचन), ८वें से १४वे तक के अध्याय (जिनमें अभिनय का सविस्तार विवेचन है) तथा १७वें से ३५वें तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित हुए थे। छठे और सातवें अध्याय के गद्य-अंश

१. भा० प्र०, पृ० ३६-३७।

२. पृ० ३६-६५।

और आर्याएँ सन् ईसवी के दो सौ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थीं। वर्तमान नाट्य-शास्त्र को जब अन्तिम रूप दिया गया तब ये जोड़ी गईं[1]। आगे चलकर उन्होंने बताया है कि सन् ईसवी की तीसरी या चौथी शताब्दी में नाट्य-शास्त्र को नये सिरे से सजाया गया और उसमें सूत्रभाष्य शैली के गद्य, पुरानी आर्याएँ तथा श्लोक और जोड़े गए और नवीन रूप देने वाले सम्पादक ने भी कुछ व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ीं[2] डॉ० काने ने इसके पक्ष में अनेक प्रमाण दिए हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

ऊपर को विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-शास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परंपरा-प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परवर्ती भी है। इसका अन्तिम सम्पादन कब हुआ था यह कहना कठिन ही है, परन्तु सन् ईस्वी की तीसरी शताब्दी तक उसने यह रूप अवश्य ही ले लिया होगा, क्योंकि कालिदास-जैसे नाटककार को इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। इस बात के लिये विद्वानों ने प्रमाण दिए हैं।

९. नाट्यशास्त्र के लक्ष्यीभूत पाठक

वर्तमान नाट्य-शास्त्र मूलतः तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। प्रथम (१) और मुख्य लक्ष्य तो अभिनेताओं को शिक्षा देने का है। इन लोगों को नाट्य-शास्त्र भरत-पुत्र कहता है। नाट्य-शास्त्र का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि से ऊँची मान्यता प्राप्त हो। दूसरे (२) लक्ष्यीभूत श्रोता, प्रेक्षक या सामाजिक हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र प्रेक्षकों में अनेक ग्रंथों की आशा रहता है। संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए, इस विषय में नाट्य-शास्त्र ने स्पष्ट रूप में कहा है (२७-५१ और आगे) कि उसकी सभी इन्द्रिय दुरुस्त होनी चाहिएँ; ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल आडिएंस कहते हैं, वैसा होना चाहिए), दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके, अर्थात् जो संवेदनशील न हो उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक या दर्शक का पद नहीं देना चाहता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाट्य-शास्त्र अनेक प्रकार की नाट्य-रूढ़ियों का विवेचन करता है और ऐसे इंगित बनाता है जिसके दर्शक रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के आकार, इंगित चेष्टा और भाषा द्वारा बहुत-कुछ अनायास ही समझ लें। नाट्य-शास्त्र में ऐसी नाट्य-रूढ़ियों का विस्तारपूर्वक संग्रह किया गया है जो दर्शक को रसानुभूति में सहायता

---

१. पृ० १८।

२. पृ० २२।

पहुँचा सकती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, अभिनव गुप्त सामाजिक को नाट्य-शिक्षा का उपयुक्त पात्र नहीं मानते। पर यह बात संगत नहीं जान पड़ती। तीसरा (३) लक्ष्यीभूत श्रोता कवि या नाटककार हैं। शास्त्रकार नाटकों के निबन्धन की विधियाँ बताता है। ओर कथा के विभिन्न अवयवों और अभिनय की विभिन्न चेष्टाओं के संयोग से चरित्र और धटना-प्रवाह के परस्पर आघात-प्रत्याघात द्वारा विकसित होने वाले नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्म कौशलों का परिचय कराता है! वह आशा करता है कि कवि या नाटककार इन सूक्ष्म कौशलों का अच्छा जानकार होगा और कथा का ऐसा निबन्धन करेगा कि कुशल अभिनेता और सहृदय पाठक प्रेक्षक दोनों को रस ग्रहण करने में आसाना होगी। परवर्ती-काल में नाट्य-शास्त्र बताए हुए विस्तृत नियमों का संक्षेपीकरण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही ध्यान में रखकर छोटे-छोटे ग्रंथों की रचना की गई है। 'दश-रूपक' ऐसा ही ग्रंथ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य,निबन्धन की विधि बताना है। अभिनेता उसकी दृष्टि में बहुत कम है और सहृदय प्रेक्षक बहुत गौण रूप से हैं। आगे इसी संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति पर विचार किया जाएगा।

१०. परवर्ती नाट्य-ग्रन्थ

कई परवर्ती आचार्यों ने नाट्य-शास्त्र की टीका या भाष्य लिखे थे। इनमें अभिनवगुप्त की 'अभिनव-भारती' प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ अब प्रकाशित हो चुका है। कीर्तिधर, नाम्यदेव, उद्भव, शंकुक आदि की टीकाओं की चर्चा तो मिल जाती हैं, पर वे अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।

नाट्य-शास्त्र (चौखम्बा संस्करण के बीसवें अध्याय में दशरूप-विधान इक्कीसवें में सन्धियाँ और उनके अंगों तथा बाईसवें अध्याय में वृत्तियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इन अध्यायों से सामग्री लेकर कई आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है, धनंजय का 'दशरूपक', जिस पर उनके भाई धनिक की व्याख्या (वृत्ति) है। ये दोनों आचार्य भाई थे और सन् ईसवीं की दशवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। इनके अतिरिक्त सागर नंदी का 'नाटक लक्षण रत्नकोश' (११ वी शताब्दी), रामचन्द्र और गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण' (१२वीं शताब्दी का अन्त्य भाग), शारदातनयका 'भाव प्रकाशन' (१३वीं शती), शिंगभूपाल को 'नाटक-परिभाषा' (१४वीं शताब्दी), रूप गोस्वामी की 'नाटक-चंद्रिका' (१५-१६वीं शताब्दी), सुन्दर मित्र का 'नाट्य-प्रदीप' (१७वीं शताब्दी) आदि ग्रन्थ हैं। इन सबका आधार भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र ही है। भोजराज (११वीं शताब्दी) ने 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वती कण्ठाभरण' में अन्य काव्यांगों के साथ नाटक का भी विवेचन किया है। हेमचन्द्राचार्य के

'काव्यानुशासन' में भी कुछ नाटकों की विवेचना है। विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में काव्य के अन्य अंगों के विवेचन के साथ नाटच-विवेचन है। अन्तिम ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है!

इन नये ग्रन्थों का मुख्य उद्‌देश्य कवि को नाटक लिखने की विधि बताना है। इनमें कथावस्तु, नायक-नायिका, रस-विचार, रूपक-लक्षण आदि का विस्तार है। यद्यपि इन सबका मूल भरत का नाटच-शास्त्र ही है, तथापि इनमें परस्पर मतभेद भी कम नहीं हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है 'दशरूपक'।

११. दशरूपक

'दशरूपक' के लेखक विष्णु-पुत्र धनञ्जय हैं जो मुञ्जराज (९७४-९९५ ई०) के सभासद थे। भरत के नाटच-शास्त्र को अति विस्तीर्ण समझकर उन्होंने इस ग्रन्थ में नाटच-शास्त्रीय उपयोगी बातों को संक्षिप्त करके कारिकाओं में यह ग्रंथ लिखा। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो अधिकांश कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्दों में लिखी गई हैं। संक्षेप में लिखने के कारण ये कारिकाएँ दुरूह भी हो गई थीं। इसीलिये उनके भाई धनिक ने कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट करने के उद्‌देश्य से इस ग्रन्थ पर 'अवलोक' नामक वृत्ति लिखी। यह वृत्ति न होती तो धनञ्जय की कारिकाओं का समझना कठिन होता। इसलिये पूरा ग्रन्थ वृत्ति-सहित कारिकाओं को ही समझना चाहिए। धनञ्जय और धनिक दोनों का ही महत्त्व है।

भरत मुनि के नाटच-शास्त्र के बीसवें अध्याय को 'दशरूप-विकल्पन' (२०.१) या 'दशरूप-विधान' कहा गया है। इसी आधार पर धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' दिया है। नाटच-शास्त्र में निम्नलिखित दस रूपकों का विधान है—नाटक, प्रकरण, अंक (उत्सृष्टिकांक), व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईशामृग। एक ग्यारहवें रूपक 'नाटिका' की चर्चा भी भरत के नाटच-शास्त्र और दशरूपक में आई है। परन्तु उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना गया है। भरत ने नाटिका को नाटक और प्रकरण में अन्तर्भुक्त कर दिया है (२०.६४)। परवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने अपने नाटच-दर्पण में नाटिका और प्रकरणिका को दो स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या १२ कर दी है तथा विश्वनाथ ने नाटिका और प्रकरणी को उपरूपक मानकर रूपकों की संख्या दस ही मानी है। धनञ्जय ने भरत का अनुसरण करते हुए नाटिका का उल्लेख तो कर दिया है पर उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना। रूपकों के भेदक तत्त्व हैं कथावस्तु, नायक और रस। नाटिका में ये तीनों नाटक और प्रकरण से भिन्न नहीं है, इसलिए भरत मुनि ने (२०, ६२-६४) में इसे नाटक और प्रकरण के भावों पर आश्रित कर दिया था। धनञ्जय ने उसी का अनुसरण किया

है। इस प्रकार रूपकों की संख्या दस बनाए रखकर वे मंगलाचरण में विष्णु के दस (अवतार) रूपों के साथ समानता बताकर श्लेष करने का अवसर भी पा गए हैं।

१२. रूपकों के भेदक तत्त्व

जैसा कि ऊपर बताया गया है, धनञ्जय ने कथावस्तु, नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना है, उन्होंने अपने ग्रन्थ को चार प्रकाशों में विभक्त किया है। इनमें प्रथम में कथावस्तु का विवेचन हैं, दूसरे में नायक, तीसरे में पूर्वांग और भारती आदि वृत्तियों और चौथे में रस का विवेचन किया गया है।

यदि वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से रूपकों के भेद की कल्पना की जाय तो स्पष्ट ही बहत्तर मोटे भेद स्वीकार करने पड़ेंगे। क्योंकि धनञ्जय के मत से कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—(१) प्रख्यात (इतिहास-गृहीत), (२) उत्पाद्य (कल्पित) और (३) मिश्र; नेता या नायक भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) नीच। स्वभाव से ये चार प्रकार के भी कहे गये हैं—(१) उदात्त, (२) उद्धत, (३) ललित और (४) प्रशांत। पर तीन भेद—उत्तम, मध्यम, नीच—प्राथमिक है। रस आठ हैं—शृङ्गार, वीर, करुण, बीभत्स, रौद्र, हास्य; अद्भुत और भयानक। धनञ्जय शांत रस को नाटक में नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार वस्तु, नायक और रस-भेद से ३ × ३ × ८ = ७२ भेद हो जाते हैं। परन्तु भरत व्यावहारिक नाट्य-प्रयोग के विवेचक थे। उन्होंने उन्हीं दस रूपकों की विवेचना की है जो उनके समय में प्रचलित थे। और किसी ने भी इस प्रकार रूपक का विभाजन नहीं किया।

१३. विभिन्न रूपकों की कथावस्तु

कोई भी रूपक हो, उसमें एक कथा होगी। धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश के उपसंहार में रूपक को 'नेतृ-रसानुगुण्या कथा' कहा है। रस मुख्य है, रस और नेता के अनुकूल ही कथा होती है। कवि कथा को या तो रामायण, महाभारत आदि प्रख्यात ग्रन्थों से लेता है या कल्पना द्वारा स्वयं रच लेता है। इस प्रकार प्रख्यात और उत्पाद्य (कल्पित) ये दो भेद हो जाते हैं। कभी कुछ अंश तो इतिहास-गृहीत होता है और कुछ कल्पित। उस हालत में कथा 'मिश्र' कही जाती है। कथा का इस प्रकार तीन श्रेणियों में विभाजन करना आवश्यक है, क्योंकि कवि (नाटककार) के लिये यह बात महत्त्व की है। प्रख्यात कथा में वह बहुत-कुछ बन्धन में होता है। कल्पित कथा में ये बन्धन नहीं होते। दोनों के संभालने के कौशल से भेद होता है। मिश्र कथा में भी बन्धन कुछ-न-कुछ रहता ही है। रूपकों की कथावस्तु इस प्रकार अलग-अलग किस्म की हो जाती है—

रूपक का नाम	कथावस्तु का प्रकार
नाटक	प्रख्यात
प्रकरण	उत्पाद्य
नाटिका	कथा उत्पाद्य, किन्तु नायक प्रख्यात
भाण	उत्पाद्य
प्रहसन	उत्पाद्य
डिम	प्रख्यात
व्यायोग	प्रख्यात
समवकार	प्रख्यात
वीथी	उत्पाद्य
उत्सृष्टिकांक	प्रख्यात
ईहामृग	मिश्र

१४. आधिकारिक और प्रासंगिक कथा

एक बार नाटककार जब कथा का आहरण या उपकल्पन कर लेता है तो उसे सरल या जटिल कथा-रूपों में परिणत कर देता है। यह जरूरी नहीं है कि सभी कथा-वस्तुएँ जटिल ही हों। पर जो जटिल होती है उनमें एक या एकाधिक कथाएँ मुख्य कथा से जुड़ जाती हैं। मुख्य कथा को आधिकारिक और सहायक कथाओं को प्रासंगिक कहते हैं। बहुत-से रूपकों का गठन ऐसा होता है कि उनमें प्रासंगिक कथा आ ही नही पाती। प्रासंगिक कथाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जो आधिकारिक कथा के समानान्तर दूर तक चलती रहती हैं, जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा; दूसरी वे जो थोड़ी दूर तक चलकर विरत हो जाती हैं, जैसे रामायण में शबरी या जटायु का प्रसंग। पहली को पताका कहते हैं, दूसरी को प्रकरी। पताका और प्रकरी में एक और भेद है। पताका के नायक का कुछ अपना स्वार्थ भी होता है किन्तु प्रकरी के नायक या नायिका का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। इस प्रकार कथावस्तु के दो सहायक अंग हैं। इनकी स्थिति केवल जटिल कथावस्तु में हीं होती है।

१५. अर्थप्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतियाँ पाँच है—(१) बीज, (२) बिन्दु; (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। इनमें पताका और प्रकरी की चर्चा ऊपर हो चुकी है। धनञ्जय ने रूपक की कथावस्तु के आरम्भ को उस स्वल्पोद्दिष्ट बात को बीज बताया है जो रूपक के फल का हेतु होता है, जैसे भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह बीज है, जिसका फल है द्रौपदी का केश-संयमन रूपी कार्य। इस प्रकार बीज आरम्भ में थोड़े में कहा हुआ कथावस्तु का वह अंग है जो आगे चलकर

फलसिद्धि का हेतु बनता है। बीज हेतु हैं, कार्य फल। बिन्दु को धनञ्जय ने इस प्रकार समझाया है कि अवान्तर अर्थ का जब विच्छेद होता है तो मूल कथा से जोड़ने का काम बिन्दु करता है। यह परिभाषा कुछ स्पष्ट नहीं है। कई लोग इससे भ्रम में पड़ जाते हैं और अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पना करने लगते हैं। धनिक की वृत्ति में कहा गया हैं कि अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजन-सिद्धि का हेतु हुआ करती हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के नाटच-दर्पण में इन अर्थप्रकृतियों को 'उपाय' कहा गया है। इस पाँच उपायों में दो—बीज और कार्य—अचेतन हैं; तीन—बिन्दु, पताका और प्रकरी—चेतन हैं। नाटचदर्पणकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि न तो ये उस क्रम से आते हैं जिस क्रम से उनको गिनाया गया है और न अवश्यम्भावी या अपरिहार्य ही हैं। इनका सन्निवेश यथारुचि किया जाना चाहिए। बहुत-से ऐसे कथानक हो सकते हैं जिनमें पताका या प्रकरी हो ही नहीं; बहुत-से ऐसे होंगे जिनमें इनका क्रम उलटा हो सकता है! वस्तुतः ये अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपाय हैं और आरम्भ आदि आगे बताई जाने वाली अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं।

निम्नलिखित सारणी से अर्थप्रकृतियों का स्वरूप समझ में आ जाएगा—
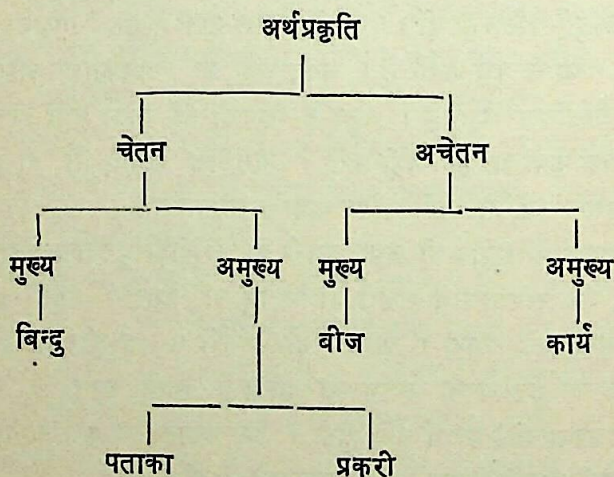
इस प्रकार ये अर्थप्रकृतियाँ 'फल' अर्थात् मुख्य साध्य के हेतुभूत कवि-निबद्ध उपाय हैं। इनमें 'बीज' नाटक के इतिवृत्त या कथावस्तु का उपाय है यह मुख्य है, क्योंकि यही क्रमशः अंकुरित-पल्लवित होकर फलरूप में परिणत होता है। आमुख में नट बीजभूत उक्तियों को कह देता है और बाद में मुख्य कथा का कोई प्रमुख पात्र उसे दुहराता है। यह कथा की वह स्थिति है जो घटनाओं के संघट्ट से मुख्य पात्र के सम्मुख किसी के द्वारा उपस्थित कर दी गई होती है। वह सोच-विचारकर प्रयत्नपूर्वक किया हुआ पात्र-विशेष का कार्य न होने से उसे

अचेतन माना जाता है। फल इस बीज के पल्लवित-पुष्पित होने से उपस्थित होता है। बीज मुख्य है, फल अमुख्य। पताका, प्रकरी और बिन्दु चेतन प्रयत्न हैं; समझ-बूझकर नाटककार द्वारा संयोजित होते हैं। इनमें भी बिन्दु मुख्य होता है। नाटक का घटना-प्रवाह जब-जब अभीष्ट दिशा से हटकर दूसरी ओर मुड़ने लगता है, अलग होने लगता है, तब-तब नाटककार नायक, प्रतिनायक, सहकारी आदि पात्रों की सहायता से उसे अभीष्ट दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। इसीलिये यह सारे कथाभाग में विद्यमान रहता है। पताका, प्रकरी और बिन्दु कवि के अनुध्यात लक्ष्य तक ले जाने वाले साधन हैं, इसीलिये इन्हें 'चेतन' माना गया है। पताका और प्रकरी कथानक में रहे ही, यह आवश्यक नहीं है, पर बिन्दु रहता है। वस्तुतः बीज, बिन्दु और कार्य, ये तीन आवश्यक अर्थ-प्रकृतियाँ हैं। बीज पर कवि का नियन्त्रण नहीं होता, परन्तु बिन्दु उसके उस यत्नपूर्वक नियन्त्रण का ही नामान्तर है जो कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ता रहता है। ये दो मुख्य हैं।

बिन्दु पात्रों को कवि-निबद्ध चेतन चेष्टाएँ हैं, पर कार्य अचेतन साधन; जैसे सैन्य-सामग्री, दुर्ग, कोश, धन आदि। किसी वृक्ष का उपमान लें तो बीज, बीज है; बिन्दु. उसे सुरक्षित, पल्लविन, पुष्पित करने को सोद्देश्य प्रयत्न है; कार्य-कुदाल, खाद आदि हैं; पताका, किसी स्वार्थसिद्धि के प्रतिदान में नियुक्त माली हैं और प्रकरी, क्वचित्-कदाचित् अनायास उपस्थित होकर सहायता कर जाने वाला हितैषी।

१६. पाँच अवस्थाएँ और पाँच सन्धियाँ

धनञ्जय के अनुसार फल की इच्छा वाले नायक आदि के द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। दूसरे आचार्य इन्हें नेता के चरित्र (वृत्त) की पाँच अवस्था कहते हैं। भरत ने इन्हें साधक के व्यापार की अवस्थाएँ कहा है (२१.७) धनंजय ने भरत का ही अनुसरण किया है। वस्तुतः वृत्त और व्यापार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पात्र जो कुछ करता है (व्यापार, कार्य) वही उसका चरित है। नायक के व्यापार की ये पाँच अवस्थाएँ हैं जो कथावस्तु में रूप ग्रहण करती हैं। ये स्वयं कथावस्तु नहीं हैं, कथावस्तु में क्रमशः विकसित होने वाले साधक-व्यापार या नायक के कार्य के सिवा और भी बहुत-सी बातें होती हैं।

इस प्रकार अर्थप्रकृतियाँ कथानक के अभीष्ट लक्ष्य तक ले जाने के लिए नाटककार द्वारा निबद्ध उपाय हैं और अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं। नेता या

नायक के मन में फल-प्राप्ति के लिये औत्सुक्य (प्रारम्भ), उसके लिये प्रयत्न (प्रयत्न), उसके प्राप्त होने की आशा (प्राप्त्याशा), विघ्नों के समाप्त हो जाने से उसके प्राप्त होने की निश्चितता (नियताप्ति) और उसकी प्राप्ति (फलागम), ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। ये नाटक को विचित्र भाव और घटनाओं से समृद्ध करती हैं। किन्तु कवि या नाटककार का सबसे बड़ा कौशल बिन्दु की योजना में प्रकट होता है। इसी उपाय के द्वारा वह कथा को अवान्तर प्रसंगों में बहकने से रोकता है और नायक की प्रयत्नादि अवस्थाओं को जागरूक बनाए रखता है। नाटक-रचना कठिन काम है। बिन्दु-विधान भी कठिन साधना है। ज़रा भी कथा बहकी तो सँभालना मुश्किल हो जाता है। ज़रूरत पड़ने पर नाटककार पताका और प्रकरी-जैसे चेतन उपायों का आश्रय लेता है और कार्य-जैसे अचेतन उपादान (सैन्य, कोष आदि) का भी सहारा लेता है। पर बिन्दु-विधान सर्वत्र आवश्यक होती है। 'अर्थ-प्रकृति' में अर्थ शब्द का तात्पर्य है पूरा नाटकार्थ और 'प्रकृति' शब्द का तात्पर्य है प्रकार या उपाय। धनञ्जय की अपेक्षा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसे अधिक स्पष्टता से समझाया है।

१७. पाँच सन्धियाँ

भरत ने नाट्य-शास्त्र में कहा है कि इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है और पाँच सन्धियाँ उसके पाँच विभाग हैं। धनंजय के अनुसार किसी एक प्रयोजन द्वारा अन्वित कथा-भागों को किसी दूसरे प्रयोजन से युक्त करने वाला सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। ये पाँच हैं, (१) मुख (नाना अर्थों और इनकी हेतुभूता बीजोत्पत्ति), (२) प्रतिमुख (बीज का उद्भेद या फूटना), (३) गर्भ, दिखकर अदृष्ट हो गए बीज का अन्वेषण, (४) अवमर्श या विमर्श (बीज अर्थ का पुनः प्रकट होना), और (५) उपसंहृति या निर्वहण (बिखरे अर्थों का एक उद्देश्य की ओर उपसंहरण)। धनंजय ने एक विवादास्पद कारिका में कहा है कि पाँचों अर्थप्रकृतियाँ, पाँचों अवस्थाओं से समन्वित होकर क्रमशः पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं।[१] यह बात भ्रम पैदा करने वाली सिद्ध हुई है। अर्थ-प्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ 'यथारूप' गठबन्धन ठीक नहीं बैठता। पताका एक अर्थप्रकृति है, प्रकरी दूसरी। पताका के बाद प्रकरी को गिनाया गया है। पताका का उदाहरण है रामायण में सुग्रीव की कथा, प्रकरी का उदाहरण है

---

१. अर्थप्रकृतयः पञ्च, पञ्चावस्था समन्विताः
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।
—दशरूपक १, २२-२३

वहीं शबरी की कथा। लेकिन रामायण में पताका बाद में आती है, प्रकरी पहले। क्रम कहाँ रहा ? बिन्दु एक अर्थप्रकृति है। वह नाटक में सर्वत्र रहता है। उसे किसी एक अवस्था के साथ कैसे बाँधा जा सकता है। भरत के नाट्य-शास्त्र में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। सन्धियों को अवस्था का अनुगामी अवश्य बताया गया है। अर्थप्रकृतियों से उनका सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि पताका में भी सन्धियाँ होती हैं। नाट्यदर्पणकार ने उन्हें अनुसन्धि कहा है और स्वयं धनंजय ने भी अन्यत्र उन्हें अनुसन्धि कहा है। इसलिए धनंजय की उक्त कारिका, जिसमें अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं—दोनों के साथ सन्धियों का गठ-बन्धन किया गया है, भ्रामक है। उसकी भरतमतानुयायी व्याख्या—थोड़ी कष्ट-कल्पना के साथ—इस प्रकार की जा सकती है—'अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं। अव-स्थाएँ भी पाँच हैं। इनके समन्वित रूप से इतिवृत्त बनता है। उसके पाँच विभाग होते हैं जो सन्धि कहलाते हैं। ये सन्धियाँ अवस्थाओं के क्रम से होती हैं।' इस प्रकार की व्याख्या में 'यथासंख्येन' का अन्वय 'पंचावस्था' से किया जाएगा। परन्तु ऐसा अर्थ कष्ट-कल्पित ही है।

जो हो, सन्धियाँ कथावस्तु के भाग हैं। कुल मिलाकर इनके ६४ अंग हैं जो सन्ध्यंग कहे जाते हैं। धनंजय ने अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं का साथ-साथ उल्लेख करके अपने ग्रन्थ के पाठकों में कुछ भ्रम अवश्य उत्पन्न किया है। कीथ ने 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत ड्रामा' नामक ग्रन्थ में कहा है कि 'सन्धियों का विभाजन तो ठीक है क्योंकि इसमें नाटकीय संघर्षों पर ज़ोर दिया गया है। इस विभाजन का उद्देश्य है कि किस प्रकार नायक विघ्नों को जीतकर फल-प्राप्ति की ओर बढ़ता है। परन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन बेमतलब का जान पड़ता है। फिर, पाँच सन्धियों का पाँचों अवस्थाओं और पाँचों अर्थप्रकृतियों के साथ जोड़ना दोषपूर्ण है।'

स्पष्ट है कि धनंजय का श्लोक इस प्रकार की भ्रान्त आलोचना का कारण है। कीथ की आलोचना नाट्य-शास्त्र की नहीं है, दशरूपक की आलोचना है। वस्तुतः, जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है, अर्थ-प्रकृति कथा के उचित संघटन के उपाय हैं, अवस्थाएँ नाटक के नायक की फलप्राप्ति-जन्य क्रियाओं की अवस्थाएँ हैं और सन्धियाँ, इन अवस्थाओं को अनुकूल दिशा में ले जाने वाले उस घटना-चक्र के, जो अर्थप्रकृतियों से मिलकर पूरा इतिवृत्त या कथानक बन जाता है, विभिन्न अंग हैं। इनके ६४ भेदों का नाट्य-शास्त्र और दशरूपक आदि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णन है। नीचे की तालिका से इन सन्धियों और संध्यंगों का सामान्य परिचय हो जाएगा—

सन्धियाँ	अंग
मुख	१. उपक्षेप, २. परिकर, ३. परिन्यास, ४. विलोभन, ५. युक्ति, ६. प्राप्ति, ७. समाधान, ८. विधान, ९. परिभावना, १०. उद्भेद, ११. भेद, १२. करण ।
प्रतिमुख	१३. विलास, १४. परिसर्प, १५ विधूत, १६. शाम, १७. नर्म, १८. नर्मद्युति, १९. प्रगमन, २०. निरोध, २१. पर्युपासन, २२. वज्र, २३. पुष्प, २४. उपन्यास, २५. वर्णसंहार ।
गर्भ	२६. अभूताहरण, २७. मार्ग, २८. रूप, २९. उदाहरण, ३०. क्रम, ३१. संग्रह, ३२. अनुमान, ३३. तोटक, ३४. अधिबल, ३५. उद्वेग, ३६. संभ्रम, ३७. आक्षेप ।
विमर्श (अवमर्श)	३८. अपवाद, ३९. संफेट, ४०. विद्रव, ४१. द्रव, ४२. शक्ति ४३. द्युति, ४४. प्रसंग, ४५. छलन, ४६. व्यवसाय, ४७. विरोधन, ४८. प्ररोचना, ४९. विचलन, ५०, आदान ।
निर्वहण	५१. सन्धि, ५२. विबोध, ५३. ग्रथन, ५४. निर्णय, ५५. परिभाषण, ५६. प्रसाद, ५७. आनन्द, ५८. समय, ५९. कृति, ६०. भाषा, ६१. उपगूहन, ६२. पूर्वभाव, ६३. उपसंहार, ६४. प्रशस्ति ।

१८. संध्यंग का प्रयोग आवश्यकतानुसार

इन सभी अंगों का नाटक में प्रयोग अनिवार्य नहीं है। भरत ने नाटचशास्त्र (२१-१-१०७) में कहा है कि क्वचित् कदाचित् ही सभी अंग किसी एक ही रूपक में मिलें। कभी-कभी दो-तीन से भी काम चल जाता है। कार्य और अवस्था को देखकर इन अंगों का प्रयोग करना चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण बात कहना धनंजय भूल गए हैं। फिर भी उन्होंने कह दिया है कि कुछ खास प्रयोजन हैं जिनके लिए इन संध्यंगों का प्रयोग किया जाता है। ये प्रयोजन छः हैं—अभीष्ट अर्थ की रचना, गोपनीय को गुप्ति, प्रकाशन, राग और प्रयोग का आश्चर्य। इससे यह बात अनुमित होती है कि जहाँ ज़रूरत हो वहीं इनका प्रयोग करना चाहिए।

वस्तुतः रूपक के कथानक की योजना नेता के स्वभाव और रस के अनुकूल होती है। व्यायोग का नेता या नायक उद्धत नायक होता है। शृंगार रस उसका लक्ष्य नहीं है। दीप्त रस उसके लक्ष्य है। उद्धत स्वभाव का यह नायक प्रारम्भ के बाद यत्न करता है और तुरन्त फलप्राप्ति के लिए अधीर हो जाता है। प्राप्त्याशा और नियताप्ति-जैसी उलझनों में वह नहीं पड़ता। उसे तुरन्त फलागम चाहिए। उसके कथानक की योजना उसके हड़बड़ी वाले स्वभाव को ध्यान में रखकर ही करनी होगी, नहीं तो रस में व्याघात पहुँचेगा। यही कारण है कि उस

कथानक में गर्भ और विमर्श संधियाँ नहीं आ सकतीं। नीचे की सारिणी से स्पष्ट होगा कि किस प्रकार के रूपक में किन अवस्थाओं और किन संधियों की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

रूपकों के नाम	कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं	कौन-कौन संधियाँ होती हैं	कौन-कौन संधियाँ नहीं होतीं
१. नाटक	सभी (पाँचों)	सभी (पाँचों)	
२. प्रकरण	"	"	
३. नाटिका	"	"	
४. व्यायोग	प्रारम्भ यत्न फलागम	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	गर्भ और विमर्श
५. ईहामृग	"	"	"
६. समवकार	प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, फलागम	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, निर्वहण	विमर्श
७. डिम	"	"	"
८. भाण	प्रारम्भ, फलागम	मुख, निर्वहण	प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श
९. प्रहसन	"	"	"
१०. उत्सृष्टिकांक	"	"	"
११. वीथी	"	"	"

नाटक और अन्य रूपक यदि दृश्य काव्य न होते तो कथावस्तु की विवेचना यहीं समाप्त हो जाती। परन्तु नाटककार और अभिनेता की कठिनाइयाँ अनेक हैं। बहुत बड़ी कथा को उन्हें थोड़ी देर में दिखाना पड़ता है। सभी प्रसंग मार्मिक नहीं होते, पर दर्शक को सभी बातें न बताई जाएँ तो कथानक उसकी समझ में ही न आए। इसलिए नाटककार कुछ मार्मिक अंशों को रंगमंच पर दिखाने के लिये चुन लेता है और कुछ को किसी-न-किसी कौशल से सूचित कर देता है। इस प्रकार कथा के दो भाग हो जाते हैं—दृश्य और सूच्य। दृश्य अंश का विधान अंकों में होता है। 'अंक' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है यह केवल अनुमान का विषय है। संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। संख्या, चिह्न, गोद आदि अर्थ परिचित ही हैं, परन्तु नाटक के 'अंक' से इनका सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। भरत मुनि ने लिखा है (२०.१४) कि यह रूढ़ि शब्द है। भाव और अर्थों के द्वारा, नाना विधानयुक्त होकर अर्थों का आरोहण कराता है, इसलिए इसे अंक कहते हैं। इसका एक पुराना अर्थ उतार-चढ़ाव बताने वाला घुमाव भी है। कदाचित् नाटकीय घटनाओं के आरोह-अवरोह को प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता रहा हो। यवन-नाट्याचार्यों की भाँति भरत भी एक दिन में समाप्त होने वाली घटना को ही

एक अंक में देने का निर्देश करते हैं। सभी रूपकों में अंकों की संख्या एक ही तरह की नहीं होती। कुछ तो एक ही अंक में समाप्त हो जाते हैं। नाटक और प्रकरण में ५ से १० तक अंक हो सकते हैं, इसलिये अवस्थाओं और संधियों से कठोरतापूर्वक निबद्ध नहीं हो सकते। अंकों में महत्त्वपूर्ण भावोद्रेचक प्रसंग ही दिखाए जाते हैं। जो बातें साधारण होती हैं उन्हें कुछ कौशलों से सूचित मात्र कर दिया जाता है। प्रायः दो अवान्तर पात्रों की बातचीत से (विष्कंभक, प्रवेशक) या नाटक के किसी अंक में अभिनय करने वाले पात्रों द्वारा ही (अंक-मुख, अंकावतार) या परदे के पीछे से (चूलिका) ये सूचनाएँ दे दी जाती हैं। ये नाटकीय कौशल हैं। एक और प्रकार का कौशल भी कथावस्तु में प्रयुक्त होता है। उसे आकाशभाषित कहते हैं। पात्र आसमान की ओर मुँह करके कहता है 'क्या कहते हो ? अमुक बात ? तो सुनो।' और अभीष्ट सूचना दे जाता है (दशरूपक ५७-६७)। सब बातें नाटक के सभी पात्रों के सुनने योग्य नहीं होतीं। कुछ पात्र अपने मनोभावों को ज़ोर-ज़ोर से कहता है (स्वगत), यह और पात्र नहीं सुनते, कुछ एक-दो सुनते हैं बाकी नही सुनते (जनान्तिक, अप-वार्य) और कुछ सब सुनते हैं। ये नाटकीय रूढ़ियाँ हैं।

२०. नेता या नायक

नाट्यशास्त्र में नेता या नायक शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। एक तो नाटक के मुख्य पात्र के अर्थ में और दूसरा सामान्य रूप में पात्रों के अर्थ में। पहला अर्थ ही मुख्य है। चार प्रकार के नायकों की चर्चा आती है—धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित और धीरोद्धत। सबके आगे जो 'धीर' विशेषण लगा हुआ है उससे कभी-कभी भ्रम पैदा होता है। जो उद्धत है वह धीर कैसे हो सकता है ? उद्धत तो स्वभाव से ही चपल और चण्ड होता है। वस्तुतः धीर शब्द का संस्कृत में प्रचलित अर्थ इस भ्रम का कारण है। एक पुराना 'धीर' शब्द भी था जो 'धी' (सहज-बुद्धि, मनोभाव) शब्द से बनता था। इस शब्द से निष्पन्न 'धीर' शब्द का अर्थ होता था सहज बुद्धि वाला, मनोभाव-सम्पन्न। वह शब्द नाट्यपरंपरा में सुरक्षित रह गया है। 'धीर' का अर्थ है स्वाभाविक बोध-सम्पन्न। धीरोद्धत का अर्थ है स्वभावतः उद्धत। नाट्यदर्पणकार देवता और राक्षस आदि को धीरोद्धत कहते हैं। इस प्रकार उदात्त, प्रशान्त, ललित और उद्धत नायक स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, इसलिये उनके साथ 'धीर' विशेषण लगाया जाता है। नायक की तरह नायिका के भी स्वभाव, वय आदि के अनुसार भेद किए जाते हैं। ग्रंथों में इनके भेदोपभेदों का बड़ा विस्तार है।

कुछ रूपकों के नायक उदात्त होते हैं, कुछ के प्रशान्त, कुछ के ललित और कुछ के उद्धत। भरत मुनि के गिनाए रूपकों में कुछ ऐसे भी हैं जिनके नायक

इन कोटियों में नहीं आ पाते। वस्तुतः पूर्णांक रूपक दो या तीन ही हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका। नाटक और प्रकरण में वस्तु का भेद है, नाटक की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है और प्रकरण की उत्पाद्य या कवि-कल्पित। नाटिका दोनों के मिश्रण से बनती है। उसका नायक तो प्रख्यात होता है पर कथावस्तु उत्पाद्य। इनमें सब संधियों का समावेश होता है और सब अवस्थाएँ मिलती हैं। इनके नायकों में भी अन्तर होता है। नाटक का नायक धीरोदात्त होता है, प्रकरण का धीरप्रशान्त और नाटिका का धीरलालित। रस तीनों में श्रृंगार होता है। नाटक और प्रकरण में वीर भी। इससे स्पष्ट है कि पूर्णांग रूपकों में दो ही रस आते हैं—श्रृंगार और वीर। नायक इनमें तीन प्रकार के होते हैं, उदात्त, प्रशान्त और ललित। इनमें धीरोदात्त नायक महासत्त्व. अत्यन्त गम्भीर. क्षमाशील, अविकत्थन (अपने बारे में बढ़-बढ़कर बात न करने वाला), स्थिर, भीतर-ही-भीतर मानी, दृढ़व्रत होता है। धीरललित कोमल प्रकृति का, कला-प्रेमी, निश्चित और सुखी होता है। धीरप्रशान्त भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है. लेकिन ब्राह्मण, मन्त्री या वैश्य के घर उत्पन्न हुआ होता है। प्रथम दो राजवंश के होते हैं। धीरोदात्त राजा ही होता है। चौथा नायक धीरोद्धत कहलाता है। वह भी कुछ रूपकों का नायक होता है। नाटक में वह प्रतिनायक होता है। साधारणतः देवता या दानव, जिनमें दैवी शक्ति होती है, उदात्त नायक की तरह धैर्यवान् नहीं होते। वे गर्वीले, चपल और चण्ड होते हैं। उन्हें फल-प्राप्ति के लिये धैर्य नहीं होता। डिम, व्यायोग और ईहामृग में ये नायक होते हैं। इनकी उतावली के स्वभाव के कारण ही ये रूपक पूर्णांग नहीं हो पाते। इनमें वीर. रौद्र आदि दीप्त रस तो आ जाते हैं. पर श्रृंगार और हास्य नहीं आ पाते। समवकार में भी इनका बाहुल्य होता है। उसमें भी श्रृङ्गार की छाया-मात्र ही होती है। उद्धत नायकों के स्वभाव के कारण ही व्यायोग और ईहामृग में गर्भ और विमर्श तथा समवकार और डिम में विमर्श सन्धि नहीं होती।

इस प्रकार नेता या नायक कथावस्तु का नियंत्रण करता है। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक हो तो इतिवृत्त के उन अंशों को छोड़ देना चाहिए जो उसके उदात्त भाव के बाधक हों। उद्धत नायकों के लिये कथावस्तु में से विशेष-विशेष सन्धियों को छोड़ देना पड़ता है। जिन रूपकों में धीरोद्धत नायक होते हैं वे पूर्णांग नहीं बन पाते। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग इसी प्रकार के रूपक हैं। बाकी चार में भाण और प्रहसन तो एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होते हैं। इनमें नायक स्वयं मंच पर नहीं आते। श्रृंगार और वीर यहाँ सूच्य रस हैं। जिन व्यक्तियों की चर्चा होती है उनका कोई रूप-विधान नहीं होता। यही बात बहुत-कुछ वीथी

और उत्सृष्टिकांक के बारे में भी ठीक है। वस्तुतः ये तमाशे ही रहे होंगे। सही अर्थों में ये रूपक नहीं कहे जा सकते। दशरूपककार ने रूपक की परिभाषा में कहा है कि अनुकार्य के रूप का समारोप होने से यह रूपक कहा जाता है। इन पर अनुकार्य का आरोप अस्पष्ट होता है। उतना आरोप तो काव्य-पाठक और कथावाचक पर भी किया जा सकता है। जो हो, ये चार अल्पोद्भिन्न रूपक ही कहे जा सकते हैं।

२१. वृत्तियाँ

नाटक में सभी प्रकार के अभिनय मिलते हैं, प्रकरण और नाटिका में भी। इन तीनों में सभी वृत्तियाँ मिलती हैं। बाकी में केवल तीन। अन्तिम चार अर्थात् भाण, प्रहसन, वीथी ओर उत्सृष्टिकांक में प्रधान रूप से भारती वृत्ति ही मिलती है। वृत्तियाँ नाट्य की माता कही जाती हैं। ये चार हैं—**सात्वती** में मानसिक, कायिक और वाचिक अभिनय होते हैं। यह मुख्यतः मानस-व्यापार की वृत्ति है। इसका प्रयोग रौद्र, वीर और अद्भुत रसों में होता है। तत्त्व मनोभावों को कहते हैं। कहा जाता है कि उसी को प्रकाशित करने वाली होने के कारण इसे सात्त्वती कहते हैं। **कैशिकी** वृत्ति का अभिनय स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। इसमें मृदुता और पेशल परिहास की प्रधानता होती है। शृंगार और हास्यरस का इसमें प्राधान्य होता है। **आरभटी** में छल, प्रपंच, धोखा, फरेब आदि होते हैं। वीर, रौद्र आदि दीप्त रसों में इसका प्रयोग होता है। भारती संस्कृत-बहुल वाग्व्यापार है। **भारती** शब्द का अर्थ हीं आगे चलकर वाणी हो गया है। यह सब रसों में आती है। मूलतः ये वृत्तियाँ विभिन्न श्रेणी की जातियों से ली गई जान पड़ती हैं।[1] अब अगर इन वृत्तियों पर से विचार किया जाए तो स्पष्ट लगेगा कि केवल नाटक, प्रकरण और नाटिका ही पूर्णांग रूपक हैं। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग में तीन ही वृत्तियों का प्रयोग होता है इसलिए अपूर्ण हैं। भाण, प्रहसन, वीथी और उत्सृष्टिकांक में तीनों का प्रयोग होता तो है पर मुख्य वृत्ति भारती ही है। इस तरह ये और भी विकलांग हैं। इस प्रकार इन रूपकों में तीन (नाटक, प्रकरण, नाटिका) उत्तम श्रेणी के हैं, चार (डिम, व्यायोग, समवकार, ईहामृग) मध्यम श्रेणी के हैं, और बाकी अवर श्रेणी के।

---

१. भारती भरतों की वृत्ति कही जाती है। भरत लोग नाटक खेलने का व्यवसाय करते थे। सात्वत जाति प्रसिद्ध ही है। भावप्रवण भक्ति-साधना के प्रसंग में इनका प्रायः उल्लेख मिलता है। कहते हैं, भागवत सम्प्रदाय इनकी देन है। कैशिक जाति सम्भवतः पश्चिम के काश्यिपयन तट की जाति है। अरभट कदाचित् ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित Arbitus जाति है जो सिन्धु घाटी में रहती थी।

नाटचदर्पणकार ने इस बात को लक्ष्य किया था। उन्होंने दो ही भेद किये हैं। नाटिका के साथ प्रकरणी की कल्पना करके उन्होंने चार को एक श्रेणी में रखा था और बाकी रूपकों को दूसरी श्रेणी में।

नीचे की तालिका से रूपकों के रस, नायक, कथावस्तु, अंक और वृत्तियों का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

रूपक-नाम	वस्तु	रस	अंक	वृत्तियाँ
नाटक	प्रख्यात	अंगी—वीर या शृंगार अंग—बाकी सभी रस	पाँच से दस तक	चारों (कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती, भारती)
प्रकरण	उत्पाद्य	,,	,,	,,
नाटिका	वस्तु, उत्पाद्य (प्रकरण के समान); नेता, प्रख्यात (नायक के समान)	शृंगार	चार	,,
भाण	उत्पाद्य	शृंगार, वीर	एक	कैशिकी के भिन्न बाकी तीन
प्रहसन	,,	,, हास्य,	एक	,,
डिम	प्रख्यात	वीर, रौद्र, वीभत्स, करुण, भयानक, अद्भुत	चार	,,
व्यायोग	,,	,,	एक	,,
समवकार	,,	वीर, रौद्र, शृङ्गार (छायामात्र)	तीन	,,
वीथी	उत्पाद्य	शृङ्गार	एक	,,
अंक	प्रख्यात	करुण	एक	,,
ईहामृग	मिश्र	रौद्र, शृङ्गाराभास	चार	,,

२२. रस

भारतीय नाटच-परम्परा में नायक फल-भोक्ता है अर्थात् नाटक के फल

को प्राप्त करने वाले को कहा गया है जबकि आधुनिक नाट्यशास्त्री नायक या नायिका उसे मानते हैं जिसके साथ सामाजिक की सहानुभूति हुआ करती है। इनमें नाटचकार द्वारा प्रयुक्त कौशल से एक ऐसी शक्ति केन्द्रित होती है जो निपुण अभिनय के द्वारा उपस्थित किए जाने पर सामाजिकों की समवेदना और सामान्यानुभूति आकर्षित करती है। खलनायक सहानुभूति नहीं पाता। उसमें कुछ ऐसा औद्धात्य या आचरणगत अनौचित्य होता है जो सामाजिक की वितृष्णा और क्रोध को उद्रिक्त करता है। भरत द्वारा निर्धारित रूपकों में नाटक और प्रकरण के नायक, नायिका और प्रतिनायक इस कोटि के कहे जा सकते हैं। ऊपर जो तीन श्रेणी के रूपक बताये गए हैं उनमें प्रथम और उत्तम श्रेणी के नाटकों में केवल दो ही रस हैं—शृंगार और वीर। ये ही दो रस मुख्य हो सकते हैं। दो रस और भी मुख्य कहे गए हैं—रौद्र और बीभत्स। इस प्रकार चार रस ही मुख्य बताये गए हैं—शृङ्गार, वीर, रौद्र और बीभत्स। इनके अभिनय में क्रमशः विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप होता है। बाकी चार इन्हीं चारों से होते हैं। शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण (दशरूपक ४३-४५), इस प्रकार ये आठ रस बनते हैं। सामाजिक के चित्त में विकास और विस्तार होता है तो उसे सुख मिलता है और क्षोभ और विक्षेप होता है तो दुःख। इसलिए कुछ आचार्य रस को सुख-दुःखात्मक बताते हैं। दूसरे आचार्य ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि ये विक्षेप और क्षोभ लौकिक विक्षेप और क्षोभ से भिन्न होने के कारण आनन्दजनक ही होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि शृङ्गार रस से चित्त में विकास और वीर रस से विस्तार होता है। इन दो रसों का नायक अनायास ही सामाजिक की समवेदना और सहानुभूति आकर्षित करता है। यही कारण है कि पूर्णांग रूपकों में इन दो रसों का ही प्राधान्य है। विकास और विस्तार को एक शब्द में 'विस्फार' कहा जाता है। इस विस्तार के कारण नाटक में वीर और शृङ्गार रस मुख्य होते हैं। नाटक और रसों से बनता ही नहीं। पाश्चात्य नाटचशास्त्रों में तर्जदी (ट्रेजडी) श्रेणी के नाटकों का महत्त्व है। परन्तु भारतीय नाटच-शास्त्रियों ने 'करुण' रस को नाटच-रस मानते हुए भी ऐसे उत्तम कोटि के रूपकों की कल्पना भी नहीं की जो शोकान्त हों। परन्तु नाटक में यदि नायक या नायिका उसे माना जाए जो सामाजिकों की सहानुभूति आकृष्ट कर सके, तो ऐसे नायक भी सामाजिक की सहानुभूति आकृष्ट कर सकते हैं जो चरित्र-बल में तो उदात्त हों पर किसी दुर्बलता—जैसे आदमी न पहचानने की क्षमता, दैववश अनुचित कार्य कर बैठने की भूल, अत्यधिक औदार्य आदि—से कष्ट में पड़ जाते हों। पश्चिमी देशों में ऐसी परिस्थितियों के शिकार उदात्त और ललित श्रेणी के नायकों की

कल्पना की गई है। हर समय उनका स्थायी भाव शोक ही नहीं होता। कई बार नायक के चित्त में उत्साह, रति आदि भाव ही प्रबल होते हैं, केवल परिणाम अनिष्ट-प्राप्ति होता है। सामाजिक के चित्त को सहानुभूतियुक्त बनाने के हेतु नायक के स्वभाव में स्थित मानवीय गुण ही होते हैं, उसके दुःख पाने से सामाजिक के चित्त में जो क्षोभ पैदा होता है वह उसे और भी तीव्रता के साथ नायक की ओर ठेलता है। इस प्रकार के रूपकों की कल्पना भारतीय नाटच-परम्परा में नहीं हुई। उत्सृष्टिकांक आदि में यह रस भारती वृत्ति द्वारा सूच्य और अप्रत्यक्ष होता है। अधिकतर अंग रूप में इसका चित्रण कर दिया जाता है। इसलिये ऐसे नायक भी इस परम्परा में नहीं मिलते।

कुछ आचार्य केवल शृङ्गार रस को ही एकमात्र रस मानते हैं। इसका कारण यह है कि यही एकमात्र रस है जहाँ सहृदय आश्रय ओर आलम्बन दोनों से तादात्म्य स्थापित कर सकता है और किसी पक्ष को पराभव की अनुभूति नहीं होती। वीर रस भी इनके मत से एक पक्ष का पराभव होने के कारण अपूर्ण रह जाता है। भरत ने स्पष्ट ही नाटच में आठ रस स्वोकार किये हैं। इसीलिए यह मत भारतीय परंपरा में पूर्णतया मान्य नहीं हो सका।

२३. भाव-जगत्

भरत मुनि ने नाटच-शास्त्र में बताया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भावों की संख्या उन्होंने ४९ बताई है जिनमें आठ स्थायी भाव हैं, आठ सात्त्विक भाव हैं और तैंतीस संचारीभाव।[1] स्थायीभाव ही विभाव-अनुभावादि के संयोग से रस दशा तक

१. काव्य के सुनने के साथ हम भाव-जगत् की सूक्ष्म मूर्तियों और भावों का निर्माण करते रहते हैं। इन्हीं भावात्मक आलम्बन, उद्दीपन आदि के भावों का हम अनुभव करते रहते हैं। कवि में ऐसी सामर्थ्य होती है कि जिस पात्र के साथ वह हमारा जैसा-जैसा भाव जगाना चाहता है वैसा-वैसा भाव हमारे मानस-लोक में निर्माण करा लेता है। इन नाना भाव-मूर्तियों और भाव-भावना का जब ऐसा परिपाक होता है कि किसी का पृथक् ज्ञान नहीं रह जाता, सब मिलकर एक विशेष भावन प्रक्रिया में एकाकार हो जाते हैं तो हम रसास्वादन की स्थिति में आ जाते हैं। स्पष्ट ही यह बात लौकिक स्थूल रूप से भिन्न है। इसलिए इसे 'लोकोत्तर' कहा जाता है। काव्य का श्रोता अपने ही चित्त से अपनी ही अनुभूतियों के सहारे सारे भाव-जगत् की सृष्टि करता रहता है। इसलिये कहा जाता है कि वह जितना ही सहृदय होगा उतना ही अधिक रसास्वादन का सुपात्र होगा।

काव्य में केवल शब्द और अर्थ होता है। दूसरा कोई माध्यम नहीं होता। शब्द के द्वारा गृहीत लौकिक स्थूल अर्थ, सहृदय के हृदय में भाव-रूप में परिणत होता रहता है। कुछ ऐसी कलाएँ हैं जहाँ शब्द होता ही नहीं, जैसे चित्रकला। वहाँ कलाकार के द्वारा प्रयुक्त रंग और रेखाएँ अर्थ-बोध कराती हैं। चित्र-लिखित पर्वत स्थूल पर्वत का

पहुँचता है (दशरूपक)। दशरूपक के लेखक धनंजय स्थायी भावों और सात्त्विक भावों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। पर अन्य नाट्य-शास्त्रियों ने उनका अलग उल्लेख किया है। शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है, वीर का उत्साह, रौद्र का क्रोध, वीभत्स का जुगुप्सा, हास्य का हास, अद्भुत का विस्मय, करुण का शोक और भयानक का भय। इनका और संचारीभावों का विशेष विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में इनकी विशेष विस्तार से चर्चा है ('दशरूपक', चतुर्थ प्रकाश, 'साहित्य-दर्पण' चतुर्थ इत्यादि)। यहाँ रस के स्वरूप के विषय में समझने का थोड़ा प्रयत्न किया जा रहा है।

रस लोकोत्तर अनुभूति हैं, ऐसा सभी आचार्यों का कहना हैं। इसका अर्थ यह है कि लोक में जो लौकिक अनुभूति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। प्रत्यक्ष जीवन में जो शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम है वह लौकिक है। परन्तु नाटक या काव्यास्वादन से जो दुष्यन्त और शकुन्तला हमारे चित्त में बनते हैं वे उनसे भिन्न हैं। लोक में 'घट' शब्द का अर्थ है मिट्टी का बना हुआ पात्र-विशेष। किन्तु यह घड़ा स्थूल होता है। यदि हम इस शब्द का उच्चारण मन-ही-मन करें तो 'घड़ा' पद और 'घड़ा' पदार्थ सूक्ष्म रूप में चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार स्थूल घड़े के स्थान पर जो मानस-मूर्ति तैयार होगी वह सूक्ष्म घड़ा कही जाएगी। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानस-मूर्ति रचने की सामर्थ्य मनुष्य-मात्र में है। इसे ही भाव-जगत् कहते हैं। लोक में जो घड़ा है वह स्थूल जगत् का अर्थ (पदार्थ = पद का अर्थ) है और मानस अर्थ भाव-जगत् का अर्थ है। 'घट' नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म

अर्थ देता है। फिर सहृदय के मन में भाव-जगत् का पर्वत बनता है और चित्रकार जिस प्रकार की गरिमा, भयंकरता, चेतना या सौन्दर्य जागृत करना चाहता है उसी प्रकार के भाव-रूप सहृदय के चित्त में उत्पन्न होते रहते हैं। नाटक अधिक जटिल कला है। उसमें कवि और सहृदय का सम्बन्ध अभिनेता द्वारा स्थापित होता है। एक माध्यम और बढ़ जाता है। कवि-निबद्ध अर्थ पहले अभिनेता के भाव-रूप को उद्बुद्ध करते हैं और फिर उस भाव-रूप को वह स्थूल मूर्त आकार देता है। यह स्थूल मूर्त आकार फिर एक बार सहृदय के चित्त में नये सिरे से भाव-रूपों का निर्माण करता है। इसलिये नाटक में वस्तुतः दो कलाकारों के चेतन मन से छनकर सहृदय का भाव-जगत् निर्मित होता है, इसीलिये अधिक आस्वाद्य होता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' (१.१०) में कहा है कि गुण-अलंकार से काव्य का शरीर मनोहर होता है और रस उसका प्राण हुआ करता है। ऐसे श्रव्य-काव्य में भी तन्मयीभाव के कारण यद्यपि चित्तवृत्ति निमग्नाकार हो जाती है किन्तु उनमें (अभिनीयमान नाटक के समान) प्रत्यक्ष की भाँति साक्षात्कारात्मक बोध नहीं हो पाता। परन्तु नाटक में ऐसी प्रतीति हुआ करती है।

हैं। लोक में प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है। इसलिए लौकिक न होकर अलौकिक, लोकोत्तर या भावगम्य हैं।

२४. रसास्वाद

ध्वनिवादी आलंकारिक रस को व्यंग्यार्थ मानते हैं। रस, विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा व्यंजित होता है। न तो विभाव (शकुन्तला, दुष्यन्त), न अनुभाव (स्वेद, कंप आदि ही) और न व्यभिचारी या संचारी भाव ही अपने-आपमें रस हैं। मीमांसकों ने अभिधा और लक्षणा, इन दो वृत्तियों के अतिरिक्त इस तीसरी वृत्ति (व्यंजना) को स्वीकार नहीं किया। वे मानते हैं कि वाक्य में तात्पर्य नामक वृत्ति होती हैं जो कहने वाले के मन में जो अर्थ होता है उसे समाप्त करके ही विरत होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ रस-बोध तक जाकर विश्रान्त होता है। व्यंजनावृत्ति को अलग से मानने की वे आवश्यकता नहीं समझते। मीमासकों के इस का मूल है यह सूत्र—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः। (शब्द जिसके लिये प्रयुक्त होता है वह शब्दार्थं होता है।) इसका एक मतलब यह हो सकता है कि जिस अर्थ को बोध कराने के लिये शब्द प्रयुक्त होता है वही उसका अर्थं होता है (तदर्थत्व), दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि शब्द संबंध-मर्यादा से सीमित रहकर जिस अर्थ की सूचना देता है वही उसका अर्थ होता है (तत्परत्व)। पहले अर्थ की व्यापकता स्पष्ट है। परन्तु मीमांसक सम्बन्ध-मर्यादा को भी मानते हैं। इसलिये जिसे वे 'तात्पर्य' करते हैं वह सीमित हो जाता है। उससे व्यंजनावृत्ति का काम नहीं चल सकता, क्योंकि व्यंजनावृत्ति संसर्ग-मर्यादा से बँधी नहीं होती। दशरूपककार तात्पर्यवृत्ति को पहले अर्थ में लेते हैं। उनकी दृष्टि में तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। वे तात्पर्य और तादर्थ्य में भेद नहीं करते। ऐसा मान लेने पर भी व्यंजनावृत्ति से जो विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है उसका एक विशेष नाम देना आवश्यक हो जाता है। इसलिए इस वृत्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी रस को व्यंग्यार्थमात्र मानने में कठिनाई होगी। रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। भाव तो विभाव के चित्त में ही उठते हैं। दर्शक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है जिससे वह अपनी ही अनुभूतियों का आनन्द लेने में समर्थ होता है। सभी आलंकारिक आचार्य मानते हैं कि रस न तो 'कार्य' होता है और न 'ज्ञाप्य'। वह पहले से उपस्थित भी नहीं रहता। जो वस्तु पहले से उपस्थित नहीं रहती वह व्यंजनावृत्ति का विषय भी नहीं हो सकती। रस सहृदय श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होता है, पात्र के चित्त में नहीं। अतः व्यंजनावृत्ति केवल श्रोता या दर्शक के चित्त में सूक्ष्म विभाव, अनुभाव और संचारी भाव को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ कहा जा रहा है उससे भिन्न, जो नहीं कहा

जा रहा है, या नहीं कहा जा सका है, उस अर्थ की उपस्थिति करा सकती है। भरत मुनि के सूत्र का तात्पर्य यही हो सकता है कि सहृदयों के चित्त में वासना-रूप से स्थित, किन्तु प्रसुप्त स्थायी भाव ही विभावादि से व्यंजित होकर रसरूप ग्रहण करते हैं। नाटक में व्यंजना के साधन केवल शब्द ही नहीं बल्कि अभिनेता की चेष्टाएँ भी हैं। इस प्रकार नाटक एक ओर तो कवि-निबद्ध शब्दों से रस की व्यंजना करता है, दूसरी ओर अभिनेता के अभिनय द्वारा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यंजना यदि शब्द-शक्ति और अभिनय-शक्ति मात्र है तो श्रोता के प्रस्तुत भावों को व्यंजित-भर कर सकती है, उस अनुभूति को नहीं व्यंग्य कर सकती जो शब्द और अभिनय के बाहर है और श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यंजित किया जा सके।" इस कठिनाई से बचने के लिए आलंकारिकों ने पुराने आचार्य भट्टनायक के सुझाए दो व्यापारों—भावकत्व और भोजकत्व—को किसी-न-किसी रूप में मान लिया है। मतलब यह है कि कवि के निबद्ध शब्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टादि में यह सामर्थ्य भी है कि श्रोता या दर्शक को पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य स्थापित करा दे। ऐसी स्थिति में उसके भीतर पात्रों का विशेष रूप न रहकर साधारणीकृत रूप (पुरुष, स्त्री) रह जाता है, फिर उसमें एक भोजकत्व-व्यापार का आविर्भाव होता है और वह साधारणीकृत विभावादि और उनकी भावनाओं के आस्वादन में समर्थ हो जाता है।

कवि या नाटककार का कौशल पात्रों के विशेषीकरण में प्रकट होता है। हम उस कवि को ही सफल कवि मानते हैं जो पात्रों का विशेष व्यक्तित्व निखार सकता है। परन्तु ये विशेषीकृत पात्र लौकिक होते हैं। सहृदय के चित्त में जो पात्र बनते हैं वे उसकी अपनी अनुभूतियों से बनने के कारण लोकोत्तर या अलौकिक होते हैं। वह अपने ही चित्त में अपनी ही अनुभूतियों के ताने-बाने से भाव-जगत् के दुष्यन्त और शकुन्तला का निर्माण करता है। उन्हीं के सूक्ष्म भावों के निश्रण से हम रस का अनुभव करते हैं। इसलिये कवि द्वारा विशेषीकृत पात्र सामान्य मानव-अनुभूतियों से पुनर्निर्मित होकर साधारण कर दिए जाते हैं। सहृदय अपनी ही मानस-भूमि के ईंट-चूने से इस प्रासाद का निर्माण करता है। इसलिये जब अर्थ अलौकिक स्तर पर आता है तो उसमें सामान्य मानव-अनुभूतियों से निर्मित होने के कारण लौकिक विशेषताओं का एक ऐसा रूप बनता है जिसे साधारणीकृत रूप कहं सकते हैं।

भावकत्व व्यापार के द्वारा पात्रों की भावनाओं के साथ सहृदय की भावनाओं

का तादात्म्य होता है, ऐसा ऊपर कहा गया है, पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र पात्र के साथ तादात्म्य नहीं होता। कुछ रसों में श्रोता का आलम्बन वही होता है, जो आश्रय का। इस प्रकार आश्रय के साथ तादात्म्य सम्भव होता है पर कभी-कभी आश्रय ही श्रोता का आलम्बन हो जाता है। जहाँ आश्रय के साथ श्रोता या दर्शक का तादात्म्य हो जाता है वहीं रस पूर्णांग होता है। दूसरे प्रकार के रस में अपूर्णता रहती है। पहली स्थिति केवल शृङ्गार और वीर इन दो रसों में ही सम्भव है। ये ज्यादा भावात्मक होते हैं, जबकि अन्य रस अधिकतर कल्पनात्मक होते हैं। यही कारण है कि पूर्णांग रूपकों में केवल दो ही रस होते हैं—वीर और शृङ्गार।

२५. भाव

'भाव' शब्द का प्रयोग भरत मुनि ने भावित या वासित करने वाले के अर्थ में किया है। 'भाव कारण-साधन है। इसका दूसरा अर्थ है भावित या वासित करना। लोक में भी प्रसिद्ध है कि 'अहो, एक-दूसरे के रस या गंध सब भावित हो गया।' विभाव के द्वारा आहृत जो अर्थ अनुभाव से और वाचिक, सात्त्विक और आंगिक अभिनयों से प्रतीत होता है वह भाव कहा जाता है। वाचिक, आंगिक और मुखरागादि सात्त्विक अभिनय द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावन कराते हुए होने के कारण यह भाव कहा जाता है। नाना अभिनय सम्बन्ध वाले रसों को भावित कराने के कारण ये भाव कहे जाते हैं।' (नाटयशास्त्र ७.१-३) इससे जान पड़ता है कि विभाव द्वारा आहृत अर्थ को अनुभावादि द्वारा प्रतीति योग्य करने के कारण, कवि के अन्तर्गत भाव को अभिनयादि द्वारा भावना का विषय बनाने के कारण, विविध अभिनयों से सम्बन्ध रखने वाले रसों को सुवासित या रंजित करने के कारण इनका नाम भाव है। तीन स्थितियाँ हुईं—(१) कवि के अन्तर्गत भाव, (२) विभाव द्वारा आहृत अर्थ और (३) अभिनयों से दर्शक के चित्त में अनुभूत होने वाला रस। एक को प्रतीति-योग्य कराने का काम भाव का है (कवि के अन्तर्गत भाव को), दूसरे को भावना का विषय बनाने का काम भाव का है (विभावाहृत अर्थ को), तीसरे को रंजित या वासित करने काम भाव का है (अनुभूति को)। इस प्रकार भाव कवि के चित्त में स्थित भावों को प्रतीति-योग्य बनाता है, विभाव द्वारा आहृत अर्थ को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव को भावित, वासित या रंजित करता है। ये केवल पात्र की मानसिक अवस्थाएँ नहीं हैं। कवि के भावों को प्रतीत के साधन, अनुकार्य पात्र की मनः स्थिति के साथ सहृदय के मनोभावों का सामंजस्य-स्थापन और उसके अन्तःकरण में प्रसुप्त स्थायी भाव को बहु-विचित्र रंगों और वर्णों से रंजित-

वासित करके अधिक उपभोग्य बनाने के साधन हैं। भरत मुनि ने 'भाव' शब्द का प्रयोग अभिनेता को दृष्टि में रखकर किया है। उन्होंने परिभाषा देते समय अवश्य ही मानसिक आवेग-संवेगों के अर्थ में इसका प्रयास किया है। इनमें आठ स्थायी हैं, आठ सत्त्वज हैं और ३३ व्यभिचारी हैं। वैसे तो सभी व्यभिचारी हैं, पर आठ अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होने के कारण स्थायी कहे गए हैं।

कई बार इन्हें मनोभाव-मात्र समझने का प्रयत्न किया जाता है। व्यभिचारी या संचारी कहे गए भावों में कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें मानसिक संवेग कहा जा सकता है (जैसे आवेग, अवमर्ष, अवहित्था, त्रास, हर्ष, विषाद इत्यादि); कुछ विकल्प कहे जा सकते हैं (जैसे शंका, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क इत्यादि); कुछ को वेगावरोध कहा जा सकता है, (जैसे दैन्य, मद, निद्रा, जड़ता, मोह आदि) और कुछ को वेग-प्रभृति कहा जा सकता है (जैसे श्रम, अपस्मार, इत्यादि) और कुछ ऐसे भी हैं जो विप्रकर्षी संवेग माने जा सकते हैं (जैसे लज्जा, असूया, गर्व आदि)। इसलिये जो लोग इन भावों का अध्ययन मानसिक भाव-मात्र के रूप में करते हैं, वे इसके साथ न्याय नहीं करते। भाव पात्र के मन में होता है, कवि द्वारा निवद्ध होता है, अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाया जाता है और सहृदय द्वारा रसानुभूति की बहुविचित्र आस्वाद के योग्य बनाने में सहायक होता है।

कवि जैसा चाहता है वैसा अर्थ विभाव के द्वारा आहृत करता है। पात्र जैसा भाव प्रकट करता है, उसे ही अभिनेता प्रतीति-योग्य बनाता है, अभिनेता जिस अर्थ को प्रतीति योग्य बनता है, सहृदय उसीको भावना का विषय बनाता है! इस प्रकार कवि-निबद्ध पात्रों के भाव अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाए जाकर सहृदय द्वारा प्रभावित होते हैं। इसलिये अभिनेता के द्वारा प्रतीति उत्पन्न करने के साधन भाव-मनोविकारों को प्रतीति-योग्य बनाने के साधन हैं। इनसे सम्यमान भाव सहृदय के चित्त में सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर रूप में आविर्भूत होता। लौकिक मनोविकार में तीन बातें होती हैं—ज्ञान (सत्त्वगुण), इच्छा (रजोगुण), क्रिया (तमोगुण)। मनुष्य कुछ जानता है, कुछ चाहता है, कुछ करता है। सहृदय के चित्त में आते आते अन्तिम दोनों तत्त्व क्षीण हो जाते हैं। इसी को शास्त्रकारों ने 'सत्त्वोद्रेक' कहा है। यह सत्त्वोद्रेक भावों को विशुद्ध जानकारी के रूप में ले आ देते हैं और सहृदय रसानुभूति के योग्य बनता है। विचार करके देखा जाए तो यह सारी प्रक्रिया दर्शक के अनन्तरतर में व्याप्त उसके शुद्ध चैतन्यरूप के उद्घाटन में समर्थ होती है। शुद्ध चैतन्य का उद्घाटन ही आनन्द है। इसमें नानात्व में सामान्य 'एक' की उपलब्धि होती है। कई बार भाव रसानुभूति के स्तर पर नहीं पहुँचा सकते। वे जानकारी के स्तर पर रहकर सहृदय

के भीतर केवल आंशिक आनन्द को उत्पन्न कर पाते हैं। कई रूपकों में यद्यपि रस की स्थिति मानी गई है, पर वस्तुतः वे भाव तक ही रह जाते है। भरत मुनि के युग में जो तमाशे प्रचलित थे उनमें जो कुछ अधिक उच्चकोटि के थे उन्होंने रूपक की मर्यादा दी अवश्य, पर वे पूर्णाङ्ग रूपक नहीं है। पूर्णाङ्ग रूपकों में वीर और शृङ्गार रस ही हो सकते हैं। एक ओर रस हो सकता था—अनुकम्पा स्थायी भाव वाला करुण। पर इस देश में उसका प्रचार नहीं था।

नाटक ही श्रेष्ठ रूपक है

वस्तु, नेता और रस इन तीन तत्त्वों के आधार पर रूपकों के भेद किए जाते है। यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि इनमें प्रधान रस है, वस्तु गौण। कथावस्तु जितना ही अधिक परिचित या प्रख्यात होगा, नाटककार को रस-व्यंजना में उतनी अधिक सहूलियत होगी। प्रख्यात कथा नाटक की कथावस्तु होती है। इसीलिये नाटक भारतीय साहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-रूप है। अरस्तू ने प्लॉट या कथावस्तु को तर्जदी नाटकों की आत्मा कहा था (पोएटिक्स १४५.० अ ३८)। परन्तु भारतीयपरंपरा कथावस्तु को गौण और रस को मुख्य मानती है। प्रख्यातचरित में कथा द्रष्टा की जानी हुई है। नाटककार रस के अनुकूल कथावस्तु और पात्रों के चरित्र में भी काट-छाँट का अधिकार रखता है। कालिदास और भवभूति आदि कवियों ने ऐसी काट-छाँट की है। भारतीय नाटक अपने ढंग का अनोखा ही है—रस के अविरुद्ध नायक और रसोचित नायक के अनुरूप वस्तु, लेकिन वस्तु की मोटी-मोटी बातें सर्व विदित ! इसमें कथावस्तु की जटिलता के चक्कर में न पड़कर कवि रसानुकूल घटनाओं और आवेगों के जागृत करने में अपने कौशल का परिचय देता है। प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य होता है। उसमें कवि को काल्पनिक कथावस्तु के निर्माण की छूट है. पर यह कथा भी बहुत-कुछ जानी हुई रहती है। वह इतिहास से अर्थात् रामायण-महाभारत से नहीं ली जाती. पर 'कथा-सरित्सागर' आदि लौकिक आख्यानों से ली गई होतो है। इसमें नाटककार को यथार्थ लोक-जीवन को चित्रित करने को स्वतन्त्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है। नाटिका की कथा कल्पित होती अवश्य है, पर बहुत-कुछ उसकी कथावस्तु मिश्रित ही होती है। कोई लड़की, जिससे विवाह होने पर राजा का कल्याण होने वाला होता है, किसी संयोग से अन्तःपुर में पहुँचाई जाती है। राजा की दृष्टि उस पर पड़ती है। अनुराग बढ़ता है। रानी सशंक होकर सावधान होती है, फिर अनुकूल होती है। प्रायः बाद में पता चलता है कि लड़की रानी की दूर-रिश्ते की कोई बहन है। यही नाटिकाओं की सामान्य कथावस्तु है। प्रधान उद्देश्य कथा की ज़टिल प्रक्रिया नहीं, रसोद्रेक है। भारतीय जीवन में कर्मफल की अवश्यभाविता स्वीकृत

जीवन-दर्शन है। बुरा करने वाले को बुरा और भला करने वाले को भला फल मिलना आवश्यक है। इस आदर्श ने भारतीय नाटकों को ग्रस लिया था। अच्छे-भले आदमी को नियति के क्रूर विधानों के आगे हतबुद्धि होकर परास्त होना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों के सम्मुखीन होना पड़ता है जो उसकी शक्ति से कहीं अधिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण उसे लाचार बना देती हैं। शुभ बुद्धि वाले मनुष्य को भी हारना पड़ता है। यह बात भारतीय नाटकों में नहीं मिलती। जहाँ मिलती है वहाँ देवता भले की सहायता के लिये आ जाते हैं, और सब-कुछ का अन्त शुभ परिणाम में होता है। 'शाकुन्तल' में अप्सरा सहायक होती है, 'नागानन्द' में गौरी सहायतार्थ आ जाती हैं, उत्तर-चरित' में देवियाँ सहायक सिद्ध होती हैं। जो बातें पश्चिमी नाटकों में घोर नैराश्य और क्रूर परिहास का विषय वन सकती थीं, वे दैवी शक्तियों की सहायता से सुलझ जाती हैं।

नाटकों में प्रतिनायक को परास्त होना पड़ता है। प्रतिनायक सदा नायक की तुलना में हीनबल, विकत्थन, उद्धत और शिथिल-चरित्र चित्रित किया जाता है। ऐसा न किया जाय तो कर्मफल की आवश्यंभाविता वाले जीवन-दर्शन की नींव ही कमजोर हो जाए। नायिका के लिए समान भाव से प्रेमरागी नायक और प्रतिनायक अन्तिम दृश्य को सुखकर बनने में बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिये जिसे हारना है उसे शिथिल-चरित्र का व्यक्ति बनाना आवश्यक हो जाता है। जिसे जीतना है उसे उदात्त वनाना भी उतना ही आवश्यक है। इस बात ने भारतीय नाटकों में वैचित्र्य की कमी ला दी है। फिर भी भारतीय कवियों ने बहुत उत्तम रसपरक नाटक-साहित्य का निर्माण किया है। संसार के मनीषियों ने मुक्त कण्ठ से इस साहित्य की प्रशंसा की है। प्रयोग-क्षेत्र की सीमा ने नाटककारों को अत्यधिक वेगवती और गम्भीर रसव्यंजना की सर्जना में सहायता पहुँचाई है। जो वात नाटकों-नाटिकाओं और प्रकरणों के बारे में सत्य है वह अन्यान्य रूपकों के बारे में सत्य नहीं है। भरत के अपेक्षाकृत समसामयिक नाटककार भास ने नाटक और प्रकरण के अतिरिक्त अन्य रूपकों की रचना की है, पर परवर्ती उच्चकोटि के नाटककारों का मन उत्तम कोटि के नाटकों के निर्माण में ही रमा है। बहुत बाद के कुछ नाटककारों ने नाट्य-लक्षणों के अनुसार अन्य रूपकों की रचना का कौशल दिखाया भी तो वह बहुत लोकप्रिय नहीं हो सका।

ऊपर दिखाया गया है कि शृङ्गार और वीर ये दो रस ऐसे हैं जहाँ सहृदय का चित्त आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाता है। करुणा में भी वह स्थिति आ सकती है, पर अंगीरूप में करुण को भारतीय जीवन-दर्शन के कारण

स्थान नहीं मिल सका। बाकी रसों में सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं हो पाता और आश्रय, अधिक-से-अधिक, सहृदय का आलंबन बन जाता है। जिस साधारणीकरण से सहृदय के चित्त में सामान्य मनुष्यत्व के साथ एकात्म्यता का बोध होता है वही वास्तविक आनन्द का हेतु है। शास्त्रकारों ने भयानक, बीभत्स हास आदि को भी रस की मर्यादा दी है, पर वास्तव में ये भावकोटि तक पहुँच कर रह जाते हैं एक और रस, जिसे भरत मुनि ने नाटच-रस की मर्यादा नहीं दी है, भक्ति स्थायी भाव वाला रस है जिसमें आश्रय के साथ तादात्म्य की सम्भावना है। किसी-किसी आचार्य ने रसों की संख्या परिमित करने को केवल मुनि के प्रति आदर-प्रदर्शन के लिये माना है। वे रसों और भावों की संख्या अधिक मानने के पक्ष में हैं। यदि हास, जुगुप्सा, क्रोध आदि स्थायी भाव हैं तो इन्हीं के समान अन्य मनोभाव भी स्थायी हो सकते हैं, ऐसा नाटचदर्पणकार का मत है। उन्होंने लिखा है कि "विशेष रूप से रंजनाकारक होने के कारण और पुरुषार्थी के लिये अधिक उपयोगी होने के कारण शृङ्गारादि नौ रस (शान्त के सहित) ही पुराने सदाचार्यों के द्वारा उपदिष्ट हैं। किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं, जैसे गृध्नुता या लालच स्थायीभाव वाला लौल्य रस, आर्द्रता स्थायी भाववाला वात्सल्य रस, आसक्ति स्थायी भाव वाला व्यसन रस, अरति या बेचैनी स्थायीभाव वाला दुःख रस, सन्तोष स्थायीभाव वाला सुखरस इत्यादि। परन्तु कुछ आचार्य पूर्वोक्त नौ रसों में ही उनका अन्तर्भाव कर लेते हैं।" ('नाटचदर्पण' ३.१११)।

भारतीय नाटचपरंपरा बहुत पुरानी है। कई बार इसके साथ यावनी नाटच-परंपरा की तुलना करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इसका अमुक अंश मिलता-जुलता होने से वहीं (यवन-परंपरा) से लिया गया है परन्तु यह बात उचित नहीं है। इसका स्वतन्त्र विकास हुआ है और कर्मफल की आवश्य-भावी प्राप्ति के अद्वितीय भारतीय तत्त्व-दर्शन के अनुकूल हुआ है। आधुनिक दृष्टि से इसमें कमियाँ मालूम पड़ सकती हैं, पर आधुनिक दृष्टि सम्पूर्ण रूप से भिन्न जीवन-दर्शन का परिणाम है।

९. नाटचशास्त्र और यावनी परंपरा

१९ वीं शताब्दी में कई यूरोपियन पण्डितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय नाटचों के विकास में भारत के साथ ग्रीस के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक Indian Literature में तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि बैक्ट्रिया, पंजाब और गुजरात में ग्रीस शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों के अभिनय होते थे। उनसे भार-

तीय नाटक और नाटकीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा लेख प्राप्त हुआ, जिससे 'रामायण-महाभारत' आदि के अभिनय की परम्परा पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई, तो वेबर ने अपने मत में थोड़ा सुधार कर लिया। वे इतना कहकर सन्तुष्ट हो गए कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ ग्रीक-प्रभाव जरूर पड़ा होगा।

पिशेल नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा ज़ोरदार खंडन किया. जिसका प्रत्याख्यान सन् १८८२ में विंडिश नामक जर्मन पण्डित ने किया विंडिश यह तो मानते हैं कि भारतवर्ष में स्वतन्त्र भारतीय नाटक के विकास के तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। परन्तु 'महाभाष्य' में उल्लिखित 'रामायण-महाभारत' की लीलाओं से परवर्त्ती काल के शास्त्रीय-सिद्धान्त-मर्यादित नाटकों को भिन्न समझते हैं, उनका कहना है कि परवर्त्ती काल के नाटकों की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया, जो पौराणिक पात्र थे, वे गृहस्थ के दैनन्दिन जीवन के साँचे में ढाले गए, नाटकों की प्रधान काव्य-वस्तु कामदी-प्रेम बन गया। कथावस्तु का कलात्मक विकास हुआ जिसमें अंगों और दृश्यों में उनका विभाजन किया गया, पात्रों के ढाँचे में विकास हुआ, वार्तालाप के विकास के सामने महाकाव्यात्मक तत्त्व पीछे रह गए, पद्यों के साथ-साथ गद्य का मिश्रण हुआ और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों में अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब यों ही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व नया आया होगा। विंडिश का यही अनुमान है कि यह नया तत्त्व ग्रीक लोगों के साथ भारतीयों का सम्पर्क ही है। विंडिश के इस मत की बड़ी चर्चा हुई। उसके बाद भारतीय कला और शिल्प के अन्यान्य क्षेत्रों में ग्रीक-प्रभाव की काफ़ी चर्चा हुई। मूर्तिकला के क्षेत्रों में गान्धार की मूर्तियों को ग्रीक-मूर्तिकला की देन बताया गया और परवर्ती काल में एक नवीन स्वतन्त्र भारतीय कला के विकास में उसे प्रेरक-तत्त्व समझा गया। प्रो० सिल्वा लेवी ने विंडिश के नाटक-सम्बन्धी मत का तो बड़ा ज़ोरदार खण्डन किया, किन्तु उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया कि अश्वघोष के माध्यम से बौद्ध धर्म में भी नवीन प्राणों का स्पन्दन दिखाई देता है। उसका कारण पश्चिम से आई हुई धार्मिक विचाराधारा थी। इस प्रकार विंडिश ने जिस ग्रीक प्रभाव को भारतीय नाटकों का प्रेरक तत्त्व बताना चाहा था उसका अस्तित्त्व शिल्प और धर्म के दूसरे क्षेत्रों में भी स्थापित करने का प्रयत्न हुआ। अब प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ग्रीक शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों का अभिनय हुआ करता था? दुर्भाग्यवश इसके पक्ष या विपक्ष में कहने योग्य प्रमाण कम हैं। सन् १९०९ में 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की पत्रिका में सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ जॉन मार्शल ने पेशावर में प्राप्त एक बरतन

पर ग्रीक नाटक 'एण्टिगोन' के एक अभिप्राय का अंकन बताना चाहा, परन्तु प्रायः सभी विद्वानों ने उसे सन्देहास्पद और कष्ट-कल्पित माना। अलक्षेन्द्र के बारे में अवश्य कहा जाता है कि वह नाटक देखने का बड़ा शौकीन था और यह भी सुना जाता है कि अकेले एकवताना (Ekbatana) में ही तीन हजार ग्रीक-कलाकार थे। परवर्त्ती ग्रीक लेखकों ने लिखा है कि इरानी जेड़रोशियन (Gedrosions) और शुशा (Susa) के लोग यूरीपाइड और सोफ़ोक्लिस के नाटकों के गीत गाया करते थे। और परवर्ती ग्रीक लेखक 'फिलोस्ट्रेटस' (Philostratos) ने तो एक ब्राह्मण की चर्चा की है जिसे गर्व था कि उसमें यूरीपाइड का नाटक 'हेराक्लीदई' (hearkleidai) पूरा पढ़ लिया है। प्रो० सिल्वाँलेवी इन वक्तव्यों को अतिरंजित और सन्देहास्पद मानते हैं। जो हो, यह मानलिया जा सकता है कि भारतवर्ष में जो ग्रीक लोग आए होंगे वे कुछ-न-कुछ अपने देश के नृत्य, गान, नाटक आदि का अभिनय भी कराते होंगे। जिन शासकों ने ग्रीक कलाकारों को बुलाकर सुन्दर सिक्के ढलवाए उनसे उतने कला-प्रेम की आशा तो की ही जा जा सकती है; परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि सचमुच इन नाटकों ने भारतीय नाटकों को प्रभावित किया होगा? विंडिश का कहना है कि ईसवी पूर्व ३४० और २६० के बीच जो ग्रीस में नयी ऐक्टिक कामेडियाँ लिखी गयी वे ही भारतीय नाटकों को प्रभावित करने वाले मूल स्रोत मानी जा सकती हैं, परन्तु जैसाकि श्री ए० वी० कीथ ने अपने 'संस्कृत नाटक' नामक ग्रन्थ में बताया है, "संस्कृत नाटक और कामेडियों में जो सम्वन्ध हैं वह बहुत थोड़ा है।" श्री ए० बी कीथ ने और भी कहा है कि विंडिश का यह कहना कि ग्रीक (रोमन) और भारतीय दोनों नाटकों से अंकों और दृश्यों का विभाजन होता है, दोनों में सभी पात्र प्रत्येक दृश्य के अन्त में रंगमंच छोड़ देते हैं, अंकों की संख्या साधारणतः पाँच होतो है (भारतीय नाटकों में यह संख्या प्रायः अधिक होती है) कोई बहुत महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं है, क्योंकि यह संयोगजन्य साम्य भी हो सकता है। संस्कृत-नाटकों का अंग-विभाजन एक्शन के विश्लेषण (Analisation of action) पर आधृत होता है; जो ग्रीस और रोम में कहीं भी अनुलिखित नहीं है। इसी प्रकार दृश्य-सम्बन्धी रूढ़ियों में जो समानता है, जनान्तिक और अपवार्य भाषण की रूढ़ियों में जो एकरूपता है और किसी पात्र के प्रवेश के समय रंगमंच पर उपस्थित किसी अन्य पात्र से उसके सम्बन्ध में परिचयात्मक वाक्य कहलाने की समान प्रथाएँ हैं, वे भी ऐसी हैं जो एक ही परिस्थिति में खेले जाने वाले नाटकों में अवश्य नियोज्य हैं, उनकी समानता के ग्रीक या रोमन प्रमाण की स्थापना नहीं की जा सकती। (संस्कृत ड्रामा में ए० वी० कीथ, पृ० ५८-५९) आज कल के वैज्ञानिक युग में भी नवागत पात्र के परिचय कराने की आवश्यकता अनुभव की ही जाती है।

डॉ० राघवन् ने संस्कृत-नाटकों के वस्तु विषय को बहुत सुन्दर ढंग से बताया है—संस्कृत में नाटक प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है जिसमें सूत्रधार और उसका कोई सहयोगी सम्भाषण करते हैं और कवि (नाटककार) तथा नाटक का परिचय प्रस्तुत करते हैं। कथावस्तु का आयोजन परिच्छेदों में किया जाता है, जिन्हें अंक कहते हैं और जिनकी सीमा चार से लेकर दस तक होती हैं। अंक में दृश्य-परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उनमें दृश्यों के विभाजन का संकेत नहीं किया जाता। अंकों में एक नैरन्तरिक कार्य-कलाप होता हैं जो एक दिन की अवधि का नहीं होता। अंकों में उच्चतर अथवा निम्नतर चरित्रों का एक प्रस्तावनात्मक दृश्य हो सकता है। इसका प्रयोजन कथावस्तु में एकसूत्रता अथवा नैरन्तर्य की स्थापना करना, दर्शकों को कथा-वस्तु का बोध कराना और उन घटनाओं के विषय में सूचना देना अथवा वार्तालाप कराना होता है जो रंगमंच पर प्रमुख अंकों में प्रदर्शित न किये जा सकते हों। पूर्व-निर्देश के अभाव में कोई पात्र मंच पर अवतरित हो सकता। नाटक की मूल वस्तु में गद्य तथा पद्य-शैलियों का मिश्रण होता है। पद्य का प्रयोग उस स्थान पर होता है जब किसी आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति अथवा उच्च प्रभाव की सृष्टि की आवश्यकता होती हैं गद्य और पद्य के मिश्रण की भाँति ही साहित्यिक तथा लौकिक भाषाओं का भी मिश्रण होता है। उच्चवंशीय तथा शिक्षित पुरुष-पात्र संस्कृत बोलते हैं और निम्नतर श्रेणी के पात्र, स्त्री-पात्र तथा साधाणर सभासद् प्राकृत बोलते हैं, जो निम्न श्रेणी के पात्रों की संख्या तथा प्रवृत्ति के अनुसार कभी-कभी विभिन्न प्रकार की होती है। कार्य संक्षिप्त अवधि का भी हो सकता है अथवा वर्षों तक फैला हुआ भी हो सकता हैं और इसी प्रकार एक विशिष्ट स्थान पर भी घटित हो सकता है अथवा विभिन्न स्थानों तक भी उसका विस्तार हो सकता है। कथावस्तु प्रसिद्ध महाकाव्यों से ली जा सकती है अथवा कल्पित या भिन्न भी हो सकती है। कथावस्तु के प्रख्यात होने पर भी नाटककार उसे अपने नाटक के भाव तथा प्रयोजन के उपयुक्त नया रूप दे सकता है; क्योंकि संस्कृत-नाटककार उसे अपने नाटक में उदात्त चरित्रों तथा दर्शकों के अन्तस्थल पर उदात्त भावों का प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया करता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए। (संस्कृत लक्षण-ग्रंथों के अनुसार नाटक एक विशेष जाति का अभिनेय रूपक है। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है।)

इन दृष्टियों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल वस्तु के अवयवों, कथावस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वस्तुतः रस ही संस्कृत के सभी काव्य-नाटकों का लक्ष्य है। रस तक ले जाने के कारण

ही नायक (ले जाने वाला) नायिका (ले जाने वाली), अभिनय (ले जाने का पूर्ण साधन) आदि शब्दों की रचना हुई है। वह कथा की उन घटनाओं को, जो उसके कथानक के लिये आवश्यक होती थीं अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थीं, परित्यक्त अथवा पुनर्निमित करता था। यहीं वह अपने स्वयं के चरित्रों की सृष्टि कर लेता था। कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण, जो पश्चिमी नाटकों के सर्वस्व होते हैं, भारतीय नाटचकला में रस के साधक होते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र-चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक-निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

'यवनिका' शब्द ने भी अनेक प्रकार की ऊहापोहों की उत्तेजना दी है, परन्तु विंडिश और लेवी ने इस शब्द से उत्पन्न भ्रान्त धारणाओं का निरसन कर दिया है। वस्तुतः यवनिका या 'जवनिका' संस्कृत के 'यमनिका' शब्द के प्राकृत रूप हैं जिसका अर्थ होता है, संयमन की जाने वाली पटी (तु० अपटीक्षेप प्रवेश) या परदा। यदि यह शब्द किसी प्रकार 'यवन' शब्द से सम्बद्ध मान भी लिया जाए तो भी इसका अर्थ केवल विदेशों से आयी हुई वस्तु ही होगा। भारतीयों का प्रथम परिचय आयोनियन (Ionion) लोगों से हुआ था, उसीसे संस्कृत का 'यवन' और पालि का 'योन' शब्द बना है। बाद में इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और हेलेनिज परसियन साम्राज्य के सभी देशों के निवासियों के लिए इसका प्रयोग हुआ है, मिस्र (Egypt) ईरान (Persia) सीरिया, वाह्लीक (Wahlic) आदि सभी देशों के निवासी यवन कहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विशेषण से स्मरण की जाती थीं। लेवी ने ईरान के बने परदों को यवनिका कहा है। वस्तुतः जैसा कीथ ने कहा है, ग्रीक नाटकों में परदे होते ही नहीं थे। स्वयं विंडिश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते हैं कि ग्रीक रंगमंच के पीछे जो चित्रित दृश्यावली होती थी उसे ही भारतीय रंगमंच में परदे से सूचित किया जाता होगा, इसलिए उसको 'यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपियन पण्डितों ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है, फिर भी 'यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यञ्जनाकारी है कि इससे उत्पन्न भ्रान्त धारणा इस देश में बनी हुई है और आए-दिन अच्छे-अच्छे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को अम्लानभाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० राघवन् ने ग्रीक और संस्कृत-रंगमंचों को तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि 'भारतीय रंगमंच पर नाटय-रूपों की विविधता पहले से हो थी, जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'तर्जदी' यूनानी नाटकों

का सर्वोत्कृष्ट रूप था और संस्कृत-रंगमंच पर यूनानी तर्जदी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नहीं हुआ। वस्तुतः इसके सिद्धान्त रंगमंच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत-रंगमंच में यूनानी रंगमंच के समान कोई गायक-वृन्द नहीं होता था और यूनानी सिद्धांत के अनुसार अनिवार्य संकलन-त्रय के सिद्धान्त से देश-काल के संकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड़ दिए गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी-रंगमंच का भारतीय रंगमंच के विविध रूपों से—जिनका भरत ने कुछ विशदता से वर्णन किया है—कोई साम्य नहीं है। भरत के—जिनका ग्रंथ अरस्तू के पोयटिक्स तथा 'रिटारिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है—पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष, त्रास, करुणा तथा विरेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय-से हैं। परदे के लिये प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द, रंगमंच पर आने वाले राजकीय अनुचरों में यवन स्त्रियों कीं उपस्थित आदि तथ्यों में भी यवन-सम्पर्क के कुछ प्रमाण खोजे गए हैं। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास परदे के लिए 'पटी', 'तिरस्करणी', 'प्रतिशिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि शब्द देशीय तथा युक्तियुक्त न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन रूपों की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट अंग वे हैं जिनका यूनानी नाटकों में अभाव है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय माध्यम। सिलवाँ लेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में शकों के प्रभाव में विकसित हुए हैं। उनके आधार-भूत प्रमाण नितान्त सारशून्य हैं। कीथ के अनुसार संस्कृत-नाटकों का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न हैं।

'यवनिका की ही भाँति संस्कृत-नाटकों में राजा की अंगरक्षिका के रूप में यावनी बालाओं की उपस्थिति को भी ग्रीक रंगमंच के प्रभाव का निदर्शक बताया जाता है, पर जैसा कि श्री कीथ ने कहा है कि ग्रीक नाटकों में अंगरक्षिकाओं का कोई अस्तित्व नहीं है, यह अधिक-से-अधिक ग्रीक रमणियों के प्रति भारतीय राजाओं का झुकाव ही सिद्ध करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] तथा मैगस्थनीज़ आदि के लेखों से इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

विंडिश ने नाटिकाओं के साथ कई कामदियों का आश्चर्यजनक साम्य दिखाया है और इनमें तथा अन्य संस्कृत-नाटकों में जो अभिज्ञान या सहिदानी का अभिप्राय आया है उसे ग्रीक प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीथ

१ अध्याय १, पृ० २१।

ने कहा है, अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयों को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिये ग्रीस जाना पड़ा, कुछ तुक की बात नहीं है। यह और बात है कि जिन कथाओं और काव्यों में इस प्रकार के अभिप्रायों का प्रयोग है, उनकी तिथि सर्वत्र संदेहास्पद बताई जाती है। ब्लूम फ़ील्ड आदि विद्वानों ने भारतीय कथानक-रूढ़ियों का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके प्रयत्नों से इस रूढ़ि की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो गई है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु, नाम आदि को लेकर विंडिश ने अपने सिद्धान्त स्थिर किए थे, पर भास के 'चारुदत्त' नामक नाटक के मिलने से, जो मृच्छकटिक' का मूल रूप है, अब उसका भी वज़न कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' में कुछ नयापन है अवश्य, और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। राजनीतिक उलटफेरों से गणिका वसन्तसेना का रानी मर्यादा पा लेना नयी-सी बात है, पर उसका पहली रानी के साथ-साथ विवाहित पत्नी के रूप में रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बातें कही गई हैं वे निराधार और कष्ट-कल्पित हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि ग्रीकों-जैसी शक्तिशाली जाति के सम्पर्क में आने के बाद भारतीयों-जैसी अद्भुत कल्पनाशील जाति के विचारों और कल्पना-शक्ति में कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा, पर जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्तों का प्रश्न है, उसकी बहुत ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश में विद्यमान थी। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यावनी साहित्य और विचार-धारा भारतीय सम्पर्क में आकर कुछ लेने में हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों जातियों में कुछ ऐसा आदान-प्रदान हुआ अवश्य होगा, पर उसे नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों को ग्रीक-साहित्य की देन कहना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई यूरोपियन पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रहकर विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक-रोमन नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में जो 'टाइप' की प्रधानता है वह सिद्ध करती है कि आरम्भ में ये अनुकरणमूलक रहे होंगे और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया होगा। पुराने टाइपों का रह जाना उनके मत से रोमन कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही लक्षण है, क्योंकि यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया, पर पुराना गया नहीं। यह बात कितनी निराधार है, यह श्री कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है :

"The similarity of types is not at all convincing, the borro-

wing of the idea of using different dialects from the mime is really absurd and the large number of actors is equally natural in either case."

अर्थात् टाइपों की समानता बिलकुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग-सम्बन्ध में माइम से उधार लेने वाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों देशों के नाटकों में समान रूप से सम्भव है।

श्री कीथ ने ज़ोर देकर कहा है कि ग्रीक-रोमन कामदियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिचित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण कथावस्तु में जो विकास हो जाता है, वह उसमें एकदम नहीं मिलता।

ऊपर संक्षेप में आधुनिक विद्वानों की कुछ ऊहापोहों की चर्चा की गई है। इस चर्चा का उद्देश्य केवल पाठकों को नये विचारों से परिचित करा देना था। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों के विकास में बाहरी प्रभाव की बातें विशुद्ध अटकल पर आधारित हैं और नाटचशास्त्र के विकास में तो किसी विदेशी परंपरा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। नाट्यशास्त्र की परंपरा बहुत पुरानी—हज़रत ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

दशरूपक

प्रथम प्रकाश

ग्रंथ के आरम्भ में मंगलाचरण महापुरुष करते आए हैं। अतः मंगल करना परम कर्तव्य है, इस बात को ध्यान में रखकर ग्रंथकार निर्विघ्न ग्रंन्थ की समाप्ति के लिए प्रकृत और अभिमत देवताओं की स्तुति दो श्लोकों से कर रहे हैं—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे॥ १॥

मयूर के नृत्य के समय मेघों की गड़गड़ाहट जैसे मृदंग का काम देती है वैसे ही गणेशजी का मुख भगवान् शंकर के नृत्य-काल में मद के विस्तार से निविड़ध्वनि करने वाले मृदंग का आचरण करता है [मृदंग की कमी को पूरा करता है], उस गणेशजी को नमस्कार है ॥१॥

इस श्लोक में 'मदाभोगघनध्वानः' इस श्लोकांश में 'घनध्वानः' इस आधे अंश के श्लेषमय होने कारण उपमा नामक अलंकार-ध्वनि दृष्टिगोचर होती है। यहाँ पर 'घनध्वानः' में श्लेष होने से मयूरपक्ष में भी अन्वय (अर्थ) बैठ जाता हैं। यहाँ पर श्लेष के बिना उपमा की निष्पत्ति असम्भव है। अतः श्लेष द्वारा यहाँ पर उपमा का आक्षेप कर लिया जाता है।

('उपयाच्छाया' जो कहा गया है उसका अर्थ है उपमा का अस्पष्ट रहना, क्योंकि गुण पदार्थ जो मेघध्वनि है उसका द्रव्य पदार्थ जो मृदंगमुख के सदृश आचरण करना है वह असम्भव है।)

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताये च॥ २॥

सर्वविद् भगवान् विष्णु और आचार्य भरत को नमस्कार हैं, जिनके भक्त दस रूपों के ध्यान और अनुकरण आदि के द्वारा प्रसन्न हुआ करते हैं ॥२॥

विष्णु के भक्त भगवान् के मत्स्य, कूर्म, बराह आदि दस अवसरों की प्रतिमा बना-बनाकर तथा पूजन आदि के द्वारा प्रसन्न होते हैं तथा आचार्य भरत की शिष्य परंपरा उनके द्वारा प्रचारित दस रूपों अर्थात् रूपकों के अभिनय के द्वारा प्रसन्न होती है। ऐसे भगवान् विष्णु और आचार्य भरत को नमस्कार है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने और सुनने से लोग किस प्रयोजन की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होंगें, इस बात को ग्रन्थकार बताते हैं—

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥ ३ ॥

सरस्वती कृपा करके ग्रन्थ में प्रतिपादन करने के योग्य कोई वस्तु कवि के मन में कदाचित् कभी ला देती हैं, जिसका प्रतिपादन वह अपने ग्रंथ में करता है और उसका अध्ययन करके दूसरे लोग उस विषय में पाण्डित्य प्राप्त करते हैं ॥३॥

अब ग्रंथकार इस ग्रंथ की रचना में अपने प्रवृत्त होने का कारण बताते हैं—

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किंतु किंचित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥४॥

ब्रम्हा ने वेदों से सारभाग को लेकर जिस नाट्यवेद की रचना की और आचार्य भरत ने सांसारिक वासनाओं से मुक्त मुनि होते हुए भी जिस नाट्य-वेद को प्रयोगरूप में प्रस्तुत किया (लाया), जगज्जननी पार्वती ने जिसके लिये लास्य और जगत्-पिता भगवान् शंकर ने जिसके लिये ताण्डव प्रदान किया उस लोकोत्तर नाट्यवेद के अंग-प्रत्यङ्गों के निरूपण में कौन समर्थ हो सकता है ? फिर भी मैं प्रकृष्ट प्रतिपादन शैली के द्वारा उसके लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हुं ॥ ४ ॥

कहीं कोई यह न समझ बैठे कि भरत नाट्यशास्त्र की ही बातों का इसमें अक्षरशः वर्णन किया गया है, अतएव इसमें पुनरुक्ति दोष अवश्य होगा, इस बात का निराकरण ग्रन्थकार इस प्रकार से कर रहे हैं—

व्याकीर्णे मन्दबुद्धिनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥ ५ ॥

भरत मुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र विस्तार के साथ लिखा गया है। उसमें रूपक रचना सम्बन्धी बातें यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। अतः मन्द बुद्धि वाले लोगों के लिये मतिभ्रम होने की संभावना बनी हुई है। इस लिए साधारण बुद्धि वालों के लिए उसी नाट्यवेद के शब्द और अर्थो को लेकर संक्षेप में सरल रीति से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूं ॥५॥

इस ग्रन्थ का फल दशरूपकों का ज्ञान है, पर दशरूपकों का फल आनन्द देना है इस बात को निम्नलिखित प्रकार से बताया जा रहा है—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥ ६ ॥

जिनसे आनन्द झरता रहता है ऐसे रूपकों का फल मन्द बुद्धि वाले लोग

इतिहास-पुराण की तरह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति मात्र बतलाते हैं। ऐसे स्वाद से अनभिज्ञ लोगों को नमस्कार है ॥६॥

भामह आदि प्राचीन आचार्यों का ऐसा मत है कि अच्छे काव्यों के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में प्रवीणता आती है और कीर्ति तथा प्रीति की प्राप्ति होती है (भामह १.२)। इस प्रकार ये लोग त्रिवर्ग की प्राप्ति काव्य का फल है, ऐसा मानते हैं। इस बात का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार बताते हैं कि स्व-संवेद्य परम आनन्दरूप रस के आस्वाद की प्राप्ति ही दशरूपकों का फल है, इतिहास आदि की तरह त्रिवर्ग की प्राप्ति-मात्र ही नहीं। ऊपर जो 'स्वाद से अनभिज्ञ लोगों को नमस्कार है," ऐसा कहा गया है, वह उपहास के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पहले ग्रन्थकार कह आए हैं कि नाटच के लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। अब वे सर्वप्रथम नाटच किसे कहते हैं इसी बात को बताते हैं—

अवस्थानुकृतिर्नाटचं

"अवस्था के अनुकरण को नाटच कहते हैं।

काव्य में वर्णित जो धीरोदात्त आदि नायकों की (और अन्य पात्रों की) अवस्थाएँ हैं उनका अनुकरण के द्वारा चार प्रकार के अभिनयों से ऐसा अनुकरण, जो राम-दुष्यन्त आदि पात्रों को ज्यों-का-त्यों उपस्थित करा सके और दर्शकों में उनके राम-दुष्यन्त आदि होने की प्रतीति उत्पन्न कर सके (तादात्म्यापत्ति), उसे नाटच कहते हैं।

रूपं दृश्यतयोच्यते।

दृश्य अर्थात् दिखाई देने योग्य होने के कारण उसे ही रूप भी कहते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार नील आदि को दिखाई देने के कारण रूप कहते हैं।

रूपकं तत्समारोपाद्

(नट में राम आदि की अवस्था आदि का) आरोप कर लिया जाता है। अतः नाटच को रूप या रूपक भी कहते हैं।

एक ही वस्तु के नाटच, रूप, रूपक, ये तीन नाम वैसे ही प्रवृत्ति के कारण व्यवहार में आते हैं जैसे इन्द्र, पुरन्दर, शक्र, ये तीनों नाम एक ही देवता की प्रवृत्ति के निमित्त से व्यवहृत होते हैं।

दशधैव रसाश्रयम् ॥ ७ ॥

(रस को आश्रय करके वर्त्तमान रहनेवाले°) ये रूपक दस प्रकार के ही होते हैं।

"दस ही प्रकार के" कहने का तात्पर्य यह है कि बिना मिले-जुले शुद्ध रूप में ये ही दस प्रकार के रूपक रस को आश्रय करके रहने वाले हैं, अन्य नहीं।

नाटिका भी रस को आश्रय करके रहती है, पर इसमें मिश्रण (संकीर्णता) होने के कारण वह शुद्ध रूप से रस का आश्रय नहीं होती, इस बात को आगे बताएँगे।

नाट्य के दस भेद ये हैं—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ ८ ॥

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अंक, १०. ईहामृग (ये रूपक के दस भेद हैं) ॥८॥

कुछ लोगों का कहना है कि नृत्य के सात भेदों—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रख्यात, रासक और काव्य—में से भाण को जैसे नाट्य के दस भेदों में गिनाया गया है वैसे ही शेष छहों को भी रूपक के ही भेदों में गिनना उचित है। इस प्रकार दस ही रूपक के भेद होते हैं, यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि उपर्युक्त कारण के द्वारा और भी रूपक के भेदों की उपलब्धि होती है।

इसका उत्तर ग्रन्थकार निम्नलिखित ढंग से देते हैं :—

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं—

(नृत्य के भेदों को रूपक के अन्दर नहीं रख सकते, क्योंकि) भावों के आश्रय करके रहने वाला नृत्य रस को आश्रय करके रहने वाले नाट्य से भिन्न प्रकार का ही होता है। (इस प्रकार भाव के आश्रय करके रहने वाले नृत्य से रस को आश्रय करके रहने वाला नाट्य का विषय स्पष्ट ही भिन्न है)।

नृत्य—यह शब्द नृत् धातु से, जिसका प्रयोग गात्र के विक्षेप करने के अर्थ में होता है, बना है। इसमें आंगित अर्थात् अंग से सम्बन्धित भावों की बहुलता रहती है। इसीलिए इसके करने वाले को नर्तक कहते हैं। लोक में भी 'यह देखने लायक है' ऐसा व्यवहार नृत्य के लिए होता है। इस प्रकार नृत्य से नाट्य भिन्न वस्तु है, यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। नृत्य के भेद होने के कारण श्रीगदित आदि का 'नृत्य' शब्द से बोध होता है।

नाटक आदि रूपक के जितने भी भेद हैं वे सभी रस के विषय हैं। पदार्थों के संसर्ग से वाक्यार्थ का बोध होता है और विभावादिकों द्वारा रस व्यंजित होता है। पदार्थ रूप भावों का जो अभिनय है वह तो नृत्य में रहता है और रस को आश्रय करके रहने वाला वाक्यार्थ-स्थानोय जो अभिनय है वह नाट्य में रहता है। यही इन दोनों का भेद है।

नृत्य जहाँ गात्र विक्षेप करने वाले नृत् धातु से बना है वहाँ पर 'नाट्य' शब्द 'अवस्पन्दन' अर्थ वाले धातु से बना है। नाट्य में थोड़ी-सी आंगिक क्रिया भी रहती अवश्य है, पर सात्त्विक भावों का ही प्राधान्य रहता है। इसीलिए इस क्रिया के करने वाले को 'नट' कहते हैं।

जैसे नृत्य और नृत्त दोनों में गात्र-विक्षेप समान रूप से रहता है पर नृत्य में अनुकरण के भी होने के कारण वह नृत्त से पृथक् गिना जाता है, वैसे ही वाक्यार्थ-रूप अभिनय वाला नाट्य-पदार्थ स्थानीय अभिनय को आश्रय करके रहने वाले नृत्य से भिन्न ही होता है।

प्रसंग आ जाने से यहीं नृत्त की व्याख्या भी किए देते हैं—

नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

नृत्त ताल और लय को आश्रय करके रहता है अर्थात् होता है। (ताल ओर लय के आश्रय करके इसमें अंग विक्षेप (अंग-संचालन) होता है। इसमें अभिनय एकदम नहीं रहता है)।

आद्यं पदार्थभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ९ ॥

पदार्थ स्थानीय अभिनय को आश्रय करके होने वाले नृत्य को 'मार्ग' कहते हैं और नृत्त को 'देशी' ॥९॥

मधुरोद्धतभेदेनत द्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

ये दोनों ही अर्थात् नृत्य (मार्ग) और नृत्त (देशी) मधुर और उद्धत भेद से दो प्रकार के होते हैं। दोनों में मधुरता से युक्त होने वाली क्रिया को लास्य तथा उद्धत्तपना से युक्त होने वाली क्रिया को 'ताण्डव' कहते हैं। ये नृत्य और नृत्त नाटक आदि रूपकों के उपकारक होते हैं। रूपकों में नृत्य का उपयोग दूसरे पदार्थों के अभिनय के लिए तथा नृत्त का प्रयोग शोभा बढ़ाने के लिए होता है ॥१०॥

अनुकरण तो प्रत्येक रूपक में होता है पर इनके भीतर कौन-कौन-सी ऐसी सामग्रियाँ हैं किनके रहने-न-रहने से इनका आपस में एक-दूसरे से भेद होता है, इस बात को बतला रहे हैं—

वस्तु नेता रसस्तेषाँ भेदको वस्तु च द्विधा ।

वस्तु, नेता और रस इन तीनों क भेद से ही रूपक एक-दूसरे से भिन्न हो जाते है।

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ११ ॥

वस्तु दो प्रकार का होता है—अधिकारिक और प्रासंगिक। प्रधान कथावस्तु को अधिकारिक तथा उसके अङ्गभूत जो कथावस्तु होती है उसे प्रासंगिक कहते हैं ॥११॥

जैसे रामायण में राम- सीता की कथा अधिकारिक कथा और उसकी अंगभूत कथा, जो विभीषण, सुग्रीव आदि की है, उसे प्रासंगिक कहते हैं।

आधिकारिक कथावस्तु

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १० ॥

फलका स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता अधिकार कहलाता है और उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है । उस अधिकारी की फल-प्राप्ति-पर्यन्त चलने वाली कथा को अधिकारिक कथावस्तु कहते हैं ॥ १२ ॥

प्रासंगिक कथावस्तु

प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

दूसरे (अधिकारिक कथा के नायक आदि) के प्रयोजन की सिद्धि के उद्देश्य की प्रधानता के रहते हुए जहाँ अपनी भी प्रसंगवश स्वार्थसिद्धि हो जाये ऐसी कथा को प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं ।

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

प्रासंगिक कथा भी पताका और प्रकरी भेद से दो प्रकार की होती है । जो कथा दूर तक चलती रहे ऐसी कथा को पताका कहते हैं ।

इसका पताका नामकरण इसलिए किया गया है कि जैसे पताका नायक का असाधारण चिन्ह होते हुए उपकारक रहती है, वैसे ही यह भी उसी के समान नायक से सम्बन्धित कथा की उपकारिका होती है । इसका उदाहरण रामायण के भीतर आनेवाला सुग्रीव आदि का वृत्तान्त है । और जो प्रासंगिक कथा कुछ थोड़ी ही दूर तक चले उसको प्रकरी कहते हैं, जैसे रामायण के भीतर आने वाला श्रवणकुमार का वृत्तान्त ॥१३॥

पताका स्थानक

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुतोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

जिस कथा का प्रकरण चल रहा हो उसमें आगे आने वाली बात की सूचना जिससे मिलती है उसे पताकास्थानक कहते हैं । यह पताका के समान ही होती है अतः इसे पताका स्थानक कहते हैं । (यह 'तुल्य इतिवृत्त' 'तुल्य विशेषण'— भेद से दो प्रकार की होती है; अर्थात् समासोक्ति और अन्योक्ति (अप्रस्तुत प्रशंसा) भेद से दो प्रकार की होती है)[1] ॥ १४ ॥

---

१. तुल्य विशेषण समासोक्ति में ही रहता है, अतः तुल्य विशेषण से समासोक्ति अलंकार समझना चाहिए । अप्रस्तुत प्रशंसा को ही कुछ लोग अन्योक्ति नाम से पुकारते हैं ।

ग्रन्थकार के अनुसार. पताकास्थानक का पहला उदाहरण अन्योक्ति का और दूसरा समासोक्ति का है । पर अधिकांश लोग दोनों जगह समासोक्ति ही मानते हैं । ग्रन्थकार के पक्ष के समर्थन में यह कहा है कि जिसको प्रकरण का पता नहीं है उसे

यहाँ रत्नावली नाटिका से अन्योक्ति भेद का उदाहरण दिया जा रहा है—

अस्ताचलगामी सूर्य अपनी प्रेयसी कमलिनी को सम्बोधित कर रहा है— 'हे कमलनयने, मैं जा रहा हूँ, क्योंकि यह मेरे जाने का समय है, तुम (आज) मेरे ही द्वारा सुलाई भी जा रही हो और कल (प्रातःकाल) मेरे ही द्वारा उठाई भी जाओगी, अतः शोक मत करो।' इस प्रकार कमलिनी को सांत्वना देता हुआ सूर्य अस्ताचल में अपनी किरणों को निविष्ट कर रहा है।

समासोक्ति वाले पताका स्थानक का उदाहरण भी उसी नाटिका (रत्न-वली) से दिया जा रहा है—

(नायक राजा उदयन और उसकी रानी वासवदत्ता में होड़ लगी है कि कौन अपनी उद्यानलता को पहले पुष्पित कर देता है। सिद्ध की सहायता से राजा की लता पहले फूल उठती है। उसी को देखकर राजा कह रहा है। वह ऐसे विशेषणों का व्यवहार कर रहा है जो लता के लिए तो प्रयुक्त होते ही हैं, किसी अन्य प्रेमातुरा नायिका के अर्थ भी देते हैं। श्लोक का चमत्कार इन विशे-षणों के कारण ही है।)

आज इस उद्दामोत्कलिका [(१) लता के पक्ष में चटखती कलियों वाली, (२) अन्य स्त्री के पक्ष में अत्यन्त उत्कंठायुक्त] विपाण्डुर रुचा [(१) पीली कान्तिवाली, (२) पीली पड़ गई] प्रारब्ध जृम्भा [(१) विकसित होने वाली, (२) जम्हाई लेती हुई], निरन्तर वेग के कारण अपने-आप को विशाल बनाती हुई [(१) फैलती हुई, (२) दीर्घ निःश्वास के कारण व्याकुल], समदना [(१) मदन नामक वृक्ष के पास वाली, (२) तुरा] उद्यानलता को दूसरी स्त्री के समान निहार-निहारकर मैं रानी का मुख क्रोध से अवश्य ही लाल कर दूँगा।

इस प्रकार,

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः॥ १५॥

वस्तु के अधिकारिक पताका और प्रकरी के तीन भेद होते हैं।

फिर ये तीनों भी प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र इन भेदों के कारण तीन-तीन प्रकार के होते हैं—(१) इतिहास आदि में आने वाली कथावस्तु को प्रख्यात कहते हैं। (२) कवि की प्रतिभा द्वारा निर्मित कथावस्तु को उत्पाद्य

उदाहृत पद्य में पहले प्रस्तुत नायिका-पक्ष का ज्ञान होगा, उसके बाद अप्रस्तुत कमलिनी के पक्ष का, अतः प्रस्तुत से अप्रस्तुत का ज्ञान हो जाने पर अप्रस्तुत प्रशंसा (अन्योक्ति) मानने में कोई बाधा नहीं होगी।

कहते हैं ॥ १५ ॥ तथा (३) प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों के मिश्रण को मिश्र कहते हैं। अर्थात् जिसमें का कुछ अंश इतिहास आदि के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त हो तथा कुछ अंश कवि की प्रतिभा से उद्भूत हो उसे मिश्र कहते हैं।

कथावस्तु का फल

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति कथावस्तु का फल है। इन तीनों में से कही तीनों, कहीं दो और कही एक ही स्वतन्त्र रूप से फल होते हैं ॥१६॥

इन फलों की प्राप्ति के साधन

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

बीज—कार्य (मुख्य फल) का साधक हेतु विशेष को बीज कहते हैं। इसका पहले सूक्ष्म कथन होते हुए आगे चलकर अनेक प्रकार का विस्तारयुक्त रूप दिखाई देता है।

यह बीज के समान ही देखने में छोटा पर आगे चलकर शाखा, पत्र, तना आदि से युक्त विशाल वृक्ष के समान विस्तृत रूप को धारण कर लेता है। अतः बीज के समान होने के कारण इसे भी बीज ही कहते हैं। इसका उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका में विष्कम्भक में पड़ा हुआ रत्नावली की प्राप्ति का कारण अनुकूल दैव और यौगंधरायण का उद्योग है। इस नाटिका में सूत्रधार की बात को दोहराते हुए यौगंधरायण कहता है—"इसमें क्या सन्देह है, 'अनुकूल विधि, दिशाओं को ओर-छोर से, अन्य द्वीपों से, समुद्र के मध्य से, मनचाही वस्तु को क्षण में लाकर मिला देता है।'" यहाँ से आरम्भ करके "स्वामी की वृद्धि के लिए मैंने जो कार्य आरंभ किया है उसकी सिद्धि के लिए दैव भी अनुकूल है। मेरे द्वारा आरम्भ किये गये इस कार्य में सफलता प्राप्त होगी इसमें जरा भी सन्देह की गुंजाइश नहीं है, पर इन सब बातों के होते हुए भी मेरे मन में भय ने यह सोच-सोचकर स्थान कर लिया है कि यह सारा कार्य मेरे द्वारा महाराज से बिना पूछे ही अपने ही मन से किया जा रहा है; इसीलिए महाराज से भय मालूम हो रहा है।" यहाँ तक (बीज है)।

इसी प्रकार 'वेणी संहार' नाटक में द्रौपदी के केश-संयमन के लिए भीम के क्रोध से बढ़ा हुआ युधिष्ठिर का उत्साह बीज-रूप से अंकित है। यह महाकार्य और अवान्तर कार्य के भेद से अनेक प्रकार का होता है।

अवान्यरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥

बिन्दु—अवान्तर कथा की समाप्ति के अवसर पर प्रधान कथा के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न होने देने वाली वस्तु को 'बिन्दु कहते हैं ॥१७॥

जल में तैल विन्दु जिस प्रकार फैल जाता हैं उसी प्रकार यह भी फैलता है।

ऐसा होने के कारण ही इसे 'विन्दु' कहते हैं। जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में कामदेव की पूजा अवान्तर कथा है, मूलकथा से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस अवान्तर प्रयोजन-रूप कामदेव की पूजा की समाप्ति के अवसर पर कथा के विच्छेद की स्थिति आ जाती है पर वहाँ दूसरे कार्य का कारण बन जाने से ऐसा नहीं हो पाता—"महाराज उदयन चन्द्रमा के समान शोभित हो रहे हैं।" यह सुनकर सागरिका कह उठती है कि "क्या ये वे ही महाराज उदयन हैं जिनके लिए पिताजी ने मुझे भेजा था?" इत्यादि और इस प्रकार इस अवान्तर प्रसंग का मूल-कथा से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

ऊपर बीज, बिन्दु आदि अर्थप्रकृतियों को विना क्रम के प्रसंगानुसार कह आए हैं। अब उन्हें सजाकर क्रम को ध्यान में रखकर बताते हैं—

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः॥ १८॥

(प्रयोजन की सिद्धि के कारण) पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। वे हैं—१. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी और ५. कार्य॥१८॥

अब पाँच अवस्थाओं को बताते हैं—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः॥ १९॥

फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति द्वारा जो कार्य आरम्भ किया गया रहता है उसकी पाँच अवस्थाएँ होती है—१. आरम्भ, २. यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५. फलागम॥१९॥

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।

आरम्भ—प्रचुर फल की प्राप्ति के लिये उत्पन्न उत्सुकता को आरम्भ कहते हैं।

अर्थात् 'इस कार्य को मैं कर रहा हूँ' इस प्रकार के अध्यवसाय को 'आरंभ' कहते हैं। जैसे 'रत्नावली के प्रथय अंक में यौगंधरायण कहता है कि स्वामी की वृद्धि के लिए जो कार्य मैंने प्रारम्भ किया और भाग्य ने भी जिसमें सहारा दिया इत्यादि। यहाँ से वत्सराज उदयन के कार्य का आरम्भ यौगंधरायण के मुख से दिखाया गया है क्योंकि उदयन 'सचिबायत्त-सिद्धि' राजा है अर्थात् ऐसा राजा है जिसकी सिद्धि सचिव के भरोसे होती है।

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः॥ २०॥

प्रयत्न—उस अप्राप्त फल की शीघ्र प्राप्ति के लिए उपाय आदि रूप चेष्टा विशेष के करने को प्रयत्न कहते हैं॥२०॥

जैसे 'रत्नावली' में आलेख (चित्राङ्कन) आदि द्वारा वत्सराज उदयन से मिलने के उपाय का वर्णन ![1]

सागरिका मन-ही-मन सोचती है—"तो फिर महाराज के दर्शन प्राप्त करने के लिने अब कोई उपाय नहीं दीख पड़ता। अतः जैसे-तैसे उनके चित्रों को आँककर ही अपनी मनोकामना पूर्ण करूँ।" इस प्रकार से 'रत्नावली' में प्रयत्न दिखाया गया है।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः।

प्राप्त्याशा—फल की प्राप्ति में ऐसे व्यापार का होना, जिसमें विघ्न पड़ने की सम्भावना से फल की प्राप्ति अनिश्चित रहती है, प्राप्त्याशा कहलाता है।

इसमें कार्यसिद्धि के लक्षण दीख पड़ते हैं। पर उसमें विघ्न की आशंका से फल की प्राप्ति में अनिश्चितता आ जाती है। जैसे, 'रत्नावली' के तृतीय अंक में सागरिका का वेष-परिवर्तन कर उदयन के पास अभिसरण करने में कार्यसिद्धि का लक्षण दिखाई देता है पर कहीं महारानी वासवदत्ता देख न ले इस प्रकार विघ्न की आशंका बनी रहती है। इसी प्रसंग में विदूषक कहता है—"इस प्रकार के कार्य करते समय, कहीं अकाल में उठे हुए मेघ के समान वासवदत्ता न आ पहुँचे, अन्यथा सारा कार्य ही चौपट हो जायेगा।" इस प्रकार यहाँ महाराज से समागम की प्राप्ति अनिश्चित-सी है।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

नियताप्ति—विघ्नों के अभाव में सफलता के निश्चित हो जाने की अवस्था को नियताप्ति कहते हैं ॥२१॥

जैसे, रत्नावली नाटिका में—"विदूषक—'सागरिका का जीवित रहना बड़ा ही कठिन है।' यहाँ से आरम्भ कर फिर कौन सा उपाय सोच रहे हो?' इसको सुनकर वत्सराज विदूषक से कहते हैं—"मित्र, देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा और कोई भी उपाय नहीं सूझ रहा है।" इस प्रकार से देवी द्वारा जो विघ्न की आशंका थी वह उन्हीं को प्रसन्न करने के निश्चय से साग-रिका-रूप फल कीं प्राप्ति एक तरह से निश्चित-सी हो गयी।

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।

फलागम—कार्य में सफलता के साथ-साथ अन्य समस्त वांछित फलों की प्राप्ति को फलागम कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में उदयन को रत्नावली की प्राप्ति के साथ-साथ चक्रवर्तित्व की प्राप्ति भी हो जाती है।

---

१. सागरिका (रत्नावली) महाराज उदयन से चित्रांकन द्वारा जैसे-तैसे मिलने के लिए जो कार्य करती है वह प्रयत्न के भीतर आता है।

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता ॥ २२ ॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः ।

सन्धि—(ऊपर कहे हुए) पांच अर्थप्रकृतियों और कार्य की पाँचों अवस्थाओं के क्रमशः एक-दूसरे से मिलने से पाँच सन्धियों की उत्पत्ति होती है ॥ २२ ॥

अन्तरैकार्थसम्बन्धः संधिरेकान्वये सति ॥ २३ ॥

सन्धि का सामान्य लक्षण—एक प्रयोजन से अन्वित कथा का दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्धित हो जाने को सन्धि कहते हैं ॥ २३ ॥

निम्नलिखित पाँच सन्धियाँ हैं—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।
मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ॥ २४ ॥
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

१. मुख सन्धि, २. प्रतिमुख सन्धि, ३. गर्भसन्धि, ४. अवमर्श सन्धि और ५. उपसंहृति या उपसंहार सन्धि ।

अब इनका क्रमशः लक्षण दिया जाता है।

मुख सन्धि

यह सन्धि बीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक अवस्था के संयोग से पैदा होती है। इसमें आरम्भ नामक अवस्था के योग से अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों को प्रकट करने वाले बीज (अर्थप्रकृति) की उत्पत्ति होती है। इसके १२ अंग होते हैं।

मुखसन्धि में अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों को प्रकट करने वाले बीज की उत्पत्ति होती है। यहाँ पर 'अनेक प्रकार के प्रयोजन' यह रस का विशेषण है। यदि इसे विशेषण न मानें तो फिर हास्य रस में जहाँ त्रिवर्ग में से किसी प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होती, मुखसन्धि का होना असम्भव हो जाएगा। रस के विशेषण रूप में 'अनेक प्रकार के प्रयोजन' इसको मानने से हास्यरस में भी मुखसन्धि का बोध नहीं हो पाता है।

इस सन्धि के बीज और आरम्भ के योग से निम्नलिखित १२ अंग होते हैं।

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो बिलोभनम् ॥ २५ ॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

१. उपक्षेप, २. परिकर, ३. परिन्यास, ४. विलोभन, ५. युक्ति, ६. प्राप्ति, ७. समाधान, ८. विधान, ९. परिभावन, १०. उद्भेद, ११. भेद, और १२. करण ॥ २५-२६ ॥

इन सबका लक्षण आसानी से समझ में आ जाए एतदर्थ इन्हें उदाहरण के साथ दिया जा रहा है—

वीजन्यास उपक्षेपः

१. उपक्षेप—बीज के न्यास (रखना) को उपक्षेप कहते हैं ।

जैसे, नेपथ्य में यौगन्धरायण का यह कथन "द्वीपादन्यस्मादपि—अन्य द्वीपों से दिशाओं की ओर छोर से आदि । इस श्लोक से यौगन्धरायण द्वारा वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति के लिए अनुकूल दैव और अपने व्यापार का कथन बीज-रूप में रखा गया है ।

तब्दाहुल्यं परिक्रिया ।

२. परिकर—बीज की वृद्धि को परिकर कहते हैं ।

जैसे, 'द्वीपादन्यस्मादपि' इसके आगे यौगन्धरायण का यह कथन—"यदि ऐसी बात न होती तो फिर भला सिद्धों के वचन पर विश्वास करके उदयन के लिए माँगी गई सिंहलेश्वर की कन्या का समुद्र में नौका के भग्न हो जाने पर डूबते समय बहता हुआ काठ का टुकड़ा आत्मरक्षा के लिए कैसे प्राप्त हो जाता?" यहाँ से आरम्भ करके 'स्वामी की उन्नति अवश्यंभावी है ।' यहाँ तक बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है, अतः यह परिकर का उदाहरण है ।

तन्निष्पत्तिः परिन्यासो

३. परिन्यास—बीज की निष्पत्ति अर्थात् उसका निश्चित रूप में प्रकट होना परिन्यास कहलाता है ।

जैसे, वहीं रत्नावली नाटिका में—'प्रारम्भेऽस्मिन्' आदि श्लोक से ।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ।। २७ ।।

४. विलोभन—गुण कथन को विलोभन कहते हैं ।

जैसे, रत्नावली नाटिका में वैतालिका के द्वारा चन्द्रसदृश वत्सराज के गुण-वर्णन से सागरिका के समागम का कारण अनुराग-रूप बीज की अनुकूलता का वर्णन । यथा—

'सूर्य अपनी समस्त किरणों के साथ अस्ताचलगामी हो गए । नेत्रधारियों को आनन्द प्रदान करने वाले महाराज़ उदयन चन्द्रमा के समान उदित हो रहे हैं । इस सन्ध्याकाल में सभामण्डप में आसीन नृपगण कमलों की द्युति को हरण करने वाले उनके चरणसेवन के लिए उत्सुक बने हुए हैं !'

और जैसे, वेणीसंहार का यह श्लोक—'भीमसेन (प्रसन्न होकर) द्रौपदी से कहते हैं कि, देवि, यह क्या ? "मन्थन दण्ड (मंदराचल) से प्रक्षिप्त समुद्र-जल से पूर्ण, कंदरा-सहित मंदराचल की तरह गम्भीर घोषकारी, कोणाघात होने पर प्रलयकाल से गरजते हुए मेघों की घटाओं के परस्पर टक्कर खाने से भीषण

शब्दकारी, प्रलय-रात्रि के अग्रदूत के समान, कौरवों के अधिपति (दुर्योधन) के नाशसूचक उत्पात से उत्थित झंझावात की भाँति तथा हम लोगों के सिंहनाद के सदृश इस नगाड़े को किसने ताड़ित किया है !'' यहाँ से आरम्भ करके 'यशो दुन्दुभि—यश की दुन्दुभि बार-बार बज रही है ।' यहाँ तक का अंश द्रौपदी के लुभाने के प्रयत्न के कारण विलोभन है ॥ २७ ॥

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः

युक्ति—प्रयोजन के सम्यक् निर्णय को युक्ति कहते हैं ।

जैसे, 'रत्नावली' में यौगन्धरायण का यह कथन—"मैंने भी उस कन्या को बड़े आदर के साथ रानी को सौंपा है । यह बात अच्छी ही हुई ! अब सुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी वाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मन्त्री वसुभूति भी, जो राजकन्या के साथ चले थे, किसी प्रकार डूबते-उतराते किनारे लगे हैं । अब वे सेनापति रुमण्वान् से, जो कोशलपुर को जीतने गया था, मिलकर यहाँ पहुँचे हैं ।"

इसके द्वारा अन्तःपुर में निवास करने वाली सागरिका से वत्सराज का सुखपूर्वक दर्शन आदि कार्य हो सकेगा तथा वाभ्रव्य और सिंहलेश्वर के अमात्य का अपने नायक के साथ मिलन हो सकेगा, इस बात के निश्चय हो जाने से यहाँ 'युक्ति' है ।

प्राप्तिः सुखागमः ।

प्राप्ति—सुख के प्राप्त होने को प्राप्ति कहते हैं ।

जैसे, 'वेणी संहार' में—चेटी कह रही है कि 'महारानी, युवराज क्रुद्ध-से प्रतीत हो रहे हैं ।' इसके बाद भीम का इस कथन से आरम्भ कर—"क्या मैं संग्राम में क्रोध से सौ कौरवों का मर्दन नहीं कर डालूँगा ? क्या दुःशासन के हृदय-प्रदेश का रक्तपात नहीं करूँगा ? क्या मैं गदा से दुर्योधन के जाँघ को चूर्ण न बना डालूँगा ? तुम लोगों के राजा (युधिष्ठिर) इस विनिमय पर सन्धि करें ।" यह सुनकर द्रौपदी कहती हैं—(प्रसन्नता के साथ) "स्वामिन्, आपके ये वचन अपूर्व हैं ऐसा कभी भी श्रुतिगोचर नहीं हुआ था । अच्छा, एक बार इसे फिर से कहने की कृपा करें ।" यहाँ तक भीम का क्रोध-रूप जो बीज है उससे द्रौपदी को सुख प्राप्त होना 'प्राप्ति' है !

इसी प्रकार रत्नावली नाटिका में–सागरिका उदयन का नाम सुनकर हर्ष पूर्वक घूमकर स्पृहा के साथ देखती हुई कहती है—"क्या ये ही महाराज उदयन हैं, जिनको पिताजी ने मुझे समर्पित किया था ? तो फिर दूसरे के पोषण से दूषित हुआ मेरा शरीर इनके दर्शन से पवित्र हो गया ।" इस प्रकार सागरिका (रत्नावली) के सुख प्राप्त हो जाने से यहाँ 'प्राप्ति' है ।

बीजागमः समाधानं

समाधान—बीज के आगम को समाधान कहते हैं। समाधान का अर्थ है युक्ति के साथ बीज को रखना।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में 'वासवदत्ता—यही तो वह लाल अशोक है तो फिर मेरी पूजा की सामग्री को लाओ।

सागरिका—लीजिए, महारानी, ये सारी वस्तूएँ सुसज्जित है।

वासवदत्ता—(अपने-आप सोचती है) देखो न, नौकर-चाकरों की असावधानता, जिसकी आँखों से बचाए रखने का मैंने सदा सावधानी-पूर्वक यत्न किया है, आज उसीकी दृष्टि में यह (सागरिका) पड़ना चाहती है। खैर, तो फिर ऐसा करूँ, (कहती है)—"अरी सागरिका, आज घर के सब लोग जब मदन महोत्सव में व्यस्त हैं तो फिर तू सारिका को छोड़कर यहाँ क्यों आ गई ? तू जल्दी वहाँ जा, और पूजा की सामग्री कांचनमाला को दे दे।" यहाँ से लेकर "सागरिका (आपने-आप कुछ चलकर)—सारिका को तो मैंने सुसंगता को सौंप ही दिया हैं, मेरे मन में मदन-महोत्सव देखने की लालसा है सो, मैं यहीं छिपकर देखती हूँ।" यहाँ पर वासवदत्ता यह चाहती है कि महाराज और सागरिका का परस्पर अवलोकन-रूपी कार्य न हो, इसीलिए वह सारिका की देखभाल के बहाने सागरिका को लौटा देती है पर सुसंगता के हाथ सारिका को पहले ही सर्मपित कर चुकने के कारण वह महराज को छिपकर देखती है। इस प्रकार महराज उदयन और सागरिका के समागम-रूप बीज को युक्ति के साथ रखने से यह समाधान का उदाहरण हो जाता है। अथवा जैसे, वेणीसंहार में—"भीम (व्याकुलता के साथ उठते हुए) कहता है—'पाञ्चालराजपुत्रि, अधिक मैं क्या कहूं जो मैं बहुत शीघ्र करने जा रहा हूँ उसे सुनो—

"भीम अपने चपल भुजदंडों से घुमाए हुए भीषण गदा के प्रहार से सुयोधन के जंघों को रौंदकर निकाले गए खूब गाढ़े रक्त की अपने हाथों में पोतकर तुम्हारे केशकलाप को सँवारेगा।" इस प्रकार से यहाँ पर वेणी के संहार (सँवारना) का कारण जो क्रोध-रूपी बीज है उसका फिर से रखना समाधान है।

विधानं सुखदुःखकृत् ॥ २८ ॥

विधान—सुख दुःख के कारण को विधान कहते हैं ॥ २८ ॥

जैसे, 'मालती माधव' के प्रथम अंक में माधव का यह कथन—

(१) "निज जात समै वह फेरि कछू सुठि

ग्रीव को जोंही लखी भय मोर।

मुख सूर्यमुखी के समान लस्यो

विलस्यो छवि धारत मंजु अथोर॥

जुग नैन गड़ाइ सनेह सनै
जिन चारु घने बरुनीन के छोर।
वस मानो बुझाई सुधा विष में हिय
घायल कीन्हो कटाच्छ की कोर॥
[१-३२]

(२) फँस्यौ मन जाइ प्रेम के फंद,
तब तो तिह छवि लखि रुचिर भूल्यो सबको घ्यान।
विस्मय मोहित मुदित मनु करत अमिय-असन॥
अहा कैसो आयो आनन्द,
फँस्यो मन जाइ प्रेम के फंद॥
अब वाके देखे बिना काहू विधि कल नाहि।
लौटे बारहिंवार यह मनौं अंगारनु माहि॥
कष्ट क़ाहू विधि सो नहिं मंद।
फँस्यौ मन जाइ प्रेम के फंद॥
—मालती माधव (१-२२)

अनुरागवश मालती को देखने से माधव सुख-दुःख का भाजन बन जाता है। मालती और माधव के समागम-रूप जो वीज है उसके अनुकूल माधव का सुख-दुःख भागी होना 'विधान' है। अथवा 'वेणी संहार' में भी—द्रौपदी कहती है कि "नाथ, आप रणभूमि से आकर फिर मुझे आश्वसित करें।"

इस पर भीम उत्तर देता है—

"पाञ्चाली, आज इस बनावटी आश्वासन से क्या ? निरन्तर अपमान और उससे उत्पन्न दुःख और लज्जा से म्लान मुख वाले भीम को तब तक नहीं देखोगी जब तक वह कौरवों को नष्ट न कर दे। इस प्रकार संग्राम के सुख-दुःख के कारण होने के कारण 'विधान' है।

परिभावोऽद्भुतावेशः

परिभावना—आश्चर्यजनक बात को देखकर कुतूहलयुक्त बातों के कथन को परिभावना या परिभाव कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में "सागरिका (आश्चर्य के साथ मदन-पूजा में उदयन को देख)—क्या प्रत्यक्ष ही कामदेव पूजा ग्रहण कर रहे हैं ?" यहाँ पर वत्सराज उदयन को कामदेव समझकर प्रत्यक्ष कामदेव का पूजा ग्रहण करना जो लोकोत्तर कार्य है उससे उत्पन्न अद्भुत आनन्द के आवेशवश जो कथन है वह परिभावना है। अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में, "द्रौपदी—नाथ, इस समय भीषण निर्घोष के कारण असह्य; प्रलयकालिक मेघ की गड़गड़ाहट के समान आवाज

करने वाली यह रणभेरी (नगाड़ा) प्रतिक्षण क्यों वजाई जा रही है ?" यहाँ पर लोकोत्तर समर-दुन्दुभि की ध्वनि से द्रौपदी का विस्मययुक्त रस का आवेश होने के कारण परिभावना है ।

उद्भेदो गूढभेदनम् ।

उद्भेद—छिपी हुई बात को खोल देने को उद्भेद कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में कामदेव के रूप में समझे गए वत्सराज का "अस्तापात इत्यादि से आरम्भ कर उसी में उदयनस्य इसके द्वारा बीज के अनुकूल उसे (वत्सराज को) प्रकट कर देने से उद्भेद है । इसी प्रकार 'वेणीसंहार में भी भीम कहता है, 'आर्य, अब महाराज क्या करना चाहते हैं ?" इसी समय नेपथ्य से आवाज आती है कि "जिस क्रोध की ज्वाला को सत्यव्रतपरायण ने अपने व्रत-भंग की आशंका से बड़े परिश्रम के साथ मन्द कर रखा था, जिसको शान्ति के पुजारी ने कुल के कल्याण की कामना से भूल जाने का निश्चय कर लिया था, वह धूतरूपी अरणी में अन्तर्हित युधिष्ठिर की क्रोध को ज्योति द्रौपदी के केश और वस्त्रों के खींचे जाने से कौरवबन में अँगड़ाई ले रही है ।" इस पर भीम उल्लासपूर्वक कहता है, "भड़क उठे, भड़क उठे, महराज के क्रोध की ज्वाला । विना किसी अवरोध के भली-भाँति बढ़े ।"

करणं प्रकृतारम्भो

करण—प्रस्तुत कार्य के प्रारम्भ कर देने को करण कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका—"भगवान् कामदेव तुम्हें प्रणाम है। तुम्हारा दर्शन कल्याणप्रद हो । जो देखने योग्य था उसे मैंने देख लिया । अब मेरा मनोरथ सफल हो गया । अतएव अब तक और कोई मुझे इस रूप में न देख ले उसके पहले ही यहाँ से चली जाऊँ ।" इस प्रकार पहले से निर्विघ्न दर्शन की जो योजना थी उसका आरम्भ यहाँ से होता है, अत: यह 'करण' है । इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी भीम कहते हैं—"पाञ्चालि, हम लोग कौरवों को नष्ट करने जा रहे हैं । सहदेव—हम लोग गुरुजनों की आज्ञा से अपना पुरुषार्थ दिखाने जा रहे हैं ।"

इस प्रकार से यहाँ पहले अंक के भीतर आये हुए संग्राम-प्रयाण की तैयारी का आरम्भ हो जाने से 'करण' है ।

भेदः प्रोत्साहना मता ।। २९ ।।

भेद—उत्साहयुक्त वचनों के कथन को भेद कहते हैं ।। २९ ।।

जैसे 'वेणीसंहार' में—"नाथ, मेरे अपमान से अतिक्रुद्ध होकर बिना अपने शरीर का ध्यान रखे पराक्रम न प्रदर्शित कीजिएगा, क्योंकि ऐसा सुना जाता है कि शत्रुओं की सेना में बड़ी सावधानी के साथ जाना चाहिए ।

भीम—ऐ वीरो, जिस समरांगण-रूपी समुद्र के गम्भीर जल में, परस्पर अभिहत हाथियों के फूटे हुए मस्तक से निकलते हुए रक्त, मांस, चर्बी तथा मस्तिष्क के कीचड़ बीच धँसे हुए रथों पर पैर रखकर पैदल योद्धा आक्रमण कर रहे हों और विशुद्ध रक्त के प्रीति-सहभोज में आस्वादन करके अमंगल शब्द करती हुई श्रृगालियों के शब्द को तुरही मान कबन्ध नृत्य कर रहे हों, ऐसे रणस्थल में विचार न करने में पाण्डव दक्ष हैं।"

इस वाक्य से विषण्ण द्रौपदी का उत्साह बढ़ता है, अतएव यहाँ भेद है।

मुख-सन्धि के ये बारह अंग हैं। ये बीज और आरम्भ के मेल से उत्पन्न होते हैं। ये आपस में कहीं साक्षात् सम्बन्ध से, और कहीं उसके अभाव में परम्परा-सम्बन्ध से द्योतक होते हैं।

इनमें से उपक्षेप, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान इन छहों का तो हरेक रूपकों में रहना आवश्यक है, पर शेष, नाटचप्रणेता की इच्छा पर आधारित हैं, अर्थात् वे चाहें तो शेष को भी अपने रूपकों में स्थान दे सकते हैं और यदि न चाहें तो कोई आपत्ति नहीं।

प्रतिमुख सन्धि

अब अंगों के साथ प्रतिमुख सन्धि का निरूपण किया जा रहा है—

प्रतिमुख सन्धि—इसमें मुख सन्धि में दिखाये गये बीज का किंचित् लक्ष्य और किंचित् अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है। यह बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और यत्न नामक अवस्था के योग से पैदा होती है। इसके तेरह अंग होते हैं। जैसे, 'रत्नावली नाटिका' के द्वितीय अंक में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इनके पारस्परिक अनुराग को, जो प्रथम अंक में बताया जा चुका था, सुसंगता और विदूषक द्वारा विदित हो जाने से किंचित् लक्ष्य होता हुआ फिर वासवदत्ता द्वारा चित्र को देख इस रहस्य को जान लेने से और उनके द्वारा प्रेम-व्यापार में बाधा पहुँचने की सम्भावना के होने से अलक्ष्य अवस्था को प्राप्त होता हुआ, प्रतिमुख सन्धि का उदाहरण बन जाता है।

'वेणीसंहार' के द्वितीय अंक में भी भीष्मादि के बध से विजय-प्राप्ति के लिए क्रोध-रूप जो बीज है उसका किंचित् लक्ष्य होना और कर्ण आदि शूरवीरों के बध न होने से उसकी किंचित् अलक्ष्यता प्रकट होती है। "पाण्डुपुत्र अपने पराक्रम से भाई, बन्धु, पुत्र, मित्र तथा नौकर-चाकरों समेत दुर्योधन का बध करेंगे।" इत्यादि से लेकर दुर्योधन को अपनी पत्नी के साथ किये गए वार्तालाप पर्यन्त—दुर्योधन भानुमति से कहता है—युद्ध में दुःशासन का हृदय विदीर्ण करके रुधिरपान करने के विषय में, और मुझ दुर्योधन की जंघों को गदा से तोड़ देने के

विषय में की गई परम प्रतापशाली पाण्डवों की प्रतिज्ञा जैसी थी वैसी ही जयद्रथ के विषय में पाण्डवों द्वारा की गई प्रतिज्ञा को भी समझना चाहिए।

अर्थात् जैसे पाण्डवों द्वारा की गई पहले की प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी, वैसे ही उनकी जयद्रथ-बध की भी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो पाएगी।

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश॥ ३०॥

यह सन्धि बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और प्रयत्न नामक अवस्था के मिलन से पैदा होती है। इसके १३ अंग होते हैं॥ ३०॥

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम्॥ ३१॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।

१. विलास, २. परिसर्प, ३. विधूत, ४. शम, ५. नर्म, ६. नर्मद्युति, ७. प्रगमन, ८. निरोध, ९. पर्युपासन, १०. व्रज, ११. पुष्प, १२. उपन्यास और १३. वर्ण संहार॥ ३१॥

नीचे उदाहरण के साथ इनके लक्षण दिए जाते हैं—

रत्यर्थेहा विलासः स्याद्

विलास—सुरत की कामना को विलास कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में, "सागरिका—हृदय प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ, जिसका पाना सहज नहीं है उसको प्राप्त करने के लिए इतना आग्रह क्यों करता है ?" यहाँ से आरम्भ कर……"यद्यपि भय से मेरा हाथ काँपता है तो भी उनका जैसे-तैसे चित्रांकन कर मनोवांछा चरितार्थ करूँ; इसके अलावा उनके दर्शन के लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है।" यहाँ पर वत्सराज के समागम के लिए चित्राङ्कन में जो सागरिका द्वारा चेष्टा आदि प्रयत्न होते हैं वे अनुराग-रूपी बीज के अनुकूल होने के कारण विलास के उदाहरण हैं।

दृष्टानष्टानुसर्पणम्॥ ३२॥

परिसर्प—पहले विद्यमान पश्चात् नष्ट हुई या दृष्ट नष्ट वस्तु की खोज करने को परिसर्प कहते हैं॥ ३२॥

परिसर्प

जैसे, 'वेणीसंहार' में—"कंचुकी—धन्य पतिव्रतपरायणे धन्य, आप स्त्री होकर भी धन्य हैं पर महाराज नहीं, क्योंकि इनके शत्रु पांडव सिर पर खड़े हैं, चाहे वे प्रबल हों या निर्बल, पर हैं तो वे शत्रु ही; इस पर भी उनकी सहायता वासुदेव कर रहे हैं। ऐसी हालत में भी महाराज रनिवास के सुख को ही भोग रहे हैं। (सोचकर) और भी एक अनुचित कार्य है जिसे महाराज कर रहे हैं,

क्योंकि परशुराम जैसा तेजस्वी ऋषि, जिनका कुठार कभी कुंठित नहीं हो पाया था, उन पर विजय प्राप्त करने वाले भीष्मपितामह को पाँडवों ने बाणवर्षा कर धराशायी बना दिया। इतना होते हुए भी महाराज के मन में तनिक भी क्षोभ पैदा नहीं हो रहा है। साथ ही असहाय बालक अभिमन्यु, जिसके धनुष को शत्रुओं ने काट डाला था और अनेक योद्धाओं पर विजय प्राप्त करते-करते श्रांत हो गया था, उस बालक अभिमन्यु के वध से महाराज प्रसन्न हैं।"

'इत्यादि के द्वारा भीष्म के वध में दृष्ट (देखा गया) किन्तु अभिमन्यु के वध से नष्ट, बलशाली पांडवों के, जिनके सहायक स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, संग्राम लक्षण बिन्दु का बीज के प्रयत्न के अनुगत होने से कञ्चुकी के मुख से बीज का जो अनुसरण किया जाता है, परिसर्प का उदाहरण है। 'रत्नावली नाटिका' में भी--सागरिका के बचन के सुनने और चित्र दर्शन से सागरिका के अनुराग बीज के दृष्ट नष्ट होने पर महाराज उदयन के द्वारा--"कहाँ है वह ? कहाँ है वह ?" 'इत्यादि के कथन से वत्सराज के द्वारा अनुसर्पण किए जाने से यहाँ परिसर्प होता है।

विधूतं स्यादरतिस्

विधूत--सुखप्रद वस्तुओं में अरति अर्थात् तिरस्कार की भावना उत्पन्न होने को कहते हैं।

जैसे, रत्नावली में सागरिका के ये वचन--"सखि, और मेरा संताप बढ़ता ही जाता है।"

(सुसंगता तालाब से कमल के पत्ते और मृणालों को लाकर सागरिका के अंगों को ढँक देती है) सागरिका--(उनको फेंकती हुई) "सखि, हटाओ इन पद्मपत्रों और मृणालों को। इनसे क्या होगा ? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो ? मैं तुझे बताती हूँ, सुन--

मेरा मन दुर्लभ जन में आसक्त हो गया है पर शरीर में अपार लज्जा ने घर कर लिया है, अतः मेरी दृष्टि में तो ऐसे विषम प्रेम को निबाहने के लिए मरण ही एक मात्र सहारा है।"

यहाँ पर सागरिका के प्रेमरूपी बीज से अन्वित होने से शीतोपचार के लिए रखी गयी सामग्रियों के विधुनन करने से विधूनन या विधूत है।

तच्छमः शमः।

शम--अरति के दूर हो जाने को शम कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में : राजा--"हे मित्र, इस रमणी ने (अपने हाथों) मेरा चित्र आँका है, इससे मेरे मन में अपने स्वरूप के प्रति अधिक आदर हुआ है। अब भला अपने को क्यों नहीं देखूँगा ?" यहाँ से आरम्भ करके,

"सागरिका--(अपने-आप) मन धीरज धर, चंचल मत हो, तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था।" इस प्रकार यहाँ अरति हो जाने से शम है।

परिहासवचो नर्म

नर्म--परिहासयुक्त बचन को नर्म कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में सुसंगता--"सखि, जिसके लिए आई हो वह सामने खड़ा है।"

सागरिका (कुछ क्रोध के साथ)—मैं किसके लिए आई हूँ ?

सुसंगता (हँसकर)--"अरी, अपने पर भी शंका करने वाली, चित्र-फलक के लिए ही तो आई हो, सो उसे ले लो।"

यहाँ पर सुसंगता महाराज को लक्ष्य कर सारी बातें परिहास के रूप में सागरिका से कह रही है। चित्रफलक के ग्रहण का तात्पर्य भी महाराज से ही है। जैसे 'वेणीसंहार' में भी--"(दुर्योधन चेटी के हाथ से अर्घ्यपात्र आदि लेकर रानी भानुमती को देता हूँ, इसके बाद) भानुमती--(अर्घ्य देकर) सखि पुष्पों को दे दो ताकि और भी देवों का पूजन सम्पन्न कर दूं।" इसके बाद भानुमती हाथ फैलाती है, दुर्योधन उसके हाथों में पुष्प देता है। दुर्योधन के हाथों के स्पर्श से भानुमति के हाथों में कँपकँपी आ जाती है, निदान हाथ से पुष्प गिर पड़ते हैं !

भानुमती विघ्न की शान्ति के लिए पूजन कर रही थी, पर दुर्योधन द्वारा उसमें विघ्न डाल देने से पूजन सम्यक्तया सम्पन्न न हो सका। इस प्रकार की बात का होना भीम आदि शत्रु-पक्ष के लिए अच्छा ही हुआ। इसके द्वारा नायक पक्ष की विजय की संभावना का होना परिहास के साथ ही हुआ। अतः इसे (परिहास की) प्रतिमुख सन्धि का भेद मानना युक्तिसंगत ही है।

धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

नर्मद्युति—परिहास से उत्पन्न आनन्द अथवा विकार के छिपाने को नर्म-द्युति कहते हैं ॥ ३३ ॥

जैसे—"रत्नावली'--सुसंगता-सखि, तू बड़ी निष्ठुर है, जो महाराज से इतना आदर पाने पर भी क्रोध नहीं छोड़ती। सागरिका (भौंह चढ़ाकर)--अब तू चुप नहीं रहती सुसंगता !" उपर्युक्त बातों द्वारा प्रेमरूपी बीज के प्रकट होने पर परिहास से उत्पन्न बात को छिपाने के कारण यहाँ नर्मद्युति है।

उत्तरा वाक्प्रगमनं

प्रगमन--बीज के अनुकूल उत्तर-प्रत्युत्तरयुक्त वचन को प्रगमन कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' चित्र मिलने पर राजा और विदूषक की यह बात-चीत—"हे मित्र, तुम बड़े भाग्यशाली हो। राजा—मित्र यह क्या ? विदूषक—

यह वही है जिसकी अभी चर्चा चली थी, चित्रपट में आप ही अंकित हैं, नहीं तो भला कामदेव के बहाने और किसका चित्र खींचा जा सकता है !" इत्यादि से आरम्भ कर राजा के इस कथन तक—"भाई मृणाल, हार, प्यारी के घटस्तन के सम्पर्क से च्युत होकर क्यों सूख रहे हो ? अरे भाई, तुम निरे बुद्धू मालूम हो रहे हो, भला बताओ तो सही, उसके घटस्तनों के बीच में अति सूक्ष्म तन्तु के रखने-भर का तो स्थान ही नहीं है, फिर तेरे-ऐसे मूसरचंद के लिए वहाँ स्थान ही कहाँ है ?"

इस प्रकार राजा और विदूषक तथा सुसंगता और सागरिका की आपसी बातों से उत्तरोत्तर अनुराग-बीज प्रकटित हो रहा है। अतः यह प्रगमन का उदाहरण हुआ।

हितरोधो निरोधनम्।

निरोध—हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट पड़ जाने को निरोध कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में, "राजा—धिक् मूर्ख, संयोग से किसी प्रकार वह (जिसके अन्दर मेरे विषय में अनुराग प्रकट हो रहा था) मिली भी तो तूने मेरे हाथ में आयी हुई उस 'रत्नावली' नामक कान्ता को 'रत्नावली' की माला की तरह च्युत करा दिया। अभी मैं उसे कण्ठ में लगाना ही चाहता था कि तूने उसमें व्यवधान लाकर मुझे अपना अभीप्सित पूरा करने में बाधा पहुँचा दी।" यहाँ पर वत्सराज के मन में सागरिका से समागम की जो इच्छा रही, उसमें "वासवदत्ता आ रही है" ऐसे कथन से रोक (व्यवधान) पड़ गया। अतः यह निरोध हुआ।

पर्युपास्तिरनुनयः

पर्युपासन—क्रुद्ध व्यक्ति को खुश करने के लिए प्रार्थना करने को वर्युपासन कहते हैं।

जैसे, रत्नावली नाटिका' में महाराज वासदत्ता को मनाते समय कह रहे हैं—"राजा—देवि, यदि मैं तुम्हें प्रसन्न होने को कहूँ तो यह बात अव्यक्त क्रोध वाली तुम्हारे लिए युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। यदि मैं ऐसा कहूँ कि आज से फिर ऐसा काम नहीं करूँगा, सो भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि इससे तो उलटे यही बात प्रमाणित होने लगेगी कि मैंने सचमुच यह काम किया है। यदि मैं यह कहूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है तो तुम इसे मिथ्या ही मानोगी। सो हे प्रिये, इस समय क्या कहना चाहिए यह मेरी समझ में नहीं आता। अतः मेरे ऊपर कृपा करके क्षमा प्रदान करो।" इसके द्वारा चित्रफलक में एक साथ सागरिका और महाराज को देख कुपित वासवदत्ता के लिए प्रसन्न करने के लिए किये गए प्रयत्न सागरिका और वत्सराज के अनुराग के प्रकट होने से पर्युपासन हुआ।

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

पुष्प--विशेषतायुक्त वचन के कथन को पुष्प कहते हैं ॥ ३४ ॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में राजा का सागरिका के हाथों के स्पर्श-सुख से पुलकित हो, विदूषक से निम्नलिखित वचन का कथन—विदूषक राजा से कहता है—"मित्र तूने अपूर्व लक्ष्मी तो प्राप्त कर ली।" विदूषक के वचन को सुनकर महाराज कहते हैं—

"यह सागरिका सचमुच साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली निश्चय ही पारिजात के नूतन पल्लव हैं, नहीं तो भला पसीने के बहाने अमृत इसमें से कहाँ से टपकते!"

इस प्रकार नायक और नायिका के एक-दूसरे के देखने आदि से युक्त (विशेषता लिए-दिए) अनुराग के प्रकट होने से यह पुष्प है।

उपन्यासस्तु सोपायं

उपन्यास---युक्तिपूर्ण वाक्य के कथन को उपन्यास कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में सुसंगता का राजा के प्रति यह कथन—"महाराज, आप मुझ पर प्रसन्न हैं, यही क्या कम है? आप किसी प्रकार की शंका न करें, मैंने ही यह खेल किया है, आभूषण मुझे नहीं चाहिए। मेरी सखी मुझ पर इसलिए अप्रसन्न है कि मैंने इसका चित्र इस चित्रपट पर क्यों आँका। सो महाराज, चलकर जरा उसे मना दीजिए। इससे बढ़कर मेरे लिए और कौन-सी बख्शीश (पुरस्कार) हो सकती है!"

यहाँ पर सुसंगता ने, 'सागरिका मेंरे द्वारा तथा आप उसके द्वारा चित्रित किये गए हैं', इस बात को भङ्ग्यन्तरेण राजा से कहकर उसको प्रसन्न करने के लिए जो निवेदन किया, इन सब बातों से अनुराग-बीज लक्षित हो रहा है, अतः यहाँ उपन्यास है।

वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्

वज्र---सम्मुख निष्ठुर वाक्य के कथन को वज्र कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में वासवदत्ता चित्रपट की ओर निर्देश करके कहती है—"आर्यपुत्र, यह मूर्ति जो आपके पास मौजूद है, यह भी क्या वसन्तक के ही पाण्डित्य की द्योतिका है?" फिर कहती है—"आर्यपुत्र, इस चित्र को देख मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हो गई है।"

यहाँ पर वासवदत्ता द्वारा सागरिका और वत्सराज का अनुराग प्रकट किया जाता है, जिसका वासवदत्ता द्वारा प्रत्यक्ष कथन वज्र के सदृश दुःखदायी होने के कारण 'वज्र' है।

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

वर्णसंहार—चारों वर्णों के सम्मिलन को वर्णसंहार कहते हैं ॥ ३६ ॥

जैसे, 'महावीरचरित' के तृतीय अंक में—"यह ऋषियों की सभा है, ये वीर युधाजित हैं, ये मन्त्रियों के साथ राजा रोमपाद हैं। और यह सदा यज्ञ करने वाले जनक कुल के स्वामी होते हुए भी सदा अद्रोह की आकांक्षा रखने वाले ब्रह्मवादी महाराज जनक हैं।"

इस श्लोक में ऋषि, क्षत्रिय, अमात्य आदि का एकत्र होना वर्णित है। इसमें राम की विजय की सूचना मिलती है। साथ ही परशुराम की उच्छृङ्खलता का पता जनक द्वारा अद्रोह की याञ्चा के कथन से होता है। अतः यह वर्णसंहार है।

ये उपर्युक्त १३ प्रतिमुख सन्धि के अंग हैं। इसमें मुखसन्धि में पड़ा हुआ अन्तर्बीज और सहबीज को प्रयत्न (अवस्था) के अनुकूल रहना चाहिए। इन तेरहों में से परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास और पुष्प इनकी रूपकों में स्थान देना आवश्यक हैं, शेष का प्रयोग यथासम्भव होना चाहिए।

गर्भ सन्धि

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ॥ ३६ ॥

इस तृतीय संधि गर्भसंधि का जन्म सिद्धान्तानुसार पताका नामक अर्थप्रकृति और प्राप्त्याशा नामक अवस्था के संयोग से होना स्वतः सिद्ध है, पर (ग्रंथकार का) इसके विषय में यह कहना है कि और संधियों के लिए तो पूर्वनियम ठीक लागू होता है, पर इसमें कुछ विशेषता रहती है। वह यह है कि इसमें प्राप्त्याशा नामक अवस्था का रहना तो आवश्यक है पर पताका नामक अर्थप्रकृति का रहना उतना आवश्यक नहीं है। अर्थात् पताका नामक अर्थप्रकृति रह भी सकती है, नहीं भी रह सकती है, पर प्राप्त्याशा नामक अवस्था का रहना तो नितान्त आवश्यक है ॥ ३६ ॥

प्रतिमुख सन्धि में किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इसमें कभी तो विघ्नों के कारण ऐसा लगता है कि कार्य सफल नहीं हो पाएगा। फिर विघ्न के हट जाने से कार्य की सफलता दिखाई देती है, फिर विघ्न के आ जाने से कार्यसिद्धि में सन्देह पैदा हो जाता है, फिर प्राप्ति की आशा दृढ़ हो जाती है। इस प्रकार की व्यापार-शृंखला चलती रहती हैं। इस प्रकार यह गर्भसन्धि फल की प्राप्ति में अनिश्चितता से भरी रहती है।

'रत्नावली नाटिका' के तृतीय अंक में यह बात देखने को मिलती है। वत्सराज को सागरिका के साथ समागम करने में वासवदत्ता-रूपी विघ्न की सदा आशंका बनी रहती है, किन्तु विदूषक के इस वचन से कि "सागरिका महारानी

वादवदत्ता के वेष में ही आपसे मिलने आने वाली है इससे सागरिका से मिलने की आशा बँध जाती है। इसके बाद इस प्रेम-व्यापार में वासवदत्ता के द्वारा आघात पहुँचता है, निदान एक तरह से मिलने की आशारूप प्रेम-व्यापार भंग हो जाता है। इसके बाद फिर आशा बँध जाती है, फिर विच्छेद हो जाता है, फिर विघ्नों के दूर करने में सचेष्ट होना पड़ता है और अन्त में कहना पड़ जाता है कि सागरिका की प्राप्ति के लिए देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा दूसरा कोई उपाय दिखाई नहीं देता।

इस सन्धि के १२ अंग होते हैं—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा॥ ३७॥
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते।

१. अभूताहरण, २. मार्ग, ३. रूप, ४. उदाहरण, ५. क्रम, ६. संग्रह, ७. अनुमान, ८. तोटक, ९. अधिबल, १०. उद्वेग, ११. सम्भ्रम और १२. आक्षेप॥३७॥

अब इनका लक्षण के साथ उदाहरण दिया जाता है।

अभूताहरणं छद्म

अभूताहरण—कपटयुक्त वचन के कथन को अभूताहरण कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में कांचनमाला विदूषक से कहती है—"साधु रे अमात्य वसन्तक साधु, इस प्रकार की सन्धि-विग्रह में तो तूने अमात्य यौगन्धारायण से भी बाजी मार ली।" इस प्रकार से प्रवेशक के द्वारा सुसंगता और विदूषक के सिखाने-पढ़ाने से वासवदत्ता के वेष में अभिसरण करनेवाली सागरिका के छद्मकार्य को कांचनमाला ने व्यक्त कर दिया!

मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम्॥ ३८॥

मार्ग—सच्ची तत्त्वगर्भित बात के कथन को मार्ग कहते हैं॥३८॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में विदूषक—"मित्र आपकी जय हो, आप बड़े भाग्यशाली हैं, आपकी अभिलाषा पूरी हुई।

राजा—मित्र, मेरी प्रिया सागरिका सकुशल तो है न?

विदूषक—अब देर नहीं है, आप स्वयं उसे देख इस बात का निर्णय कर लेंगे कि सकुशल है अथवा नहीं!

राजा—क्या उसके दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त होगा?

विदूषक—(गर्वपूर्वक) अपनी बुद्धि से वृहस्पति को भी मात कर देने वाला वसन्तक जब आपका अमात्य है तो फिर दर्शन होना कौनसी बड़ी बात है जो न हो सकेगा?

राजा—मैं जानने के लिए उत्सुक हूँ कि वह कैसे सम्पन्न होगा ?

विदूषक—(राजा के कान में कहता है) ऐसे ।"

यहाँ पर विदूषक के द्वारा सागरिका के समागमरूप तत्त्व की बात सत्य और निश्चय के साथ कही गई है, अतः यह मार्ग का उदाहरण हुआ ।

रूपं वितर्कवद्वाक्यं

रूप—वितर्कयुक्त बात के कथन को रूप कहते हैं ।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में "राजा—कितनी आश्चर्य की बात हैं कि कामी जनों को अपनी स्त्री की अपेक्षा परस्त्री में अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है । और यद्यपि (परस्त्री) नवोढ़ा प्रणय से आर्द्र अपनी दृष्टि को लोकभय आदि के कारण नायक के मुख पर जमकर लगाती भी नहीं । प्रेम के भावावेश में कंठालिगन करते समय घनघोर स्तनालिंगन से भी वंचित ही रखती है, प्रयासपूर्वक ग्रहण किए जाने पर भी 'मैं जा रही हूँ' 'मैं जा रही हूँ' इस बात को बार-बार कहा करती हैं, फिर भी संकेत-स्थल में बैठकर इस प्रकार की रमणी की प्रतीक्षा करने में कामी जनों को अपूर्व ही आनन्द की प्राप्ति होती है ।" "क्या कारण है कि वसन्तक अभी तक नहीं आया ? कहीं इस बात का पता वासवदत्ता को तो नहीं लग गया ।" इत्यादि के द्वारा सागरिका के समागम की प्राप्ति की आशा की अनुकूलता में वासवदता द्वारा विघ्न पड़ जाने की बात का सोचना वितर्क है ।

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

उदाहृति या उदाहरण—उत्कर्षयुक्त वचन के कथन को उदाहृति या उदाहरण कहते है ।

"जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में विदूषक का कथन—(हर्ष के साथ) "महाराज को मेरे प्रिय वचन को सुनकर इतना अधिक आनन्द होगा जितना कौशाम्बी राज्य के विजय के समय में भी नहीं हो पाया था ।"

रत्नावली की प्राप्ति की बात कौशाम्बी राज्य की प्राप्ति से भी बढ़कर होगी, इस प्रकार यहाँ उत्कर्ष का कथन हुआ है, अतः यह उदाहरण हुआ ।

क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिर्

क्रम—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को क्रम कहते हैं ।

'रत्नावली नाटिका' में राजा उत्कण्ठा के साथ कहता है—"प्रियातमा के मिलने का समय अति सन्निकट होते हुए भी न जाने क्यों चित्त अत्यधिक उत्कंठित हो रहा है ।

अथवा—

तीव्र कामदेव का संताप इच्छित वस्तु के दूर रहने पर उतना कष्टकर नहीं

होता जितना सन्निकट रहने पर। गरमी का वह दिन जो वर्षा काल से दूर रहता है उतना कष्टप्रद नहीं होता, जितना वर्षा के सन्निकट वाले दिन कष्टकर होते हैं।

विदूषक—(सुनकर) सागरिका, देख महाराज उत्कंठित होकर तुम्हारे ही विषय में सोचते हुए धीरे-धीरे कुछ बोल रहे हैं, सो मैं आगे चलकर तेरे आने की सूचना उन्हें दे दूँ।

इस प्रकार यहाँ सागरिका के समागम की अभिलाषा वाले वत्सराज को भ्रान्त सागरिका (वासवदत्ता सागरिका रूप में) की प्राप्ति क्रम है।

भावज्ञानमथापरे ॥ ३९ ॥

जैसे, 'रत्नावली' में राजा—"प्रिय सागरिका, तेरा मुख चन्द्रमा के समान आह्लाददायक है, नेत्र नीलकमल की शोभा धारण करते हैं, कदली के अन्तर्भाग (भीतरी हिस्से) के सदृश सुन्दर तेरे जंघे हैं, तेरे हाथ रक्तकमल की शोभा धारण करते है; और भुजाएँ मृणाल की शोभा को धारण किये हुए हैं, इस प्रकार से सम्पूर्ण अंगों में आह्लादकता को धारण करने वाली तू निःशंक होकर कामदेव के संताप से व्याकुल मेरे अंगों को वेग के साथ आलिंगन कर मेरे अंगों के संताप को दूर कर।"

यहाँ से लेकर, पदस्य रुचिं न हन्ति''''तदत्यस्त्येव विम्बाधरे।—

यहाँ तक की बातों से वासवदत्ता को वत्सराज उदयन का भाव ग्रहण हो जाता है, अतः यह अन्य लोगों की दृष्टि से क्रम का उदाहरण हुआ।

संग्रहः सामदानोक्तिर्

संग्रह—सामदामयुक्त उक्ति को संग्रह कहते हैं।

'रत्नावली नाटिका' में सागरिका के ले आने पर विदूषक को धन्यवाद के साथ पारितोषिक देना—"मित्र, तुम्हें धन्यवाद है, मैं पारितोषिक स्वरूप यह कटक तुम्हें देता हूँ। इस प्रकार साम, दाम आदि, के द्वारा विदूषक का सागरिका के साथ वत्सराज को मिला देना, आदि बातों का संग्रह 'संग्रह' का उदाहरण है।

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा।

अनुमान—चिन्ह-विशेष के द्वारा किसी बात का अनुमान करना अनुमान कहलाता है।

जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज का विदूषक से यह कहना—"मूर्ख कही का, तुम्हारे ही द्वारा मुझे इस अनर्थ का सामना करना पड़ा।

अनेक दिनों के प्रेम-व्यापार के द्वारा जो प्रेम उत्कृष्टता प्राप्त कर गया था वह आज मेरे ऐसे निन्दित कार्य के द्वारा, जैसा कि आज तक कभी भी नहीं किया था, नष्ट कर डाला गया। अपमान के सहन करने की क्षमता न रखने वाली

मेरी प्राणप्रिया वासदत्ता निश्चय ही आज इस अकार्य के कारण अपने प्राणों को छोड़ देगी, क्योंकि प्रकृष्ट प्रेम का त्रुटित हो जाना निश्चय ही असह्य होता है।" राजा की इस बात को सुनकर विदूषक कहता है—"मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी यह तो मैं नहीं जानता, पर मुझे तो सागरिका का ही जीवन दुष्कर प्रतीत हो रहा है।"

यहाँ पर राजा का सागरिका में अनुराग है, इस बात को वासवदत्ता जान गई है, अतः इस घटना के असह्य हो जाने के कारण वह अवश्य अपने प्राणों को छोड़ देगी, इस बात का अनुमान किया जाता है, अतः यह अनुमान है।

अधिबलमभिसंधिः

अधिवल—संगम होने को अधिबल कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में कांचनमाला वासवदत्ता से कहती है—महारानी, यही चित्रशाला है, अतः अब वसन्तक को बुलाती हूँ (चिटुकी बजाती है, इस प्रकार सागरिका और सुसंगता के वेष धारण की हुई वासवदत्ता और कांचनमाला से राजा और विदूषक का संगम होता है, यह अधिवल हुआ।

संरब्धं तोटकं वचः ॥ ४० ॥

तोटक—क्रोधयुक्त वचन को त्रोटक कहते हैं ॥ ४० ॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में वासवदत्ता राजा से कहती है—(पास जाकर) "आर्यपुत्र, आपका यह कार्य आपके नाम और यश के अनुरूप ही है। (फिर बिगड़कर)

कांचनमाले, इस दुष्ट ब्राह्मण को इस लता से बाँधकर ले चल तथा इस दुष्ट लड़की को भी आगे कर ले।"

इस प्रकार के वासवदत्ता के क्रोधित वाक्यों से सागरिका के समन्वय में विघ्न पड़ जाने से अनियत प्राप्ति के कारण तोटक हुआ।

'वेणीसंहार' में भी अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है—"यदि मैं सेनापति बना दिया जाऊँ तो आपके सारे शत्रुओं को नष्ट कर डालूँगा। शत्रुओं के अभाव में बन्दियों के मंगलपाठ द्वारा बहुत परिश्रम से निद्रा भंग किए जाने पर आज आप निशाकाल-पर्यन्त (सानन्द) शयन करेंगे।" यहाँ से लेकर कर्ण का अश्वत्थामा के प्रति यह कहना कि रे शठ, जब तक मेरे हाथों में अस्त्र है तब तक अन्य धनुर्धारियों की क्या आवश्यकता ? आदि यहाँ तक।

अपने पक्ष की सेना में फूट डालने वाला कर्ण और अश्वत्थामा का वाग्युद्ध पाण्डवों की विजय-प्राप्ति के अनुकूल होने के कारण तोटक है।

दूसरे ग्रन्थकारों के अनुसार तोटक का उलटा अधिबल होता है। अर्थात् क्रोधयुक्त वचन तोटक में होता है, अतः इसमें विनययुक्त वचन रहता है। जैसे

'रत्नावली' नाटिका में राजा वासवदत्ता से कहता है—"प्रत्यक्ष अपराध के देखे जाने पर भी आपसे निवेदन यह है कि 'देवि, दं ारम होकर आलक्त से रंगे हुए तेरे चरणों की लालिमा को अपने मस्तक से रगड़कर साफ़ कर देने में तो मैं समर्थ हूँ, पर तुम्हारे मुखचन्द्र पर छायी हुई कोप की अरुणाई को दूर करने में तो मैं तब तक समर्थ नहीं हो सकता जब तक समर्थ नहीं हो सकता जब तक आपके कृपाकटाक्ष का विक्षेप मेरे ऊपर न हो।"

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रु वतेऽधिबलं बुधाः ।
संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ।। ४१ ।।

तोटक—उद्विग्नयुक्तवचन को तोटक कहते हैं ।। ४१ ।।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में "राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ।"

वासवदत्ता (आँखों में आँसू भरकर)—आर्यपुत्र, मुझे प्रिया कहके मत पुकारिए, क्योंकि यह विशेषण आपके द्वारा दूसरे नाम (सागरिका) के साथ जोड़ा जा चुका है। सागरिका इस शब्द (प्रिया शब्द) की भाजन बन चुकी है।

जैसे 'वेणीसंहार' में भी—"राजा—सुन्दरक, अङ्गराज कर्णं सकुशल तो हैं न ? पुरुष—महाराज, वे जीवित हैं इतना ही कुशल समझिए।

दुर्योधन—(व्याकुलता के साथ) सुन्दरक, क्या अर्जुन ने उसके घोड़े और सारथि को तो नहीं मार डाला ? और क्या उसने उसके रथ को भी तो नहीं भग्न कर डाला ?

सुन्दरक—महाराज, केवल रथ ही नहीं भंग किया गया किन्तु साथ-साथ उनके मनोरथ (पुत्र) को भी।

दुर्योधन—कैसे ?" यहाँ पर उद्वेगयुक्त वचन के होने से तोटक है।

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः

उद्वेग—शत्रु से उत्पन्न भय को उद्वे ग कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में—"सागरिका (अपने-आप सोचती है) मैं ऐसी पापिनी हूँ कि अपनी इच्छा से मर भी नहीं सकती।" यहाँ पर वासवदत्ता से उत्पन्न सागरिका का भय उद्वे ग का उदाहरण है।

'वेणीसंहार' में भी—'अरे, कौरव-नरेश के पुत्र रूपी विशाल वन को निर्मूल करने में भयंकर आँधी के समान यह दुष्ट भीमसेन समीप में ही विद्यमान है, महाराज को अभी चेतना नहीं आयी है। जो हो, मैं यथाशक्ति रथ को दूर भगा ले चलूँ, क्योंकि दुःशासन की ही तरह इन पर भी कदाचित यह नीच अपनी नीचता न कर बैठे।" यहाँ पर शत्रु द्वारा भय होने के कारण उद्वेग है।

शङ्कात्रासौ च संभ्रमः ।

संभ्रम--शंका और त्रास के होने को संभ्रम कहते हैं ।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में, "विदूषक—यह कौन-सी रमणी है ? संभ्रम के साथ मित्र बचाओ, बचाओ, वासवदत्ता फाँसी लगा रही है ।"

यहाँ पर सागरिका को वासवदत्ता समझ कर मरण की शंका से संभ्रम पैदा हुआ है । इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी—"(नेपथ्य में कलकल शब्द होता है) मामा, मामा, बड़े दुःख की बात है । यह अर्जुन अपने भाई के प्रतिज्ञा भंग हो जाने के भय से अमोघ शरों की वर्षा करते हुए दुर्योधन और कर्ण की ओर दौड़ रहा है । हाय, दुःख की बात है—भीम ने दुःशासन का रक्तपात कर लिया ।" यहाँ तक तो शंका है और प्रहार से संभ्रान्त सूत का अश्वत्थामा के प्रति यह कथन—कुमार बचाओ, बचाओ, यह त्रास है । इस प्रकार से यहाँ अर दुःशासन और द्रोण के वध की सूचना देने वाले इस त्रास और शंका से युक्त बचन द्वारा विजय-प्राप्ति की आशा से युक्त यह संभ्रम है ।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२॥

आक्षेप--गर्भ में रहने वाले बीज के स्पष्ट होने को आक्षेप कहते हैं ॥४२॥

जैसे राजा द्वारा यह कथन—"मित्र देवी को खुश करने के सिवा और कोई उपाय दिखाई नहीं देता ।........पर देवी को प्रसन्न करने में मैं हर तरह से निराशित हो गया हूं ।....फिर यहाँ रुकने से क्या लाभ, चलकर देवी को ही प्रसन्न करूँ ।" इस कथन का तात्पर्य यही निकलता है कि देवी के प्रसन्न करने से ही सागरिका मिल सकती हैं । इस प्रकार यहाँ पर गर्भ में पड़े हुए बीज के प्रकटित होने से यह आक्षेप हुआ ।

जैसे 'वेणीसंहार' से भी—"सुन्दरक अथवा इसमें भाग्य को क्यों दोष दूँ—क्योंकि विदुर के वचनों की अवहेलना जिस वृक्ष का बीज है, भीष्म पितामह के उपदेश की अवज्ञा जिसका अंकुर है, बर्बर शत्रुओं द्वारा किया गया प्रोत्साहन जिसका सुदृढ़ मूल है । लाक्षागृह, द्यूत और विष प्रदान आदि जिसके आलबाल हैं । चिरकाल की शत्रुतावश द्रौपदी के केशों को खींचना जिसका पुष्प है, ऐसे वृक्ष का फल है कौरव-कुल का विनाश जोकि फल रहा हैं ।" यहाँ बीज ही फल के उन्मुख होकर आपेक्ष कर लिया जाता है । अतः यह आक्षेप हुआ । इन बारह अंगों में से १. अभूताहरण, २. मार्ग, ४. रूप, ४. उदाहरण, ५. तोटक ६. अधिबल, ७. आक्षेप, इनका रखना आवश्यक होता है, शेष के लिए छूट है । नाटच-प्रणेता उन्हें रखना चाहें तो रखें और न चाहें न रखें ।

अवमर्श संधि

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः ॥ ४३ ॥

क्रोध, व्यसन, विलोभन आदि द्वारा गर्भसन्धि में पड़ा हुआ बीज फल की तरफ अग्रसर होता हुआ जब अधिक विस्तृत रूप धारण कर लेता है उसको अवमर्श सन्धि कहते हैं ॥ ४३ ॥

अवमर्श का अर्थ होता है पर्यालोचन करना । वह व्यसन, विलोकन आदि कारणों से होता है । 'ऐसा करने से यह होगा ।' इस प्रकार निश्चित फल को प्राप्ति होगी । इस प्रकार का समझकर किया गया प्रयत्न इसमें पाया जाता है । 'रत्नावली' नाटिका के चौथे अंक में जहाँ अग्नि के कारण गड़बड़ी मचती है, वहाँ तक यह सन्धि है । इस अंक में वासवदत्ता की प्रसक्ति से विघ्नरहित रत्नावली की प्राप्ति में लग जाना कार्य-विमर्श दिखलाया गया है । 'वेणीसंहार' में भी दुर्योधन के रुधिर से लथपथ भीमसेन के आगमन-पर्यन्त इसी विमर्श-सन्धि का दिग्दर्शन कराया गया है ।

युधिष्ठिर—(सोचकर दीर्घ श्वास लेते हुए) भीष्मरूप समुद्र पार कर गए द्रोणरूप आग भी बुझ गई, कर्णरूप महा विषैला सर्प भी नष्ट कर डाला गया, शल्य भी स्वर्ग के पथिक बने, अतः विजय-लाभ अति सन्निकट है । तो भी अति साहसी भीमसेन की प्रतिज्ञा ने हम लोगों के जीवन को संकट में डाल दिया है ।

यहाँ पर "विजय-लाभ अति सन्निकट होते हुए भी," युधिष्ठिर सोच रहे हैं कि भीष्म आदि के मारे जाने से विजय निश्चित रही, पर भीम ने इस बीच प्रतिज्ञा कर हम लोगों के जीवन को खतरे में डाल दिया । इस प्रकार जो विचार करना है वह विमर्श संधि के भीतर आता है ।

अवमर्श संधि के तेरह अंग होते हैं—

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः ।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

१. अपवाद, २. संफेट, ३. विद्रव, ४. द्रव, ५. गुरु, तिरस्कार, ६. प्रसंग ७. छलन, ८. अवमान, ९. व्यवसाय, १०. विरोधन, ११. प्ररोचना, १२. विचलन और १३. आदान ।

अपवाद—दोष के कथन को अपवाद कहते हैं । दोष-कथन का तात्पर्य है किसी के दोष का प्रचार करना ॥ ४४ ॥

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में सुसंगता—देवी उसे उज्जयिनी ले गई, इस बात को प्रचारित कर न जाने वह बेचारी कहाँ भेज दी गई ।

विदूषक—"देवी ने यह अति निष्ठुर कर्म किया।" फिर "खैर, मित्र चिन्ता न करो, निश्चित देवी ने उसे उज्जयिनी भेजा है, इसलिए मैंने अप्रिय शब्द का प्रयोग किया है और कोई बात नहीं है।" इस प्रकार यहाँ पर वासवदत्ता के दोष के फैलाने या कथन के कारण यह अपवाद है। 'वेणीसंहार' में भी—"युधिष्ठिर-कौरवों में नीच उस दुष्ट दुर्योधन का कुछ पता चला ?

दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्

पाञ्चालक—महाराज, न केवल उसका पता ही मात्र चला है अपितु देवी द्रौपदी के केशपाश के स्पर्श-रूपी महापातक का प्रधान कारण दुरात्मा प्राप्त भी हो गया है।" यहाँ पर दुर्योधन की निन्दा होने से अपवाद है।

संफेटो रोषभाषणम्।

संफेट—रोष से भरे हुए कथनोपकथन को संफेट कहते हैं।

जैसे 'वेणीसंहार' में—"दुर्योधन, भाइयों के नष्ट हो जाने से घबराओ मत, इस बात की चिन्ता मत करो कि पांडव पाँच है और मैं अकेला असहाय हूँ। अतः हम पाँचों में से जिसके साथ युद्ध करने की इच्छा हो, कवच पहन, हाथ में अस्त्र ले, उससे युद्ध करो।" इस बात को सुनकर दुर्योधन दोनों कुमारों भीम और अर्जुन को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ बोला—

'कर्ण और दुःशासन के वध से यद्यपि तुम दोनों मेरे लिए समान हो तथापि शत्रु होते हुए भी तुम लोग साहसी हो, अतः तुम लोगों के साथ ही युद्ध करना मैं उचित समझता हूँ।'

यह कहकर एक-दूसरे को क्रोधपूर्वक निंदायुक्त कटु वचनों के साथ विकट युद्ध का प्रस्ताव करके ......इत्यादि।"

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति रोष से भरे हुए कथन के होने से यह संफेट का उदाहरण हुआ। यह संफेट विजय-रूपी बीज से अन्वित ही है।

विद्रवो वधबन्धादिर्

विद्रव—वध, बन्धन आदि बातें जिसमें पाई जाती हों उसे विद्रव कहते हैं।

जैसे 'छलित राम नाटक' में लव के बाँधे जाने पर ऋषिगणों का उसे देख उसके प्रति दुखोद्गार प्रकट करना—

"जिसके मुख ने सामवेद के पाठ करने में अत्यन्त कष्ट उठाया था, बाल्य-काल में जो हम लोगों के हाथ से अक्षवलय को लेकर क्रीड़ा किया करता था; वह हम लोगों का हृदयस्वरूप लव आज बाणों के लगने से कंधे के भर जाने से घायल होकर मूर्छित अवस्था में सैनिकों द्वारा पकड़कर ले जाया जा रहा है।" ऐसे ही 'रत्नावली' नाटिका में भी—

"अन्तपुर में अग्नि अकस्मात् धधकती हुई दीख पड़ती है। इसने गगनचुम्बी अट्टालिकाओं को जलाते हुए स्वर्ण की चोटी का-सा रूप धारण कर लिया है। इसने बगीचे के आर्द्रवृक्षों को भी जलाकर अत्यन्त तीव्र ताप को पैदा कर दिया है तथा अपनी धूम से क्रीड़ा-पर्वत को जल से भरे हुए बादल का-सा रूप बना डाला है। इसके मारे महिलाएँ संत्रस्त हो गई हैं।" इत्यादि....

फिर इसके बाद वासवदत्ता महाराज से कहती है—'प्रियतम, मैं अपने लिए नहीं कह रही हूँ बल्कि मुझ क्रूरहृदया के द्वारा बाँधी गई सागरिका कष्ट पा रही है। उसी की रक्षा के लिए निवेदन कर रही हूँ।' यहाँ पर सागरिका के बंधन की बात पाई जाती है, अतः विद्रव हुआ।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

द्रव—गुरुजनों के अपमान करने को द्रव कहते हैं ॥ ४५ ॥

जैसे 'उत्तर रामचरित' में लव चन्द्रकेतु से कहता है—

"गुरुजनों के बारे में कुछ न कहना ही उचित है। सुन्द की स्त्री ताड़का के वध करने पर भी अप्रतिहत यश वाले वे लोक में श्रेष्ठ ही हैं। खर के साथ युद्ध करने में तीन पग पीछे जिनको हटना पड़ा था और बाली के वध में जिन्होंने सुन्दर युद्ध-कौशल प्रदर्शित किया था, उससे भी लोग परिचित ही हैं, अतः वृद्धों के चरित की आलोचना न करना ही ठीक है।"

यहाँ लव ने गुरु राम का तिरस्कार किया है, अतः द्रव है।

'वेणीसंहार' में भी—"युधिष्ठिर—सुभद्रा के बड़े भैया बलरामजी, सम्बन्धियों के प्रति किए जाने वाले सद्व्यवहार के प्रति आपने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया, साथ ही आपने क्षत्रिय धर्म का भी ठीक से पालन नहीं किया। इसके अलावा अपने लघु भ्राता कृष्णचन्द्र के साथ अर्जुन की कैसी मित्रता है इस बात को आपने तृण के समान भी महत्त्व नहीं दिया। आपको भीम और दुर्योधन दोनों शिष्यों में समान ही ममता होनी चाहिए थी। पर न मालूम यह कौनसा मार्ग आपने अपनाया है जो मुझ अभागे से आप इस प्रकार रुष्ट हो गए!"

यहाँ पर युधिष्ठिर द्वारा गुरु बलरामजी का तिरस्कार हुआ है, अतः द्रव है।

विरोधशमनं शक्तिस्

शक्ति—विरोध के शान्त हो जाने को शक्ति कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में राजा कहते हैं—

मैंने अपनी प्रियतमा वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए बातें बना-बनाकर शपथ खाई, मीठी-से-मीठी चाटुकारिता-भरी बातें कहीं, निर्लज्ज हो उसके पैरों पड़ा, उसकी सखियों ने भी उसके क्रोध को दूर करने के लिए एक न उठा रखी, पर उसमें ज़रा भी नरमाहट नहीं आई। आश्चर्य तो इस बात से होता है कि

मेरे द्वारा किये गए इतने उपचार के बाद भी उसके क्रोध के दूर करने में वैसी सफलता प्राप्त न कर सके जैसा स्वयं उसका रुदन आँसुओं के द्वारा प्रक्षालन करने में समर्थ हो सका।

सागरिका की प्राप्ति का विरोधी वासवदत्ता के कोप का शांत हो जाना द्रव है। जैसे, 'उत्तर रामचरित' में भी लव का यह कथन—

"वैर शान्त हो गया, अतिशय सुख से गाढ़ अनुराग फैल रहा है। ऐसा लगता है कि वह मेरे अन्दर का दर्प कहीं चला गया है; नम्रता मुझे झुकने के लिए बाध्य कर रही है। इनके (राम के) देखने पर न जाने क्यों पराधीन-सा हो गया हूँ; लगता है पवित्र स्थानों की तरह महापुरुषों का कोई बहुमूल्य उत्कर्ष होता है।

तर्जनोद्वेजने द्युतिः।

द्युति—तर्जन और उद्वेजन को द्युति कहते हैं।

जैसे, 'वेणी संहार' में—

"बलराम के भाई कृष्णचन्द्र के इस वाक्य को सुनकर भीमसेन ने उस कासार के जल को आलोड़ित कर दिया। आलोड़न करने से उसका जल चारों दिशाओं को पूरित करके बह चला। सम्पूर्ण जलचर विकल हो गए, मगर और घड़ियाल व्यग्र हो उठे।"

इसके बाद भीमसेन ने भीषण गर्जन के साथ पुनः कहा—"अरे रे मिथ्या-बल और पराक्रम का अभिमान करने वाले तथा द्रौपदी के केश और वस्त्र के आकर्षण करने वाले महापातकी दुर्योधन !

तुम अपना जन्म विमल चन्द्रवंश में बताते हो और अब भी हाथ में गदा धारण करते हो तथा दुःशासन के गरम रक्त-रूपी मदिरा से मत्त मुझे शत्रु कहते फ़िरते हो, अरे अहंकार से अंधे, मधु और कैटभ के शत्रु भगवान् वासुदेव कृष्ण के विषय में असभ्यता का व्यवहार करने वाले, नराधम अब मुझसे भयभीत होकर तथा युद्ध से परांमुख होकर अब कीचड़ में आकर छिपे हुए हो, तुम्हें धिक्कार है।"

यहाँ से लेकर दुर्योधन का तालाब छोड़ वेग से निकल आना इत्यादि बातों से और दुर्वचन तथा जलाड़ोलन से, जोकि दुर्योधन के लिए उद्वेगजनक है, पाण्डवों के विजय के अनुकूल होने से और भीम की द्युति व्यक्त होने से द्युति है।

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गश्

प्रसंग—गुरुजनों का कीर्तन प्रसंग कहलाता है।

जैसे, 'रत्नावली' में वसुभूति का यह कथन—"देव, सिंहलेश्वर ने, वासव-

दत्ता जलकर मर गई, यह सुनकर पहले सिद्धों के आदेश से माँगी गई अपनी आयुष्मती पुत्री 'रत्नावली' को आपके लिए दिया था।"

यहाँ पर वसुभूति द्वारा प्रसंगानुसार अपने स्वामी सिंहलेश्वर और उनकी प्यारी पुत्री 'रत्नावली' का कीर्तन होने के कारण प्रसंग है। 'मृच्छकटिक' में भी इसका उदाहरण मिलता है—"चाण्डालक—हम लोग धन के लालच से वेश्या वसन्तसेना के हनन करने वाले आर्य विनयदत्त के पौत्र सगरदत्त के लडके चारुदत्त को मारने के लिए वध्य-स्थान ले जा रहे हैं।" इसके बाद चारुदत्त मन-ही-मन सोचते हुए कहते हैं—

"अनेक यज्ञानुष्ठान से पवित्र मेरा वंश, जो पहले यज्ञ आदि की सभाओं के बीच वेदमन्त्रों से पवित्र किया जाता था, उसी मेरे कुल का गान आज कुत्सित पुरुष कुत्सित वृत्तान्त के साथ कर रहे हैं।"

इस प्रकार चारुदत्त द्वारा अपने कुल की प्रशंसा किए जाने के कारण प्रसंग है।

छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

छलन—अपमान के होने या करने को छलन कहते हैं ॥ ४६ ॥

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में—राजा—देवी की मेरे ऊपर तनिक भी कृपा नहीं है। यहाँ पर वासवदत्ता के कार्यों से वत्सराज के अपमानित होने से छलन है। ऐसे ही राम का अपने अभ्युदय के लिए सीता का परित्याग भी छलन ही है।

व्यवसाय : स्वशक्त्युक्तिः

व्यवसाय—अपनी शक्ति के कथन को व्यवसाय कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' में ऐन्द्रजालिक कहता है—"महराज, आपकी जिस वस्तु के देखने की आज्ञा हो सब मैं दिखा सकता हूँ। आज्ञा हो तो पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में आग का प्रज्वलित होना, दोपहर को संध्या होना दिखा सकता हूँ। अथवा अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? मैं प्रतिज्ञापूर्वक इस बात को कहता हूँ कि अपने गुरुमन्त्र के प्रभाव से आप जो कुछ भी चाहते हों सब दिखा सकता हूँ।" ऐसा निवेदन कर ऐन्द्रजालिक ने वत्सराज को सागरिका का दर्शन मिल जाए एतदर्थ मिथ्या अग्नि का प्रदर्शन किया। यहाँ पर अपनी शक्ति के कथन और उसको दिखाने के कारण व्यवसाय है। 'वेणीसंहार' में भी—आज निश्चय ही अपनी प्रतिज्ञा खण्डित होने के भय से भीमसेन तुम्हारे केशकलापों को खींचने वाले उस दुर्योधन का वध करेगा।"

इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा अपनी शक्ति का कथन हुआ है, अतः यह व्यवसाय है।

संरब्धानां विरोधनम् ।

विरोधन—शत्रु के साथ बढ़-चढ़कर अपने पराक्रम के कथन को विरोधन कहते हैं ।

जैसे, 'वेणीसंहार' में—"राजा (दुर्योधन) अरे रे, मरुततनय, वृद्धावस्था से आक्रान्त पिताजी के सामने इस प्रकार से अपने कुत्सित कर्मों की प्रशंसा क्यों करता है ?

तेरे, अर्जुन के, मूर्ख उस राजा युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और समस्त राजन्य मण्डलों के देखते-देखते तेरी भार्या द्रौपदी विश्व के अधिपति मेरी आज्ञा से आकृष्ट की गई । इस शत्रुता के बदले में बताओ तो सही उन राजाओं ने क्या बिगाड़ा था जिनका संहार कर तुम लोग गर्व से फूल गये हो ! तुम लोगों का सारा गर्व मुझ पराक्रमशाली पर विजय पाए बिना व्यर्थ है ।" भीम यह सुनकर क्रोध प्रदर्शित करने लगते हैं । भीम को क्रुद्धयुक्त देख अर्जुन उनसे कहते हैं—

"आर्य क्षमा कीजिए, इस पर क्रोध करने से क्या लाभ है ? यह वचन से हमारा अहित कर रहा है, कर्म से अहित करने में यह समर्थ नहीं है । सौ भाइयों के वध से दुःखी इसके बड़बड़ाने से कष्ट कैसा ?

भीम—अरे रे भरत वंश के कलंक—(दुर्योधन के प्रति) ।

क्रूरभाषी, यदि गुरु (धृतराष्ट्र) विघ्नस्वरूप उपस्थित न होते तो अपनी गदा की चोट से तेरी पसलियों को तोड़कर तुम्हें दुःशासन के पथ का पथिक बना देता । और फिर, ऐ मूर्ख,

कौरवकुल कमल के लिए हाथी के समान आचरण करने वाले मुझ भीमसेन के रहते ओ तू अभी तक बच पाया है इसका कारण यह है कि ऐसी मेरी इच्छा रही कि स्त्रियों के समान रुलाते हुए तेरे देखते-देखते तेरे कनिष्ठ भ्राता दुःशासन का वध करूँ ।

दुर्योधन—दुष्ट, भरतवंश में नीच, पाण्डव पशु, तुम्हारी तरह मैं डींग नहीं हाँकता किन्तु—

समरभूमि के बीच शीघ्र ही तुम्हारे भाई-बन्धु मेरी गदा से भिन्न वक्षःस्थल की पसलियों की लुगदी रूप आभूषण से भूषित तुम्हें देखेंगे ।"

इत्यादि द्वारा भीम-दुर्योधन का आपस में वैर-भाव से अपनी-अपनी शक्ति का कथन विरोधन हैं ।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ।। ४७ ।।

प्ररोचना—किसी सिद्ध पुरुष द्वारा होने वाले कार्य के विषय में इस प्रकार के कथन से कि यह तो सिद्ध ही है, अर्थात् यह कार्य तो हुआ ही है, आगे होने वाले कार्य को सिद्ध हुए के समान दिखलाना प्ररोचना कहलाता है ।। ४७ ।।

जैसे 'वेणीसंहार' में, "पाञ्चालक—मैं चक्रधारी भगवान् वासुदेव द्वारा आप (युधिष्ठिर) के समीप भेजा गया हूँ ।" यहाँ से आरम्भ करके, "सन्देह

करना व्यर्थ है—आपके अभिषेक के लिए मणिमय कलश पूर्ण करके रखे जाएँ द्रौपदी चिरकाल से खोले हुए अपने केशकलाप को शीघ्र बाँध ले, हाथ में परशु धारण करने वाले परशुराम और क्रोधोन्मत्त भीमसेन के समरभूमि में उतर पड़ने पर विजय-प्राप्ति में सन्देह कैसा ?"

यहाँ से लेकर "महाराज युधिष्ठिर मंगल करने की आज्ञा देते हैं।" यहाँ तक का भाग प्ररोचना का है, क्योंकि सिद्ध पुरुष कृष्णचन्द्र के आदेश को अनुचर द्वारा पाकर "विजयश्री हाथ लगने ही वाली है, अतः मंगल आदि का अनुध्यान शीघ्र करें" यह युधिष्ठिर द्वारा विश्वास कर वैसा करने का आदेश देना पड़ रहा है।

विकत्थना विचलनम्

विचलन—आत्मश्लाघा करने को विचलन कहते हैं।

जैसे, 'वेणीसंहार' में—"भीम—तात, अम्ब, आपके पुत्र जिसके बल पर समग्र शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाये हुए थे और जिसके अहंकार से सारा संसार तिनके के सदृश तिरस्कृत हुआ था, उसी रथकार के पुत्र कर्ण को मारने वाला यह मँझला पाण्डव अर्जुन आप लोगों को प्रणाम करता है।

भीम—सम्पूर्ण कौरवों का मर्दनकारी, दुःशासन के रक्तपान से मस्त वह भीम, जो दुर्योधन के जंघाओं का भंग करने वाला है, शिर झुकाकर आप लोगों को प्रणाम करता है।"

"इस प्रकार विजयरूपी विजय के अनुकूल अपने गुण के प्रकट करने के कारण विचलन है। जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में भी—यौगंधरायण—मैंने देवी वासवदत्ता के पास सागरिका को जो रखा उससे सागरिका के प्रति भर्ता के आकृष्ट हो जाने से उसे (वासवदत्ता को) पति-वियोग का भी सामना करना पड़ा। इसके अलावा सागरिका से विवाह कराने के उपक्रम से उसे सौत-दुःख का भी अनुभव हमारे ही कारण करना पड़ा। ये दोनों बातें रानी के लिए यद्यपि कष्टप्रद अवश्य हुई हैं, पर इससे बढ़कर सुखप्रद बात जो मेरे द्वारा उसके लिए की गई वह है सागरिका से विवाह हो जाने पर रानी के भर्ता वत्सराज को चक्रवर्ती सम्राट् का पद मिल जाना। इस प्रकार रानी को जो मेरे द्वारा कष्ट प्राप्त हुआ है उससे बढ़कर सुख भी मेरे ही द्वारा उसे प्राप्त हुआ है। इतना होते हुए भी मैं उनके सामने मुँह दिखाने में लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ।"

यहाँ पर यौगंधरायण द्वारा अपने गुण के कथन होने से विचलन है।

आदानं कार्यसंग्रहः ।

आदानं—कार्य-संग्रह को आदान कहते हैं।

जैसे, 'वेणीसंहार' में है, भीमसेन—अरे रे, समन्तपञ्चक, चारों तरफ़

भ्रमण करने वाला न मैं राक्षस हूँ न भूत ही, किन्तु यथेच्छ शत्रुओं के रक्तरूपी जल से आप्लावित शरीर वाला और उस भग्न की प्रतिज्ञारूपी गम्भीर समुद्र को पार करने वाला क्रोधान्ध क्षत्रिय वीर हूँ। अरे, समराग्नि की ज्वाला से अवशिष्ट शूरवीर राजाओं, मुझसे भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम व्यर्थ ही मरे हुए हाथी-घोड़ों की ओट में छिपे हो।"

यहाँ पर समस्त रिपुओं के वधरूपी कार्य के संग्रह होने से आदान है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में भी—"मेरे चारों ओर भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे हैं, अतः आज ये मेरे सारे दुःख को दूर कर देंगे।"

ऊपर कहे हुए तथा अन्य स्थलों में कथित जो दुःखावसान रूप कार्य हैं उसके संग्रह से 'आदान' है। जैसे, (उसी नाटिका में) "मेरे स्वामी को संसार-भर का राज्य मिल गया" (इस यौगंधरायण की उक्ति में) पहले ही दिखाया जा चुका है।

ये तेरह अवमर्श सन्धि के अङ्ग हैं। इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान, इनकी प्रधानता है।

निर्वहण संधि

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।४८।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

बीज से सम्बन्धित मुख आदि पूर्व-कथित चारों सन्धियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए समाहार (एकत्रित) हो जाने को निर्वहण सन्धि कहते हैं ।।४८।।

जैसे, 'वेणीसंहार' नाटक में कंचुकी द्वारा युधिष्ठिर के पास जाकर यह निवेदन करना—"महाराज! अभ्युदय काल है, यह चिरञ्जीवि भीमसेन ही है। सुयोधन के घावों से निकलते हुए रक्त से रंग जाने में कारण इनका सम्पूर्ण शरीर अरुण (रक्तवर्ण) हो गया है: अतएव ये पहचान में नहीं आ रहे हैं। अब अधिक सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। इत्यादि" मुख आदि सन्धियों में द्रौपदी के केश-संयमन रूप जो बीज यत्र-तत्र .फैला हुआ है उसका एक प्रधान अर्थ के रूप में एकत्रित हो जाने से यहाँ निर्वहण सन्धि है।

अब इसके अङ्गों को बताया जा रहा है—

संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णय परिभाषण !
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषौपगूहनाः
पूर्व भावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ।। ५० ।।

इस सन्धि के १. सन्धि, २. विबोध, ३. ग्रथन, ४. निर्णय, ५. परिभाषण

६. प्रसाद, ७. आनन्द, ८. समय, ९. निर्णय, १०. भाषण, ११. उपगूहन, १२. पूर्वभाव, १३. उपसंहार, १४. प्रशस्ति ये चौदह अंग होते है ।।४९-५०।।

क्रमशः इनके लक्षण दिए जाते हैं——

संधिर्बीजोपगमनं

१. सन्धि——बीज की उद्भावना को सन्धि कहते है ।

जैसे, 'रत्नावली' में वसुभूति सागरिका को देखकर कह उठता है कि "यह लड़की तो ठीक राजकुमारी ही जैसी लग रही है ।

वाभ्रव्य——मुझे भी तो ऐसी ही लग रही है ।

यहाँ पर नायिकारूपी बीज की उद्भावना होती है, अतएव यह सन्धि है । इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी——"भीम, पांचाल राजपुत्री ! क्या तुम्हें यह बात याद है जो मैंने तुम्हें कही थी ——

हे देवि, यह भीम अपनी चपल भुजाओं से घुमाए हुए अपनी भीषण गदा के प्रहार से सुयोधन के जंघों को रौंदकर निकले हुए खूब गाढ़े रक्त से निश्चल हाथों को रंगता हुआ तुम्हारे केशकलापों को संवारेगा ।"

यहाँ पर सन्धि में रखे हुए वीज की पुनः उद्भावना करने से सन्धि है ।

विबोधः कार्यमार्गणम् ।

विबोध——कार्य-अन्वेषण को विबोध कहते हैं ।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में—"वसुभूति–(विचारकर) महाराज । यह लड़की आपको कहाँ से प्राप्त हुई ?

राजा—महारानी जानती है ।

वासदत्ता—आर्यपुत्र । अमात्य यौगन्धरायण ने बताया था कि यह लड़की सागर से प्राप्त हुई है, और मुझे सौंपा था। इसी से हम लोग इसे सागरिका कहकर पुकारते हैं ।

राजा—(अपने-आप सोचता है) अमात्य योगन्धरायण ने मुझसे बिना बताए ही इसे महारानी को सौंपा है, समझ में नहीं आता क्या बात है ? यहाँ पर रत्नावली द्वारा उपलक्षित कार्य के अन्वेषण से 'विबोध' है । इसी प्रकार 'वेणी-संहार' में भी भीम युधिष्ठिर से कहते हैं—आर्य, क्षण-भर के लिए मुझे छोड़ दीजिए ।

युधिष्ठिर—क्या अभी और कोई कार्य शेष रह गया है ।

भीम—अजी, अभी तो बड़े महत्त्व का कार्य बाकी ही रह गया है । सुनिए-मैं दुःशासन के हाथो से खींचे गये द्रुपदराज-पुत्री के उन केशों को, जो अभी तक खुले पड़े हैं, उसी दुःशासन के रक्त से सने अपने हाथों द्वारा सँवारूँगा ।

युधिष्ठिर—जाओ भाई, वह तपस्विनी केश सँवारने के सुख का अनुभव करे।

यहाँ केश को सँवारना-रूपी जो कार्य है उसके अन्वेषण से विबोध है।

ग्रथनं तदुपक्षेपो

ग्रथन—कार्य के उपक्षेप (उपसंहार) को ग्रथन कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' में—"यौगंधरायण—महाराज, आपसे बिना बताए ही मैंने जो ये सब कार्य कर डाला है, एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।"

यहाँ पर वत्सराज का 'रत्नावली'-प्राप्ति रूप जो कार्य है उसके उपसंहार होने से यहाँ ग्रथन है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी—

"भीम—पाञ्चाली ! तुम मेरे रहते दुःशासन के हाथों से खोली हुई अपनी वेणी को अपने-आप सँवारो, ऐसा नहीं हो सकता। रुको-रुको, मैं स्वयं तुम्हारे केशकलाप को सँवारूँगा।

यहाँ पर द्रौपदी के केश-संवरण रूप कार्य के उपक्षेप के कारण ग्रथन है।

ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

निर्णय—अनुभूत बात के कथन को निर्णय कहते हैं ॥ ५१ ॥

जैसे; 'रत्नावली' में यौगंधरायण का कथन—(हाथ जोड़ कर) सिंहलेश्वर की इस कन्या (रत्नावली) के विषय में एक सिद्ध पुरुष ने बताया था कि जो इसका पाणिग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती सम्राट होगा। इस बात पर विश्वास कर मैंने इस कन्या को सिंहलेश्वर से माँगा। रानी वासवदत्ता के मन में दुःख होगा—इस कारण नरेश ने इसे नहीं दिया। इसके बाद मैंने सिंहलेश्वर के पास बाभ्रव्य को भेज कर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आखेट-शिविर में आग लगने से जलकर मर गई....।" यहाँ पर यौगंधरायण ने अपनी अनुभूत बातों को कहा है। अतः निर्णय है। जैसे 'वेणीसंहार' में भी—"महाराज अजातशत्रु, अब आज दुर्योधन कहाँ रहा ? मैंने तो उस दुष्ट के शरीर को नष्ट कर पृथ्वी पर फेंककर उसके शरीर से निकलने वाले रक्त को शरीर में लेप कर लिया है। उसकी राज्यश्री चारों समुद्रों की सीमा तक की पृथ्वी के साथ-साथ आपके यहाँ विश्राम कर रही है। उसके सेवक, मित्र, सैनिक, वीर, यहाँ तक कि सम्पूर्ण कुरुवंश, इस रण की ज्वाला में भस्म हो चुके हैं। राजन्, दुर्योधन का केवल नाम, जो आप इस समय कह रहे हैं, बस वह केवल उच्चारण-भर के लिए बचा रह गया है।"

यहाँ पर भीम के द्वारा अपने अनुभूत अर्थ के कथन होने के कारण 'निर्णय' है।

परिभाषा मिथो जल्पः

परिभाषण—आपसी बातचीत को परिभाषण कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में—"रत्नावली--(अपने आप) मैंने महारानी का अपराध किया है, अतः सामने आने में लज्जा लग रही है।

वासवदत्ता—(आँसुओं के साथ हाथ फैलाकर) 'अरी निष्ठुरे, अब भी तो बन्धु-स्नेह प्रदर्शित कर।' फिर राजा से कहती है--महाराज, मैंने जो इसके साथ क्रूरता का व्यवहार किया अतः लज्जा का अनुभव कर रही हूँ। अतः आप ही कृपा करके इसे शीघ्र बन्धन से मुक्त करें।

राजा--'जैसी देवी की आज्ञा।' इसके बाद राजा रत्नावली का बन्धन खोलता है। वासवदत्ता रत्नावली की तरफ देखकर कहती है—'आर्य, यौगंधरायण के द्वारा कुछ विदित न रहने के कारण मैंने ऐसा निन्दित कर्म किया।

इस प्रकार एक दूसरे की बात-चीत के कारण यहाँ परिभाषण है।

प्रसादः पर्युपासनम्।

प्रसाद—प्रसन्न करने के प्रयत्न को प्रसाद कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में यौगन्धरायण को इस उक्ति से कि 'देवक्षमा करें', दिखाया गया है। या फिर 'वेणी संहार' में भीम द्रौपदी के पास जाकर कहते हैं—"शत्रुओं के नाश हो जाने से तू बड़ी भाग्यशालिनी है।"

यहाँ पर भीम ने द्रौपदी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है, अतः 'प्रसाद' है।

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः

आनन्द--अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को 'आनन्द' कहते है।

जैसे, 'रत्नावली' में राजा "जैसी देवी की आज्ञा" ऐसा कहकर रत्नावली को ग्रहण करते हैं!

जैसे, 'वेणीसंहार' में द्रौपदी—"स्वामी, मैं यह सब व्यापार भूल गई हूँ। अतः आपकी कृपा से इसे फिर सीखूँगी।" इसके बाद भीम द्रौपदी के केश बाँधते हैं।

'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति तथा 'वेणीसंहार' में द्रौपदी का भीम द्वारा केश सँवारा जाना अभिलषित को प्राप्ति है, अतः 'आनन्द' है।

समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥

समय—दुःख के दूर हो जाने को 'समय' कहते हैं ॥ ५२ ॥

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में वासवदत्ता रत्नावली का आलिंगन कर कहती है—

"बहन प्रसन्न होओ, धीरज धरो, धीरज धरो।" यहाँ पर दोनों बहनों के समागम से दुःख के दूर हो जाने के कारण समय है। जैसे, 'वेणीसंहार' में—"भगवन्, जिस व्यक्ति की मंगल कामना स्वयं पुराण पुरुष भगवान् नारायण करते हैं, उसका विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? हे देव, स्वीय-

परिणाम-उत्पन्न, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि और महतत्त्वादिकों के क्षुब्ध होने से अर्थात् सृष्टि के अनुगुण-प्रवृत्ति से सम्भूत मूर्ति अर्थात् अवतार धारण करने वाले, गुणिन्—सत्त्व, रज, तम, इन तीन प्रकार की उपाधियों से विशिष्ट, संसार के चर और अचर प्राणियों के जन्म, पालन तथा संहार करने वाले, अजन्मा, अमर और ध्यान में न आने वाले, आपका स्मरण करके ही इस संसार में कोई दुःखी नहीं रह सकता, फिर आपका दर्शन हो जाए तो कहना ही क्या है!"

यहाँ पर युधिष्ठिर के दुःख का दूर होना दिखाया गया है, अतः 'समय' है।

कृतिर्लब्धार्थशमनं

कृति—लब्ध (प्राप्त) प्रयोजन के द्वारा उत्पन्न शान्ति को अथवा लब्ध अर्थ के स्थिरीकरण को कृति कहते हैं।

प्रथम उदाहरण, जैसे 'रत्नावली' में—राजा—देवि, आपके अनुग्रह प्राप्त कर कौन अपने को बड़भागी नहीं मानेगा!

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इसके (रत्नावली के) माता पिता आदि घर वाले दूर हैं, सो आप ऐसा कार्य करें जिससे इसका चित्त बन्धु-बान्धवों का स्मरण कर दुःखी न रहा करे।

यहाँ पर वत्सराज को 'रत्नावली' रूप प्रयोजन के प्राप्त होने से शान्ति-सुख प्राप्त होता है, अतः यह कृति है।

दूसरे का उदाहरण 'वेणी संहार' में है—कृष्ण—"ये भगवान् व्यास और बाल्मीकि हैं।" यहाँ से आरम्भ करके 'अभिषेक का आरम्भ किया जा रहा है।"

यहाँ प्राप्य राज्य का स्थिरीकरण होने से कृति है।

मानाद्याप्तिश्च भाषणम्।

भाषण—प्रतिष्ठा, मान, यश आदि की प्राप्ति को भाषण कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में राजा यौगन्धरायण से कहते हैं—"अजी, क्या इससे बढ़कर भी मेरा कोई उपकार हो सकता है?

मुझे आपके प्रयत्न से विक्रमबाहु-जैसे प्रतापशाली राजा का सौहार्द प्राप्त हुआ और साथ ही सम्पूर्ण विश्व के राज्य की प्राप्ति का कारण-स्वरूप पृथ्वी की एक ही सार वस्तु 'रत्नावली' नामकी प्रिया मिल गई। बहन की प्राप्ति से रानी वासवदत्ता को प्रीति प्राप्त हो गई तथा कौशल-नरेश के राज्य पर मेरी विजय-वैजन्तिका फहराई। अब आप-जैसे अमात्य-प्रवर के रहते ऐसी कौन-सी वस्तु बच गई है जिसकी प्राप्ति के लिए मैं उत्सुकता प्रकट करूँ!"

यहाँ पर काम, अर्थ, मान आदि की प्राप्ति हो जाने से भाषण है।

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥ ५१ ॥

पूर्वभाव औव उपगूहन--कार्य के दर्शन को पूर्वभाव तथा अद्‌भूत वस्तु की प्राप्ति को उपगूहन कहते हैं ॥ ५३ ॥

पूर्वभाव का उदारण, जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—"यौगन्धरायण—(हँसकर) महारानी, अब आपने अपनी बहन को पहचान लिया, इसलिए जो उचित समझें, करें।

वासवदत्ता—(मुस्कुराकर) तो यही क्यों नहीं कह देते कि 'रत्नावली' महाराज को दे दीजिए।"

यहाँ निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज को 'रत्नावली' दे दीजिए। यहाँ पर मन्त्री योगन्धरायण के इस भाव को रानी वासवदत्ता ताड़ गई; अतः यह पूर्वभाग है। उपगूहन का उदाहरण 'वेणीसंहार' में–"भीषण समराग्नि में जलने से बचे हुए राजकुलों का कल्याण हो।

नेपथ्य में—जिसके बिखर जाने से क्रोधान्ध पाण्डुपुत्रों के द्वारा राजाओं का संहार हुआ और जिसके कारण राज रमणियों के केशकलाप दिन-प्रतिदिन समग्र दिशाओं में बिखरते जा रहे थे (राजाओ की स्त्रियाँ समरांगण में पति के मारे जाने से वैधव्य का दु:ख पाती जा रही थीं), वह क्रुद्ध होने पर यमराज का मित्र, कौरवों के लिए धूमकेतु के समान, द्रौपदी का केशपाश आज भाग्य से बँध गया। अतः प्रजावर्ग के सत्यानाशी का अब अन्त हो तथा राजकुल का कल्याण हो।

युधिष्ठिर—देवि, आकाश में विचरण करने वाले सिद्ध लोगों द्वारा भी तुम्हारे केशकलाप के सँवारे जाने का अभिनन्दन हो रहा हैं।"

वराप्तिः काव्यसंहारः

काव्यसंहार--श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति को काव्यसंहार कहते हैं।

जैसे, नाटकों के अन्त में प्रायः यह वाक्य मिलता है--"और मैं आपका कौन-सा उपकार करूँ ?"

यहाँ पर काव्य के अर्थ के संहरण (उपसंहार) होते से काव्यसंहार होता है।

प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

प्रशस्ति—कल्याणप्रद वस्तु के कथन को प्रशस्ति कहते हैं।

जैये, "यदि आप बहुत ही प्रसन्न है तो यह हो—

लोग अकृपण और रोगरहित दीर्घजीवी बने, जनता संदेह छोड़ कर भगवद्भक्ति-परायण बने। राजा लोग समस्त प्रजाओं से प्रेम रखते हुए और विद्वानों का पोषण करते हुए तथा गुणों की महत्ता पर विशेष ध्यान देते हुए सर्वदा समुज्ज्वल कार्य में दत्तचित्त रहें !"

यहाँ पर कल्याणकारी बात क़े कथन होने से प्रशस्ति है। ये १४ निर्वहण संधि के अंग हैं।

यहाँ तक ६४ अंगों वाली पाँच संधियों को बताया गया। अब इन सन्धियों के प्रयोजन बताते हैं।

उक्ताङ्गानां चतुःषष्ठिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥

ऊपर बताई हुई ६४ सन्धियों के ६ प्रकार के प्रयोजन होते हैं :

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ ५५ ॥

१. विवक्षित अर्थ की रचना, २. गोप्य (छिपाने योग्य) वस्तु को गुप्त ही रखना, ३. जिस बात का कहना उचित है उसको प्रकाश में लाना, ४. दर्शकों के अन्दर नाट्य के विषय में प्रीति पैदा करना, ५. चमत्कार पैदा करना, ६. कथा को विस्तृत करना ॥ ५४-५५ ॥

उपर्युक्त छः बातों के लिए रूपकों में ६४ संध्यङ्गों को लाना चाहिए। इसके बाद ग्रन्थकार फिर वस्तु का विभाग दूसरी दृष्टि से करते हैं :—

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत्किचिद्दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥ ५६ ॥

नाट्य में आने वाली कथावस्तु को दो श्रेणियों में बाँट देना चाहिए। उसमें एक विभाग ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा केवल सूचना-मात्र दी जाती हो तथा दूसरा ऐसा होना चाहिए जो सबके सुनने योग्य होने से दिखाया जा सके। इसमें पहले को 'सूच्य' तथा दूसरे को 'दृश्य' कहते हैं ॥ ५६ ॥

नीरसोऽनुचितस्तत्र स सूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

१. सूच्य—नाट्य में आने वाली ऐसी कथावस्तु को, जो नीरस तथा अनुचित हो, उसकी केवल सूचना-मात्र दे देनी चाहिए।

२. दृश्य—ऐसी कथावस्तु को, जिसमें मधुर और उदात्त रस तथा भाव पूर्णतया (लबालब) भरे हों, दिखाना चाहिए ॥ ५७ ॥

अर्थोपक्षेपकः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

सूच्य कथावस्तु की सूचना, अर्थ की सूचना देने वाले विष्कम्भक, चूलिका, अंकावतार, अंकास्य, प्रवेशक इनके द्वारा देनी चाहिए ॥ ५८ ॥

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

१. विष्कम्भक—जो कथा पहले हो चुकी हो, अथवा जो आगे होने वाली हो, उसकी सूचना संक्षेप में मध्यपात्र के द्वारा दी जाती है, उसे विष्कम्भक कहते हैं ॥ ५९ ॥

यह दो प्रकार का होता है—शूद्ध और संकीर्ण ।

एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः ।

शुद्ध विष्कम्भक—जब एक या दो मध्यम पात्रों के द्वारा सूचना दी जाती है तो शुद्ध विष्कम्भक होता है ।

संकीर्ण विष्कम्भक—जब मध्यम या अधम पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है तो संकीर्ण विष्कम्भ होता है ।

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

प्रवेशक—इसमें बीती हुई तथा आगे आने वाली बातों की सूचना दी जाती है । पर इसमें सूचक नीच पात्र ही रहते हैं । इसकी भाषा प्राकृत होती है । यह दो अंकों के बीच में आता है इसमें छूटी हुई बातों की सूचना दी जाती है ॥ ६० ॥

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

३. चूलिका—नेपथ्य के पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना देने को चूलिका कहते हैं ॥ ६१ ॥

जैसे, 'उत्तररामचरित' के द्वितीय अंक के आदि में—नेपथ्य में—'तपोधना का स्वागत है ।' इसके बाद तपोधना आत्रेयी प्रवेश करती हैं । इस प्रकार यहाँ नेपथ्य पात्र के द्वारा बनदेवता वासन्ती को आत्रेयी के आगमन के विषय में सूचना दी गई है, अतः यहाँ चूलिका है और जैसे महावीर चरित के चतुर्थ अंक के आदि में (नेपथ्य में)—

वायुयान से भ्रमण करने वाले सज्जनो ! मंगल मनावें, मंगल मनावें—कृशाश्वमुनि के शिष्य विश्वामित्र, जिनका प्रताप सूर्यवंश में आज भी विराज रहा है, उनकी जय हो ! और साथ ही क्षत्रियों के वैरी परशुरामजी पर विजय प्राप्त करने वाले रामचन्द्र, जो संसार को अभय प्रदान करने का व्रत धारण करते हैं और जो तीनों लोकों की रक्षा करने वाले तथा सूर्यकुल के लिए चन्द्रमा के समान हैं, उनकी जय हो ।"

यहाँ पर नेपथ्य में देवों द्वारा 'परशुराम पर राम ने विजय प्राप्त कर ली', इस बात की सूचना दी गई है, अतः यहाँ चूलिका है ।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

अङ्कास्य—अंक के अन्त में आने वाले पात्र के द्वारा अगले अङ्क के आरम्भ में आने वाले पात्रों आदि की सूचना देने को अंकास्य कहते हैं ।

जैसे 'महावीर चरित' के द्वितीय अंक के अन्त में प्रविष्ट होकर सुमन्त्र कहते हैं—"आप लोगों को परशुराम के साथ-साथ वशिष्ठ और विश्वामित्र बुला रहे हैं।

अन्य लोग—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र कहाँ हैं ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास में विद्यमान हैं ।

अन्य लोग—तो फिर उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर हम लोग आ रहे हैं ।"

इस प्रकार द्वितीय अंक की समाप्ति हो जाती है, उसके बाद तीसरे अंक के आरम्भ में वशिष्ठ, परशुराम और विश्वामित्र आसीन दिखाई देते हैं ।

अङ्कावतार—एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहे तो उसे अङ्कावतार कहते हैं । पर इस कथा में प्रवेशक और विष्कम्भक का स्थान नहीं रहता, अर्थात् यह कथा प्रवेशक-विष्कम्भक-विहीन होती है ।

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥ ६२ ॥

एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

अङ्कावतार नामकरण का भाव यही है कि इसमें अंक के अन्त में आने वाले कथा का दूसरे अंक में उतार होता है ॥६२॥

इसमें सूच्य वस्तु की सूचना होती है तथा दृश्य वस्तु को अंकों में दिखाया जाता है, पर विशेषता यह रहती है कि प्रवेशक और विष्कम्भक का प्रयोग नहीं किया जाता ।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक में विदूषक कहता है—"तो आप दोनों देवी के प्रेक्षागृह में जाकर संगीत का साज सजाएँ और सब ठीक हो जाने के बाद सूचित करें । अथवा मृदंग का शब्द ही इन्हें उठा देगा ।" इस प्रकार के उपक्रम के चलते रहने पर मृदंग के शब्द के सुनने के अनन्तर सभी प्रथम अंक के पात्र द्वितीय अंक के आरम्भ में प्रथम अंक की कथा को त्रुटित किए बिना ही द्वितीय अंक के आरम्भ में उतर पड़ते हैं । इसी को अङ्कावतार कहते हैं ।

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥६३॥

नाट्य-धर्म की दृष्टि से फिर वस्तु को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं ॥६३॥

ये तीनों भेद कैसे होते हैं इस बात को नीचे बताया जाता है—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥६४॥

नाट्य में कुछ अंश ऐसा होता है जिसको सब कोई सुन सकता है, पर कुछ अंश ऐसा भी होता है जो किसी-किसी को या सबको सुनाने के योग्य नहीं होता । इसमें प्रथम को प्रकाश तथा दूसरे को स्वगत कहते हैं ॥६४॥

द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।

इसके अलावा एक नियतश्राव्य होता है । ऐसा नाटकीय अंश, जो किसी

विशिष्ट व्यक्ति के ही सुनने के लिए व्यवहृत होता है, नियतश्राव्य कहलाता है। इसके दो भेद होते हैं—१. जनान्तिक और २. अपवारित।

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥६५॥
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

जनान्तिक—अनामिका को छोड़ बाकी तीन अँगुलियों की ओट करके दो आदमियों की गुप्त बातचीत को जनान्तिक कहते हैं ॥६५॥

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

अपवारित—पास विद्यमान पात्र की ओर से मुँह फेरकर उससे छिपाकर उसके किसी रहस्य की बात पर कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं ॥ ६६ ॥

नाटचधर्म की चर्चा छिड़ गई है, अतः इसी सिलसिले में आकाशभाषित को बताते हैं—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

आकाशभाषित—ऊपर देखता हुआ अकेला ही कोई पात्र बिना किसी दूसरे के कहे-सुने ही सुनने का नाटच करता हुआ जब स्वयं प्रश्नों को दुहराता है या स्वयं उसका उत्तर देता है, उसे आकाशभाषित कहते हैं। बिना किसी के कुछ बोले ही 'क्या कह रही हो?' इस प्रकार से प्रश्न करके उसका उत्तर भी कुछ मन से बनाकर फिर कुछ बोलता है। इस प्रकार का क्रम इसमें जारी रहता है, इसी को आकाशभाषित कहते हैं ॥ ६७ ॥

कुछ लोगों ने ऊपर बताए हुए नाटच-धर्मों के साथ-साथ कुछ और भी नाटच-धर्मों को बताया है, पर ये हमारी दृष्टि में नाटच-धर्म के भीतर नहीं आ सकते क्योंकि एक तो वे अभारतीय हैं (भरत मुनि के कहे हुए नहीं हैं), उनकी केवल नामावली में ही प्रसिद्धि है। दूसरे उनमें के अधिकांश देश भाषा में प्रयुक्त होते हैं। अतः इनको नाटच का धर्म न मानना ही उचित समझकर इसके लक्षण आदि का प्रदर्शन नहीं किया गया है।

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या-
ञ्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः ॥ ६८ ॥

रामायण और बृहद् कथा के देखने और उसके ऊपर सूक्ष्म विचार करने से वस्तु के अनगिनत भेद दिखाई देते हैं, अतः नाटच-प्रणेता के लिए यह उचित है कि वह उन वस्तुओं को नेता और रस के अनुकूल सुन्दर वचन रचना चातुरी से सजाकर विविध-विचित्र कथाओं का प्रणयन करे ॥ ६८ ॥

धनञ्जयकृत दशरूपक का प्रथम प्रकाश समाप्त।

वस्तु वर्णनीय विषय को कहते हैं, उसके अनेक भेद होते हैं। (यह बात पहले बताई जा चुकी है) बृहत् कथा की चर्चा कारिका में आई है, वह गुणाढय द्वारा निर्मित है। नाटच-प्रणेताओं को उस बृहत् कथा और रामायण आदि का सम्यक् रूप से अध्ययन करके तब लेखनी का संचालन करना चाहिए। नेता और रस के बारे में आगे प्रकरणों में बताया जाएगा। उसका भी समुचित ज्ञान नाटककार के लिए आवश्यक है। कथा का अर्थ आख्यायिका भी समझना चाहिए। ये आख्यायिकाएँ सुन्दरता और विचित्रता से भरी होनी चाहिए। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर सुन्दर-सुन्दर वचन रचना-चातुरी के द्वारा कथा का विस्तार के साथ वर्णन करना चाहिए। जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक की मूलकथा अति अल्प रही, पर कवि ने अपनी बचन रचना-चातुरी के द्वारा कथा का इतना विस्तार दिया। बृहत् कथा में मुद्राराक्षस की मूलकथा केवल इतनी ही रही—"चाणक्य नामक ब्राह्मण ने शकटाल के घर में कुछ गुप्त क्रियाओं का सम्पादन कर राजा को उसके पुत्रों के साथ मार डाला और इसके बाद जब योगानंद का केवल मात्र ही शेष रह गया, उस समय नंद के पहले चन्द्रगुप्त को उस महापराक्रमशाली चाणक्य ने राजा बनाया।" इस प्रकार मुद्राराक्षस की कथा में केवल सूचितभर कर दी गई थी और इसी सूचनामात्र कथा के आधार पर 'मुद्राराक्षस' नाटक की रचना हुई। इसी प्रकार रामायण में कथित राम-कथा को भी जानना चाहिए।

विष्णुपुत्र धनिककृत 'दशरूपावलोक' व्याख्या का प्रथम प्रकाश समाप्त।

द्वितीय प्रकाश

रूपकों का आपस में एक-दूसरे से क्या भेद है, इसकी जानकारी के लिए वस्तु के भेदों का प्रतिपादन करके अब नायक के भेद बतलाते हैं :—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता; विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ-वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृति-सम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्म-सम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए।१-२॥

१. नेता अर्थात् नायक विनयादि गुणों से सम्पन्न होता है। उसमें **विनीत** को बतलाते हैं। जैसे 'वीरचरित' नाटक में—

धनुष के टूटने से प्रकुपित परशुराम के प्रति रामचन्द्र कह रहे हैं—"हे देव, ब्रह्मज्ञानियों के द्वारा जिनके पूज्य चरणों की उपासना की जाती है, ऐसे आप, विद्या और तपस्यारूपी अनुष्ठानों के समुद्र तथा तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं। मैंने यदि अज्ञानतावश दैवात् आपका कोई अपराध भी कर दिया हो तो क्षमा प्रदान करें। हे नाथ, प्रसन्न होइए, अपने द्वारा किए गए अपराधों के प्रति क्षमायाचना के लिए मैं करबद्ध प्रार्थी हूँ।"

२. देखने में जो प्रिय लगे उसको **मधुर** कहते हैं। जैसे वहीं पर—परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—"हे राम, अपने शरीर के अनुकूल ही नेत्रों की मनो-हरता को धारण करने वाले तथा तर्क और कल्पना में भी न आ सकने वाले श्रेष्ठ रमणीय गुणों से सुशोभित तुम सब प्रकार से मेरे अन्तःकरण में विद्य-मान हो।"

३. अपने सर्वस्व का दान देने वाले को **त्यागी** कहते हैं। जैसे—

"कर्ण ने अपनी त्वचा को, शिवि ने अपने मांस को, जीमूतवाहन ने अपने प्राण को, तथा दधीचि ने अपनी अस्थियों को परोपकारार्थ दे दिया है। बात ठीक ही है, महान् पुरुषों के लिए कोई भी वस्तु अदेय नहीं होती।

४. शीघ्रता के साथ कार्य करने वाले को **दक्ष** कहते हैं। जैसे 'महावीर चरित' में—

"जैसे हाथी का बच्चा अपनी सूँड से पत्थर के टुकड़ों को अनायास ही (बिना परिश्रम के) शीघ्रता के साथ फेंक दे, उसी प्रकार वत्स राम ने देवताओं के तेज से बढ़े हुए, शिवजी के धनुष को बिना परिश्रम के ही झट से उठा लिया, उठाने के साथ ही धनुष की प्रत्यंचा ज़ोर की आवाज़ करती हुई चढ़ गई और वह धनुष टूट गया। धनुष की प्रत्यंचा के चढ़ने और धनुष के टूटने में इतनी शीघ्रता हुई कि लोगों ने और कुछ न देखकर केवल राम के सामने हज़ारों वज्र के गिरने के समान भयंकर शब्द निकल रहा है, इतना मात्र ही देखा।"

६. प्रिय बोलने वाले को **प्रियंवद** कहते हैं। जैसे वहीं पर अर्थात् उसी नाटक में——

रामचन्द्र परशुराम से कह रहे हैं--"हे सत्य, ब्रह्मज्ञान और तपस्या के के निधि, भगवन् ! आपके अन्दर कौन-सी ऐसी बात है जो लोकोत्तर न हो ? अर्थात् आपकी प्रत्येक बात ही लोकोत्तर है। देखिए, आपका जन्म महर्षि जमदग्नि से हुआ, आपके गुरु प्रसिद्ध धनुर्धारी भगवान् शंकर ठहरे, और आपमें जितना पराक्रम है वह वाणी का विषय नहीं हो सकता, अर्थात् आपमें इतने अधिक और लोकोत्तर पराक्रम विद्यमान हैं जिनके वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार का आलौकिक पराक्रम निश्चय ही आपके कार्यों से व्यक्त है। आपके त्याग के बारे में क्या कहना, आपने सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी को बिना किसी हिचक के ब्राह्मणों को दान दे दिया।"

७. **रक्तलोक**—(अर्थात् सबका प्रिय होना) जैसे वहीं पर—

अयोध्या की प्रजा महाराज दशरथ से कह रही हैं—"हे महाराज, वेदत्रयी के रक्षा करने वाले आपके पुत्र जो रामचन्द्र हैं वे आपकी कृपा से राजगद्दी पर सुशोभित हो गए, उनके ऐसे राजा को पाकर हम लोगों की सारी अभिलाषाएँ और मनोरथ पूरे हो गए, अतः हम लोग आनंद के साथ विचर रहे हैं।"

इसी प्रकार शुचि आदि का भी उदाहरण दिया जा सकता है।

८. **शुचि** (शौच)—मानसिक पवित्रता से काम आदि दोषों को दबा देने का नाम शौच (शुचि) है। जैसे 'रघुवंश' महाकाव्य में—

"हे शुभे, तुम कौन हो तथा किसकी प्रेयसी हो ? और इस अर्धरात्रि के समय एकान्त में मेरे पास किस मनोरथ से आई हुई हो ? पर हाँ, मेरे प्रश्नों का उत्तर इस बात पर ध्यान रखकर देना कि रघुवंशियों का मन पराई स्त्री से विमुख रहने वाले स्वभाव का होता है।"

९. **वाग्मी**—झट से युक्तियुक्त बात करने वाले को वाग्मी कहते हैं।

जैसे 'हनुमन्नाटक' में रामचन्द्र परशुराम से कह रहे हैं—"हे परशुरामजी, धनुष के टूटने के पहले मुझे अपनी भुजाओं का भी बल मालूम न था। साथ ही

मुझे यह भी ज्ञात नहीं था कि भगवान् शंकर का धनुष इतनी लघिमावाला है कि छूने मात्र से टूट जाएगा। उपर्युक्त दोनों बातों के ज्ञान का न होना ही मात्र मेरा दोष है, अतः आप मेरी चपलता को क्षमा करें। बालकों द्वारा किया गया अनुचित कर्म भी गुरुजनों के लिए आनंदप्रद ही होता है।"

१०. रूढ़वंश—उच्चकुल को रूढ़वंश कहते हैं।

जैसे कोई राजा दशरथ से कहता है—

"सूर्य वंश के क्षत्रिय कुल में संतान रूपी मल्ली (वेला का फूल) पुष्प की न मुरझाई हुई माला के समान जो आपने राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, चार पुत्रों को पैदा किया है, उनमें प्रथम, ताड़कारूपी कालरात्रि के लिए प्रभात के समान, तथा सुचरित कथा रूपी कदली के मूलकंद के समान जो ये राम हैं, ये अपने गुणों से सबसे बढ़कर है और इनके गुणों की कोई सीमा नहीं है।"

११. स्थिर—वाणी, मन और क्रिया आदि से जो अचंचल हो उसे स्थिर कहते हैं। जैसे 'महावीरचरित' नाटक में परशुराम द्वारा दिये गए धनुष को चढ़ाकर रामचन्द्र कहते हैं—"हे मुनि, गुरुजन के अनादर के कारण मुझे भले ही प्रायश्चित्त करना पड़े, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं. पर इस प्रकार से अर्थात् आप पर दया करके धनुष का चढ़ाना निष्फल कर दूँ और शस्त्र ग्रहणरूपी महाव्रत को दूषित कर दूँ ऐसा मुझसे कदापि नहीं हो सकता।" अथवा जैसे 'भर्तृहरि शतक' में—"कवि कहता है कि इस संसार में तीन ही प्रकार के पुरुष पाए जाते हैं—(१) नीच, (२) मध्यम और (३) उत्तम। इसमें नीच या अधम पुरुष का यही लक्षण है कि वह विघ्नों के भय से किसी कार्य को शुरू ही नहीं करता। मध्यम पुरुष कार्यों को आरम्भ तो अवश्य करता है, पर विघ्नों के आ जाने पर अपने कार्य को बीच में ही छोड़कर बैठ जाता है, पर उत्तम पुरुष की यह विशेषता होती है कि वह विघ्नों के बार-बार प्रहार के बावजूद भी जब तक कार्य पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो जाता तब तक करता रहता है।"

१२. युवा—युवा अवस्था तो प्रसिद्ध ही है। बुद्धि ज्ञान को कहते हैं। वही बुद्धि विशेष रूप से ग्रहण की जाने पर प्रज्ञा कहलाती है। जैसे 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में—

"मैं जो-जो भाव उसे सिखलाता हूँ उन्हें जब वह और सुन्दरता के साथ करके दिखाने लगती है तो ऐसा जान पड़ता है मानो वह उलटे मुझे ही सिखला रही है।" और सब तो स्पष्ट ही है।

नेता के साधारण गुणों के बतला चुकने के बाद अब उनके विशेष गुणों को बतलाया जा रहा है—

विशेष गुणों की दृष्टि से नेता के चार भेद होते हैं : १. धीरललित, २. धीरशान्त, ३. धीरोद्दात्त, ४. धीरोद्धत।

जिस क्रम से ये ऊपर के चारों भेद बताये गए हैं उसी क्रम से इनके लक्षण और उदाहरण भी दिए जाते हैं—

धीरललित

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।
निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥ ३ ॥

धीरललित नायक निश्चिन्त होता है, कलाओं में उसकी आसक्ति रहती है। वह सुखी तथा मृदु स्वभाव का होता है ॥ ३ ॥

धीरललित नायक राज्य का सारा भार अपने योग्य मन्त्रियों को सौंपकर चिन्तारहित रहता है। किसी प्रकार की चिन्ता आदि के न रहने से गीत आदि कलाओं तथा भोगविलास में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। उसमें शृंगार की प्रधानता रहती है। वह कोमल स्वभाव तथा उत्तम पराक्रम वाला होता है, इसी से उसे मृदु अर्थात् मधुर स्वभाववाला कहते हैं। जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में महाराज उदयन अपने प्रिय मित्र विदूषक से प्रसन्नता के साथ कह रहे हैं—

"शत्रु अच्छी तरह से जीते जा चुके हैं, ऐसा राज्य है। राज्य-संचालन का समस्त भार योग्य सचिव को सौंप दिया गया है। अच्छी तरह से पालन होने तथा रोग आदि के अभाव में प्रजा-वर्ग प्रसन्न है। महाराज प्रद्योत की पुत्री प्रियतमा वासवदत्ता पास ही हैं। वसन्त का उन्मादक समय है तथा प्रिय मित्र, तुम भी विद्यमान ही हो। इस प्रकार चारों तरफ आनन्द-ही-आनन्द है, अब ऐसी परिस्थिति में मदन-महोत्सव अपनी इच्छा के अनुकूल पूर्ण वृद्धि को प्राप्त करे। उपर्युक्त बातों से ऐसा लगता है मानो हमारा ही महान् उत्सव मनाया जा रहा है।"

धीरशान्त

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

धीरशान्त नायक सामान्य गुणों से युक्त होता है। इसके पात्र द्विज आदि (ब्राह्मण, मन्त्री, वैश्य) होते हैं।

नेता के विनीत आदि जो साधारण गुण हैं उससे युक्त होते हुए धीरशान्त द्विजादिक (ब्राह्मण, मन्त्री, वणिक्) ही होते हैं, यह जो बात बताई गई है इससे ग्रन्थकार को धीरशान्त नायक रूप में प्रकरण का ही नायक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है। इसी से ब्राह्मण आदि में धीरललित नायक की निश्चिन्तता आदि गुणों के रहने की सम्भावना रहते हुए भी उसको धीरशान्त ही माना जाता है, धीरललित नहीं। जैसे मालतीमाधव और मृच्छकटिक आदि प्रक-

रणों में माधव और चारुदत्त आदि धीरशान्त ही माने जाते हैं। मालतीमाधव प्रकरण में कामन्दकी मालती से माधव का परिचय देती हुई कहती है—

"जैसे सुन्दर गुण से युक्त देदीप्यमान किरणों तथा कलाओं वाला और नेत्र-धारियों के आनन्द को बढ़ाने वाला चन्द्रमा उदयगिरि पर्वत से उदय लेता है, ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे हुए गुणों वाला यह माधव भी अपने श्रेष्ठ कुल से उत्पन्न हुआ है।"[1]

अथवा जैसे 'मृच्छकटिक' नाटक में वध्य स्थान में चाण्डालों द्वारा ले जाए जाते हुए चारुदत्त का दुःखी होकर यह कथन—

'अनेक यज्ञों से पवित्र मेरा कुल जो पहले यज्ञ-प्रभृति सभाओं में वेद-ध्वनि से प्रकाशित होता था वही मेरा कुल मेरे मरण-काल में नीच मनुष्यों के द्वारा निन्दनीय कर्मों से जोड़ कर घोषित किया जा रहा है।'

धीरोदात्त

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥ ४ ॥
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।

धीरोदात्त नायक, महापराक्रमशाली अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान् अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाला, स्थिर, अव्यक्त अहंकारवाला दृढ़व्रती आदि गुणों से युक्त होता है ॥ ३ ॥

जिसका अन्तःकरण शोक, क्रोध आदि से पराजित (दबता) नहीं होता उसे महापराक्रमशाली (महासत्त्व) कहते हैं। जिसके कार्य विनय और नम्रता से युक्त हुआ करते हैं उसे अव्यक्त अहंकारवाला कहा जाता है। दृढ़व्रत कहने का भाव यह है कि वह जिस कार्य में हाथ डाल देता है उसका अन्त तक निर्वाह करता है।

धीरोदात्त नायक का उदाहरण नागानंद' नाम की नाटिका में—(जीवमूत-वाहन गरुड़ को सम्बोधित करके कहते हैं—) "हे गरुड़, मेरे शरीर में अभी मांस विद्यमान है क्योंकि धमनियों में रक्त का संचार ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् ही है और आप अभी तृप्त नहीं दीख पड़ते हैं। फिर ऐसी कौनसी बात आ उपस्थित हुई है जिसके कारण तुम माँस-भक्षण से विरत हो गए हो ?" और भी—(रामचंद्र

---

१. सत्यनारायण कविरत्न का पद्यानुवाद—
प्रगटित गुन द्युति सुन्दर महान,
अति मंजु मनोहर कलावान।
उदयो इक यह जगदृग अनन्द,
तिह उदयाचल सों बालचन्द ॥
[मालतीमाधव २-१०]

के वारे में कोई कह रहा है कि) "जब रघुकुलतिलक राम को राज्याभिषेक के लिए बुलाया गया तब और जब पिता द्वारा चोदह वर्ष का बनवास सुनाया गया तब, इन दोनों संवादों के सुकने के समय उनके भुख पर ज़रा भी प्रसन्नता या दुःख चिह्न नहीं दिखाई दिए।

पहले नेता के सामान्य गुणों में जिन गुणों को गिनाया गया है उनमें के कई-एक विशेष भेदों में भी आ गए हैं। विशेष भेदों में इनको पुनः गिनाए जाने का भाव यही है कि इन गुणों की अधिकता विशेष आवश्यक है।

शास्त्रार्थ

पूर्वपक्ष—नागानंद के नायक जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक क्यों माना जाता है? औदात्य का अर्थ सर्वोत्कृष्टत्व होता है जो कि विजय की इच्छा रखने वाले विजेता में ही पैदा होता और रहता हैं। नागानंद में कवि ने जीमूतवाहन को विजय की इच्छा से पराङ्मुख वृत्ति वाले कायर की तरह चित्रित किया हैं। अतः जीमूतवाहन सोच रहे हैं—

पिताजी के सामने ज़मीन पर खड़े रहने में जो आनंद आता है वैसा आनंद भला कहीं सिंहासन पर आरूढ़ होने पर मिल सकता है? [अर्थात् कभी नहीं मिल सकता]; पिताजी की शुश्रूषा करते समय उनके चरणों को दबाने में जिस आनंद की प्राप्ति होती है वह भला राज्य से कही मिल सकती है? उनके जूठन खाने में जो संतोष मिलता है उसके सामने तीनों लोकों का भोग किस गणना में? अतः पिताजी से त्यक्त इस राज्य का संचालन केवल आयास मात्र ही है। और भी—"पिताजी की सेवा करने के लिए मैं अपने वंश-परंपरागत राज्य को छोड़-कर अभी बन जा रहा हूँ।" इत्यादि बातों से जीमूतवाहन धीरोदात्त नहीं अपितु धीरशांत नायक ठहरते हैं, क्योंकि उनके अन्दर परम कारुणिता और शम की प्रधानता दीख पड़ती है।

इस नाटिका के रचयिता ने जीमूतवाहन को धीरशांत नायक चित्रित करते हुए एक बहुत बड़ा दोष ला दिया है, वह यह है कि उस प्रकार के राज्य-सुख आदि की अभिलाषा न रखने नाले शांत-प्रकृति नायक के साथ बीच-बीच में मलयवती का मादकता से भरा हुआ अनुराग चित्रण प्रस्तुत करना। नाटिका में इस प्रकार के धीरशांत नायक के साथ मलयवती के अनुराग का वर्णन अनुचित हैं।

पहले बताया गया है कि धीरशांत नायक ब्राह्मण, वैश्य और मन्त्री ही हो सकते हैं, क्षत्रिय या राजा नहीं। यह कहना भी ठीक नहीं है। किसी चीज़ की परिभाषा बना देने मात्र से वास्तविकता से आँख नहीं मूँदी जा सकती।

यह बात बिलकुल ही गलत है कि राजा और क्षत्रिय होने से कोई धीरशांत नहीं हो सकता। इसलिए बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतबाहन आदि का व्यवहार वस्तुत: शांतता को ही प्रकट करता है, अत: इनको धीरशांत मानना ही युक्तिसंगत है, धीरोदात्त मानना नहीं।

उत्तर पक्ष—औदात्य की परिभाषा सर्वोत्त्कृष्ट होना बताकर यह जो कहा गया कि उसका लक्षण जीमूतबाहन में नहीं जाता है, सो ठीक नहीं है। विजय की इच्छा केवल एक ही प्रकार की नहीं होती। उसके अनेक भेद होते हैं। केवल शत्रु को जीतकर उसके धन आदि को ग्रहण करने वाला ही विजेता नहीं कहलाता। क्योंकि केवल इस प्रकार के ही व्यक्ति को विजेता कहें तब तो इस प्रकार से गर्हित मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति भी विजेता कहा जाने लगेगा। इसलिए विजिगीषु (विजयेच्छु) का यह लक्षण करना उचित है कि जो अपने शौर्य आदि किसी गुण से सबका अतिक्रमण करके सर्वोत्कृष्ट हो, उसे विजिगीषु या विजेता कहते हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम राम ने रावण पर चढ़ाई की और विजय प्राप्त करने पर उन्हें द्रव्य आदि तथा यश की प्राप्ति हुई। अत: "येनकेनप्रकारेण शत्रु को परास्त कर धन प्राप्त कर लेना ही विजिगीषुता है" यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि राम ने रावण पर जो चढ़ाई की और युद्ध में परास्त कर उसका वध किया, इसका मुख्य उद्देश्य विश्व की रक्षा के लिए दुष्ट को दण्ड देना रहा। इसी हेतु वे इस कार्य में प्रवृत्त हुए थे। युद्ध में विजय प्राप्त करने पर जो भूमि आदि की प्राप्ति हुई वह तो बिना किसी विघ्न-बाधा और बिना किसी प्रयत्न के यों ही मिल गई। भूमि आदि की प्राप्ति के लिए वे युद्ध में प्रवृत्त कदापि नहीं हुए थे।

प्रकृत प्रसंग में जीमूतवाहन अपने प्राणों तक से दूसरे के उपकार में लग जाने के कारण विश्व का अतिक्रमण कर जाते हैं, अत: वे सर्वोत्कृष्ट उदात्त गुण वाले हैं।

"तिष्ठन् भाति पितु: पुरो भुवि यथा....." पिताजी के सामने ज़मीन पर खड़े रखने में जो आनंद आता है वह सिंहासन पर आसीन रहने में कहाँ ?" इत्यादि उदाहरण में विषयपराङ्मुखता देख जीमूतबाहन पर जो कायरता का आरोप किया जाता है सो ठीक नहीं है, क्योंकि कृपणता और कायरता का कारण जो सुख की प्राप्ति रूप तृष्णा है उससे तटस्थ रहना, उसकी इच्छा न रखना ही असली विजिगीषुता की पहचान है।

विजेता (विजिगीषु) कैसे हुआ करते है और उनका कार्य किस प्रकार का हुआ करता है, इसके बारे में बताया भी गया है—

"विजिगीषु पुरुष अपनी सुख की अभिलाषा न रखते हुए दूसरे के उपकार के लिए ही कष्ट सहते रहते हैं। [अथवा यों कह सकते हैं कि उनकी प्रतिदिन की दिनचर्या ही इस प्रकार की रहती है।] वृक्ष अपने सिर पर सूर्य के तीव्र संताप को सहते हुए भी सूर्य-किरणों से संतप्त अन्य जन के परिताप को, जो उसकी छाया का आश्रयण करते हैं, निश्चय ही शांत करता रहता है।" इत्यादि उदाहरणों से विजिगीषुता किसे कहते हैं यह बात साफ हो जाती है।

शांतविरोधी रस का आश्रय करके रहनेवाला मलयवती का अनुराग, नायक में शांतता का अभाव ही बतलाता है। शांत का अर्थ होता है, अहंकार का न रहना, जो कि ब्राह्मण आदि के ही अन्दर पाया जाता है। लक्षण में झूठमूठ की अवास्तविक बातें नहीं हैं बल्कि ब्राह्मण, स्वभाव से ही अहंकाररहित होता है ऐसी वस्तुस्थिति है। बुद्ध और जीमूतवाहन में एक ही ऐसी कारुणिकता के रहते हुए भी सकाम और निष्काम होने से आपस में भेद है। अतः जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक मानना ही सर्वथा उचित है।

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः ॥५॥
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डोः विकत्थनः।

धीरोद्धत नायक—इसके अन्दर मात्सर्य की प्रचुरता रहती है; माया और छद्म में रत रहता है; अहंकारी, चंचल, क्रोधी तथा अपनी प्रशंशा करनेवाला होता है ॥ ५ ॥

शौर्य (पराक्रम) आदि के मद को दर्प कहते हैं। दूसरे के पराक्रम आदि की असहनता को मात्सर्य कहते हैं। मन्त्र की सामर्थ्य से अविद्यमान वस्तु के प्रकाशन को माया कहते हैं। वंचना मात्र को छद्म कहते हैं। चल का अर्थ है अस्थिरता और चंचलता। जैसे परशुरामजी की उक्ति 'कैलासोद्धार' आदि। और जैसे रावण का यह कथन—"त्रैलोक्य के ऐश्वर्य की लक्ष्मी को धारण करनेवाली भुजाओं वाला मैं" आदि।

जैसे बछड़ा बाल्यकाल में वत्स, युवाकाल में वृषभ और ढलती के समय में महोक्ष कहलाता है, अर्थात् एक ही बैल तीन अवस्थाओं में क्रमशः परिणत होता है, वैसे ही अपने-अपने गुणों से युक्त धीरोदात्त आदि अवस्थाएँ भी एक ही व्यक्ति में आ सकती हैं। इनकी स्थिति ब्राह्मण आदि जाति की तरह नहीं है। अगर जाति आदि की तरह इनकी स्थिति मानेंगे तो फिर महाकवियों के प्रबन्धों में धीरललित, धीरोदात्त इत्यादि विरुद्ध अनेक रूपों का प्रतिपादन असंगत हो जाएगा, क्योंकि जाति तो नष्ट होने वाली वस्तु है नहीं, वह तो अपरिवर्तनशील वस्तु है। महाकवि भवभूति ने भी तो एक ही परशुराम को रावण के प्रति सन्देश भेजते हुए—"भाई, ब्राह्मणों का अतिक्रमण नहीं करोगे तो तुम्हारा ही भला होगा और

यदि ऐसा नहीं किया तो फिर मित्र परशुराम से तुम्हारी अनबन हो जाएगी।" इत्यादि से रावण के प्रति धीरोदात्त रूप में और फिर आगे चलकर 'कैलासोद्धार' आदि के द्वारा पहले धीरोद्धत के रूप में तथा फिर "ब्राह्मण जाति बड़ी ही पवित्र होती है" इत्यादि के द्वारा धीरशान्त रूप में चित्रित किया है।

प्रश्न—क्या नायक में अवस्थान्तर का लाना उचित है?

उत्तर—प्रधान नायक को छोड़कर उसके अङ्गभूत नायक तथा प्रतिनायकों में एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का होना अनुचित नहीं है। क्योंकि अंग-भूत नायकों में प्रधान नायक की तरह महापराक्रम आदि की कोई खास व्यवस्था नहीं है।

किसी एक प्रबन्ध में प्रधान नायक राम आदि में पूर्व-कथित चार अवस्थाओं में से किसी एक को लेकर कुछ दूर चलने के बाद दूसरी अवस्था का ग्रहण अनुचित है। ग्रन्थकारों ने इस प्रकार का अनुचित निन्दनीय कर्म किया है। उदाहरणार्थ राम को धीरोदात्त नायक के रूप में ग्रहण करके भी बालि का छिप-कर वध कराके उन्हें धीरोद्धत नायक के पद पर भी प्रतिष्ठित किया गया है। छिपकर बध करने से महापराक्रम का अभाव व्यक्त हो जाता है और मात्सर्य की प्रधानता आ जाती है जोकि धीरोद्धत नायक का प्रधान गुण हुआ करता है।

आगे शृंगारिक चेष्टाओं को ध्यान में रखकर नायक की दक्षिण, आदि चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। इनमें एक के बाद दूसरी का आना अनुचित नहीं माना जाता, क्योंकि ये अवस्थाएँ प्रायः सापेक्ष रहती हैं। उदाहरणार्थ, पहली नायिका की अपेक्षा दूसरी नायिका में नायक के चित्त के खिंच जाने से एक अवस्था का दूसरी के प्रति सापेक्ष होने से जिस अवस्था को ग्रहण किया गया उसको छोड़ भी दिया जाए तो कोई हर्ज़ नहीं है, क्योंकि वे आपस में अंगागिभाव सम्बन्ध रहने से एक-दूसरे की विरोधी नहीं हो सकतीं, अतः इनमें कोई विरोध नहीं है।

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वा प्रत्यन्यया हृतः ॥६॥

पहली नायिका के रहते दूसरी नायिका के प्रति नायक के चित्त के खिंच जाने से उसकी दक्षिण, शठ, धृष्ट, ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं और आगे बताए जाने वाली एक अवस्था भेद को लेकर कुल संख्या चार हो जाती है ॥६॥

नायक की पहले चार, धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत, ये चार अवस्थाएँ बताई गई हैं। इनमें से प्रत्येक दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल इन भेदों से चार-चार प्रकार की होती हैं। इस प्रकार से नायकों की कुल संख्या १६ होती है।

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः

दक्षिणनायक—जो पहली अर्थात् जेठी नायिका में सहृदयता के साथ व्यवहार करे उसे दक्षिण कहते हैं।

जैसे मेरा ही पद्य—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) हे सखि, "एक मेरा परिचित व्यक्ति है। वह प्रायः बड़े विश्वास के साथ मुझसे कहता है कि तेरे प्रियतम का प्रेम किसी दूसरी नायिका में आबद्ध हो गया है। पर उसकी बातों पर मुझे विश्वास नहीं होता क्योंकि मैं देखती हूँ कि जब वह (मेरा पति) मुझे देखता है तो प्रसन्न हो जाता है। उसका मेरे प्रति प्रेम भी बढ़ता ही हुआ तथा प्रतिदिन की रतिक्रीड़ा में अपूर्व ही विनय के साथ मिला हुआ दीख पड़ता है। इन सब बातों से उसके विषय में सन्देह करने की कोई बात ही नहीं दीख पड़ती है।" अथवा जैसे दूसरा यह पद्य—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) "हे सखि, उचित तो मेरे लिए यही है कि मैं अपने प्रियतम से स्नेह का नाता तोड़ लूँ क्योंकि उसकी ऐसी अनेक हरकतें देख चुकी। यद्यपि रँगीले जी अपनी प्यारी प्रियतमा (अपने ही को कहती है) के सेवा-सत्कार में कोई कसर नहीं उठा रखते हैं बल्कि पहले से (दूसरी नायिका के प्रेम-सूत्र में बँधने के पहले से) भी अधिक चाटुकारिता करते हैं, पर तारीफ यही है कि वह केवल ऊपर से दिखलावा-मात्र ही रहता है।"

गूढविप्रियकृच्छठः।

शठनायक—छिपे ढंग से जो दूसरी नायिका से प्रेम-व्यवहार चलाता है उसे शठ कहते हैं।

जैसे—(शठ) नायक जब अपनी पूर्वा नायिका के साथ प्रेम-व्यापार में प्रवृत्त था इतने ही में उसके कान में (अन्य नायिका की) करधनी की मणियों की झनझनाहट पड़ी, फिर क्या था—गाढ़ालिंगन में प्रवृत्त उसकी भुजाओं का बन्धन ढीला हो गया। भुज-ग्रन्थि के शिथिल हो जाने से नायिका ताड़ गई कि हजरत दूसरे में आसक्त हैं, अतः प्रकुपित हो बैठी। अब नायक का माथा ठनका और वे उसकी सखी के पास मनाने के लिए प्रार्थना करने लग गए। उनकी बातों को सुन सखी बोली—देखने में घी-मधु की तरह तथा परिणाम में विष का काम देने वाली चाटुकारितायुक्त बातों से क्या लाभ? तुम्हारे इस प्रकार के विषैले वचनों से मेरी सखी के सिर में चक्कर आने लगा है, अब तुम्हारी इन बातों में किसी को तनिक भी विश्वास नहीं है।

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो

धृष्टनायक—जिस नायक के शरीर में विकार[1] स्पष्ट लक्षित होता है उसे

---

१. विकार—अन्य नायिका के साथ किए संभोग आदि के चिह्न।

धृष्ट कहते हैं। जैसे 'अमरुशतक' में—कोई नायक रात-भर पर-नायिका से रमण करने के बाद प्रातःकाल जब अपनी पहली नायिका के पास आया तो उस हरिणाक्षी ने नायक के ललाट में महावर, गले में विजायठ के चिह्न, मुख पर काजल की कालिमा, नेत्रों में ताम्बूल की ललाई आदि चिह्नों को देख प्रकोप से उत्पन्न उच्छ्वासों को अपने हाथों के लीलाकमल के भीतर समाप्त कर दिया।"

अब इन तीन भेदों को बताकर चौथा भेद बताते हैं—

ऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ ७ ॥

अनुकूल नायक—केवल एक ही नायिका में जो आसक्त रहे उसे अनुकूल कहते हैं। जैसे 'उत्तररामचरित' में राम की उक्ति—'जो सुख और दुःख में एक रूप है और सभी अवस्थाओं में अनुगत है, जिसमें हृदय का विश्वास है, जिसमें प्रीति बुढ़ापे से भी नहीं हटती, जोकि विवाह से लेकर मरण-पर्यन्त, परिपक्व और उत्कृष्ट प्रेम में अवस्थित रहता है, दाम्पत्य का वह कल्याणमय प्रेम बड़े पुण्य से पाया जाता है ॥ ७ ॥

प्रश्न—'रत्नावली' आदि नाटिकाओं में वर्णित वत्सराज आदि किस अवस्था के नायक हैं ?

उत्तर—पहले केवल एक ही नायिका के रहने से अनुकूल और बाद में दूसरी नायिका के आ जाने से दक्षिण अवस्था के हैं।

प्रश्न—पहली नायिका वासवदत्ता से छिपकर अन्य नायिका रत्नावली के साथ वत्सराज का प्रेम-व्यापार चलता है, अतः शठ तथा रत्नावली के प्रेम को जब वासबदत्ता स्पष्ट देख लेती है तो धृष्ट; नायक को इन दोनों अवस्थाओं से युक्त क्यों न माना जाए ?

उत्तर—प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त विप्रकारित्व के रहते हुए भी वत्सराज आदि का पहली नायिका वासदत्ता आदि के साथ उचित व्यवहार होता है, अत वे दक्षिण हैं।

प्रश्न—दक्षिण की दी हुई परिभाषा के अनुसार तो किसी का दक्षिण होना असम्भबप्राय है, क्योंकि दी हुई परिभाषा के अनुसार नई नायिका के प्रेम में आसक्त रहते हुए भी पहली नायिका के साथ उसका वर्ताव पहले ही के समान होना चाहिए। पर ऐसा होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दो नायिकाओं में समान प्रेम नहीं रह सकता ?

उत्तर—दो नायिकाओं में समान प्रीति हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है। महाकवियों के प्रबन्ध इस बात के साक्षी हैं—

("कोई कंचुकी कह रहा हैं कि) जब मैंने महाराज से यह निवेदन किया कि महाराज, कुन्तलेश्वर की दुहिता स्नान करके तैयार हैं, आज अंग देश के

राजा की लड़की की भी पारी है, रानी कमला ने भी जुए में आज की रात को जीत लिया है, इसके अलावा आज महारानी को भी प्रसन्न करना आवश्यक ही है, ऐसी मेरी बातों को सुनकर महाराज दो-तीन घड़ी तक किंकर्तव्यविमूढ़ हो स्तब्ध-से रह गए।" इसके अलावा आचार्य भरत ने भी कहा है—

"उत्तम नायक मधुर स्वभाव का तथा त्यागी होता है। किसी वस्तु में उसकी विशेष आसक्ति नहीं होती। वह काम के भी वशीभूत नहीं होता, और स्त्री द्वारा अपमानित होने पर उसकी प्रवृत्ति वैराग्य की तरफ हो जाती है।

आचार्य भरत मुनि के "किसी वस्तु में उसकी विशेष आसक्ति नहीं होती, वह काम के भी वशीभूत नहीं होता" इत्यादि कथनों से दक्षिण नायक का किसी एक नायिका में अधिक प्रेम होने का निषेध ही होता है, अतः वत्सराज आदि का प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त दक्षिणता का ही प्रतिपादन होता है।

ऊपर नायक के १६ भेद बतला चुके हैं। फिर इनमें के प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और अधम, ये तीन-तीन भेद होते हैं और इस प्रकार से नायक के कुल ४८ भेद हुए।

अब नायक के सहायकों को बतलाते हैं—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः।
तस्यैवानुचरो भक्तः किंचिदूनश्च तद्गुणैः ॥८॥

प्रधान नायक की अपेक्षा पताका का नायक अन्य व्यक्ति होता है जिसको पीठमर्द कहते हैं। यह विचक्षण होता है और प्रधान नायक का अनुचर, उसका भक्त तथा उससे कुछ ही कम गुणवाला रहता है ॥८॥

पहले बताया जा चुका है कि प्रासंगिक कथा के पताका और प्रकरी दो भेद होते हैं। उसी बताए हुए पताका के नायक की संज्ञा पीठमर्द है। पीठमर्द प्रधान कथानायक का सहायक हुआ करता है, जैसे मालती-माधव नामक प्रकरण में मकरन्द और रामायण में सुग्रीव। अब नायक के अन्य सहायकों को बताते हैं—

नायक के सहायक विट और विदूषक हुआ करते हैं। विट एक विद्या का पण्डित होता है। हँसाने वाले पात्र को विदूषक कहते हैं।

एकविद्यो विटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषकः।

नायक के उपयोग में आनेवाली गीत आदि विद्याओं में से जो किसी एक विद्या का ज्ञाता होता है उसे विट कहते हैं। नायक के हँसाने के प्रयत्न करने वाले को विदूषक कहते है।

यह अपनी विदूषक आकृति और विकृति (विचित्र-विचित्र वेशभूषा, बोल-चाल आदि) के द्वारा हँसाने का प्रयत्न करता है। 'नागानन्द' नाटिका में शेखरक

विट है। विदूषक के उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह प्रायः हरेक रूपक में आता है। अतः प्रसिद्ध है।

अब प्रतिनायक का लक्षण देते हैं—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ॥ ९ ॥

प्रनिनायक—यह लुब्ध, धीरोद्धत्तः, स्तब्ध, पाप करने वाला तथा व्यसनी और नायक का शत्रु हुआ करता है। उसका उदाहरण राम (नायक) का रावण और युधिष्ठिर (नायक) का दुर्योधन है ॥ ९ ॥

इसके बाद नायक के सात्त्विक गुणों को बताते हैं—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ १० ॥

शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित, औदार्य, ये आठ नायक के सात्त्विक गुण हैं ॥ १०

नीचे घृणाऽधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते ।

शोभा—नीच के प्रति घृणा, अधिक गुणवाले के साथ स्पर्धा, शौर्यशोभा शौर्य-दक्षता, इनको शोभा कहते हैं।

नीच के प्रति घृणा, जैसे 'महावीरचरित' में—

"ताड़का के भयंकर उछल-कूद आदि उत्पातों के होने पर उसके मारने के लिए नियुक्त रामचन्द्र तनिक भी भयभीत न हो सके।"

अधिक गुणवाले के साथ स्पर्धा का उदाहरण—

"हिमालय के उस प्रदेश ये जहाँ शिवजी और अर्जुन का युद्ध हुआ था, मैं महाराज के साथ गया और उनको बताया कि महाराज, यह सामने दिखाई देने वाली वही भूमि है जहाँ किरात वेषधारी भगवान् शंकर के मस्तक पर अर्जुन ने प्रकुपित होकर वेग के साथ अपने वाणों का प्रहार किया था। मेरे इस कथन के श्रवण-मात्र से ही महाराज अपनी दोनों भुजाओं को धीरे-धीरे घुमाने लगे।"

शौर्यशोभा का उदाहरण, जैसे मेरा ही पद्य—रणस्थल में घायल वीर योद्धा का वर्णन—"वह इतना घायल हो गया है कि उसका शरीर व्रणों से भर गया है, शस्त्र चुभे हुए हैं, उत्साह के कारण उत्पन्न रोमांच ही कवच का काम दे रहे हैं, बाहर निकली हुई अंतड़ियों ने उसके पैर को बाँध रखा है जिससे पैर को आगे बढ़ाने में असमर्थ है, इतने पर भी जब होश में आता है तो लड़ने के लिए आगे बढ़ता है, उसके ऐसे कर्मों से उसके पक्ष के घायलों में उत्साह तथा शत्रु-पक्षी योद्धाओं में सन्तर्जन पैदा हो रहा है। इस प्रकार भयानक रण रूपी खम्भे के लिए पताका के सदृश सुशोभित होने वाला जयश्री का धाम वह वीर धन्य ही है।

दक्षशोभा का उदाहरण, जैसे 'महावीरचरित' के इस पद्य में—

"राम ने सहस्र वज्रों से भी कठोर तथा त्रिपुरासुर का वध करने वाले शंकर के उस धनुष को जिसने कि देव-तेज काफ़ी गुरुता को प्राप्त कर लिया था, झट से उठाकर वैसे ही तोड़ डाला, जैसे पर्वत-शृंग पर खड़ा तीव्र शक्ति-सम्पन्न गजशावक अपनी भुजाओं से वृक्षों को तोड़ डालता है।"

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥ ११ ॥

विलास—विलास में नायक की गति और दृष्टि में धीरता रहती है तथा चसका वचन मुस्कराहट लिए होता है ॥ ११ ॥

जैसे—"इस वालक की चाल और चितवन क्या ही शूरता से भरी हुई है ! जव यह देवता है तो ऐसा लगता है मानों विश्व के सारे पराक्रम को इसने तृण-वत् कर दिया है और जब यह अल्हड़पन लिए हुए धीरता के साथ चलता है तो ऐसा लगता है मानों पृथ्वी नीचे धँसी जा रही है। यद्यपि अभी यह छोटा ही है पर पर्वत के समान गुरुता के धारण करने के कारण ऐसा लगता है मानों साक्षात् वीर रस हो, अथबा दर्प का मूर्तिमान रूप हो।"

श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि ।

माधुर्य—महान् संक्षोभ रहते हुए अर्थात् महान् विकार पैदा करने वाले कारणों के रहते भी मधर विकार होने का नाम माधुर्य है।

"मर्यादापुरुषोत्तम राम हास्य लिये हुए प्रसन्नतावश रोमाञ्चित अपने मुख-कमल को हाथी के बच्चे के दाँत की शोभा को चुराने वाले सीता के स्वच्छ कपोलों में बार-बार देख रहे हैं। साथ ही राक्षसों की सेना की कलकल ध्वनि को सुनते हुए अपनी जटाओं की गाँठ भी कस रहे हैं।"

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥ १२ ॥

गाम्भीर्य—जिसके प्रभाव से विकार लक्षित न हो सके उसे गम्भीर्य कहते हैं ॥ १२ ॥

माधुर्य ओर गांभीर्य में अन्तर यह है कि एक (माधुर्य) में मधुरता से युक्त विकार लक्षित होता है, दूसरे (गांभीर्य) में बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। जैसे—'आहूतस्याभिषेकाय' इसका अर्थ पहले आ चुका है।

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि ।

स्थैर्य या स्थिरता—विघ्न-समूहों के रहते हुए भी अपने कर्तव्य में अडिग बने रहने का नाम स्थैर्य या स्थिरता है।

जैसे, 'महावीरचरित' में—प्रायश्चित्तं चरिष्यामि आदि।

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥ १३ ॥

तेज—प्राण-संकट के समुपस्थित रहते भी जो अपमान को न सह सके उसे तेज कहते हैं ।।१३ ।।

जैसे—"इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं,
जो तरजनी देखि मरि जाहीं ।"

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

ललित—शृङ्गार के अनुरूप स्वाभाविक और मनोहर चेष्टा को ललित कहते हैं ।

जैसे मेरे ही पद्य में—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) हे सखि, स्वाभाविक सुकुमारता और मनोहर लावण्य आदि तथा मन को आन्दोलित करने वाले अपने विलासों के द्वारा जो (कामदेव) मुझे उपदेश दिया करता है वह क्या मेरे ही समान मेरे प्रियतम को भी विषम तापों से तापित नहीं करता होगा ?

प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ।। १४ ।।

औदार्य—यह दो प्रकार का होता है । प्रियवचन के साथ जीवन तक को दूसरे के लिए समर्पित कर देना पहला भेद है । दूसरा सज्जनों के सत्कार करने को कहते हैं ।। १४ ।।

प्रथम का उदाहरण नागानन्द का—"शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्"[1] 'हे गरुड़, मेरे शरीर से····आदि यह पद्य है ।

द्वितीय उदाहरण 'कुमारसम्भव' का यह पद—सप्तर्षिमण्डल के अपने घर पहुँचने पर हिमालय उनसे बोले—"यहाँ आपकी आज्ञापालन के लिए मैं आपके आगे खड़ा ही हूँ । ये मेरी स्त्रियाँ हैं और यह मेरी घर-भर की प्यारी कन्या है, इनमें से जिससे भी आपका काम बने, उसे आज्ञा दीजिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं वे तो आपकी सेवा के लिए तुच्छ ही हैं, इसलिए उनका नाम लेते हुए भी मुझे हिचक हो रही है ।

नायिका

पूर्वकथित गुणों से युक्त नायिका तीन प्रकार की होती हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या ।

पूर्वकथित गुणों से युक्त कहने का भाव यही है कि पहले नायक में रहने वाले जिन जिन सामान्य गुणों को गिनाया है, उनमें से जहाँ तक हो सके उनका नायिका में रहना भी वाञ्छनीय है । विभाग करने पर नायिका तीन प्रकार की

---

१. देखिए पृ० १४७ ।

होती हैं—(१) स्वीया (अपनी), (२) परकीया (दूसरे की), (३) सामान्या (सर्वसाधारण की उपभोग्य) वेश्या आदि।

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

स्वीया—स्वीया (अपनी) नायिका के तीन भेद होते हैं—(१) मुग्धा, (२) मध्या और (३) प्रगल्भा। शील और सरलता से युक्त रहनेवाली नायिका को स्वीया कहते हैं। शील से युक्त कहने का भाव यह है कि उसका चरित्र सुन्दर हो, पतिव्रता हो, कुटिला न हो, तथा लज्जावती होने के साथ-साथ अपने पति के प्रसादन में निपुण हो।

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥१५॥

शीलवती नायिका जैसे—"कुलबालिका के यौवन और लावण्य के विभ्रम और विलास को तो देखो जो प्रियतम के प्रवास के साथ ही चला जाता है और उनके आते ही आ जाता है" ॥१५॥

सरलता से युक्त नायिका का उदाहरण जैसे—

"जो बिना कुछ सोचे-समझे, सरल भाव से भोलापन लिये हुए हँसे, जिसके चाल-ढाल, घूमना-फिरना, उठना-बैठना, बोलना-चालना आदि बिना किसी बनावट के, स्वाभाविक होते हैं, ऐसी स्त्रियाँ भाग्यवानों के ही घर में पाई जाती हैं।"

लज्जावती नायिका का उदाहरण, जैसे—

"जिसकी लज्जा हो पर्याप्त प्रसाधन है, जिसको दूसरे को प्रसन्न करने की ही प्यास लगी रहती है, ऐसी सुन्दर गुणसम्पन्न स्त्रियाँ भाग्यवानों के घर में ही पाई जाती हैं।"

स्वीया नायिका के भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन भेद होते हैं।

मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ॥

मुग्धा का लक्षण—जिसके शरीर में तारुण्य का प्रवेश हो, काम का संचार भी होने लगा हो, रतिकाल में भी जो प्रतिकूलता का आचरण करती हो, कदाचित् प्रकुपित हो, तो भी उसका क्रोध मिठास लिए ही हो। ऐसी नायिका को मुग्धा कहते हैं।

मुग्धा के भी कई भेद होते हैं—वयोमुग्धा, काममुग्धा, रतिकाल में प्रतिकूल आचारयित्री, मृदुकोपना।

वयोमुग्धा का उदाहरण—

"इसका विस्तार को प्राप्त होनेवाला स्तनमण्डल, जितना ऊँचा होना चाहिए अभी उस उच्चता को प्राप्त नहीं कर पाया है, त्रिबली की रेखाएँ यद्यपि उद्भासित हो गई हैं किन्तु उनके अन्दर अभी ऊँचाई-निचाई स्पष्ट नहीं हो

पाई है। इसके मध्यभाग में विस्तृत भूरी रंग की रोमावली बन गई है। इस प्रकार से इसके सुन्दर वय ने शैशव और यौवन का संघटित रूप प्राप्त कर लिया है।"

अथवा जैसे मेरा यह पद्य—

"मण्डल-पर्यन्त रेखावाले तथा कुड्मल को कसके बाँधे हुए नायिका के दोनों स्तन उच्छ्वसित होते हुए मानो कह रहे हैं कि मेरी वृद्धि के लिए सीना (छाती) अपर्याप्त है।"

काममुग्धा का उदाहरण, जैसे—

"उसकी दृष्टि अलसाई हुई रहती है, बालक्रीड़ा में अब उसे कोई आनन्द नहीं मिलता। सखियाँ जब कभी शृङ्गारिक बातें करना आरम्भ करती हैं तो उसे सुनने के लिए अपने कानों को वह सावधान कर लेती है। पहले वह बिना किसी हिचक के पुरुष की गोद में बैठ जाती थी, पर अब ऐसा नहीं करती। इस प्रकार की नवीन चेष्टाओं आदि से वह बाला मानो नई जवानी में लिपटी जा रही है।

रतिकाल में अनुकूल आचरण न करनेवाली मुग्धा, जैसे—

"पार्वती इतनी लजाती थीं कि शिवजी कुछ पूछते भी थे तो ये बोलती न थीं, यदि वे इनका आँचल थाम लेते थे तो ये उठकर भागने लगती थीं और साथ सोते समय भी ये मुँह फेरकर सोती थीं। पर शिवजी को इन बातों में भी कम आनन्द नहीं मिलता था।

मृदुकोपना—कुपित होने पर जो आसानी से प्रसन्न की जाए—"पति के किसी बुरे आचरण को देख, बाला को पहले-पहल जब क्रोध आया तो किस प्रकार से क्रोध को व्यक्त किया जाता है, इसके न जानने से वह अपनी भुजाओं को झुकाकर पति की गोद में जाकर बैठ गई। इसके बाद उसके प्रियतम ने उसकी ठुड्डी उठाकर, रोती हुई प्रियतमा के अश्रु-सिक्त ओष्ठ भी चूमे।"

इस प्रकार से लज्जा तथा अनुराग से भरी हुई मुग्धा नायिका के ओर भी व्यवहारों की कल्पना की जा सकती है। जैसे—"नायक और नायिका दोनों बैठे हुए हैं। सामने प्याले में पेय पदार्थ रखा है। नायक का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा है। लज्जावती नायिका प्रियतम के प्रतिबिम्ब को अनुराग के साथ देख रही है। नायक उस पेय पदार्थ में कुछ सुगन्धित पुष्प-रस आदि छोड़ना चाहता है, पर नायिका को भय है कि अगर इसमें कुछ छोड़ा गया तो प्रियतम के प्रतिबिम्ब के देखने में बाधा आ जाएगी। अतः उसको पुष्प रस आदि का छोड़ा जाना भी असह्य है। अतः सात्त्विक भाव से रोमांचित होती हुई वह न तो उस

पेय पदार्थ को ही पीती है और न बरतन को ही हिलाती है; और तो और, वह अपने निः-श्वासों को भी दवाकर इसलिए छोड़ती है कि कहीं पात्र में तरंगों के आ जाने से प्रियतम के प्रतिविम्ब-दर्शन में बाधा न आ जाए। बस, वह टकटकी लगाकर प्रियतम के प्रतिबिम्ब को ही देख रही है।"

मध्या

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

चढ़ती जवानी की सब कामनाओं से भरी हुई और मूर्छा की अवस्था पर्यन्त रति में समर्थ रहने वाली नायिका को मध्या कहते हैं ॥ १६ ॥

इसमें **यौवनवती** का उदाहरण, जैसे—"उसके भ्रू विलास आदिकों ने आलाप (बात-चीत) में कमी ला दी है। मस्ती से भुजाओं को घुमाकर उसका चलना बहुत ही चिताकर्षक होता है। उसके नितम्ब का मध्य भाग थोड़ा निम्न हो गया है, नीवी की गाँठ बढ़ती जा रही है, उसके पार्श्वों में विकास और सीने में कुचों का बढ़ाव जारी है। इस प्रकार मृगनकनी के यौवन की शोभा को देखने से ऐसा लगता है मानो कामदेव अपने धनुष के अग्रभाग से उसका स्पर्श कर रहा है।

कामवती मध्या का उदाहरण, जैसे--

"कामदेव रूपी नयी नदी के प्रवाह में बहते हुए वे दोनों (नायक और नायिका); जिनके मनोरथ अभी पूरे नहीं हो पाए हैं, गुरुजन रूपी सेतु से यद्यपि रोक लिए गये हैं, फिर भी लिखित के समान एक-दूसरे पर आकृष्ट हुए नेत्र-रूपी कमल के डण्ठल से एक-दूसरे के रसरूपी जल का पान कर रहे हैं।"

मध्या-सम्भोगा का उदाहरण, जैसे--

"महिलाओं के विभ्रम विलास आदि रति के समय में तभी तक चलते रहते हैं जब तक नील कमल के समान स्वच्छ आभा वाले उनके नेत्र बन्द नहीं हो जाते।"

इसी प्रकार इनकी धीरा, अधीरा, धीरा-अधीरा आदि अवस्थाओं को भी समझना चाहिये।

अब इनके नायक के साथ होने वाले व्यवहार को बताते हैं—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या साश्रु कृतागसम्।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ १७ ॥

मध्याधीरा हास्य युक्त वक्र उक्तियों से, मध्यधीरा आँसुओं सहित वक्र उक्तियों से, और मध्या अधीरा क्रोध के साथ कटुवचनों द्वारा अपने अपराधी प्रियतम को फटकारती हैं ॥ १७ ॥

मध्या धीरा द्वारा हास्ययुक्त वक्र उक्तियों से नायक का फटकारा जाना—कोई अपराधी नायक अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करने के लिए आम्रमंजरी अर्पित करना चाहता है, नायिका उसको अस्त्रीकार करती हुई कहती है—"इस दान के ग्रहण करने के योग्य हम लोग नहीं हैं (अर्थात् मैं नहीं हूँ), तुम उसे ही ले जाकर इसे दो जो एकान्त में स्वथं अपने अधरों का पान कराती और तुम्हारे अधरों का पान किया करती है।" धीराधीरा का आँसुओं के साथ वक्रोक्ति द्वारा नायक में खेद उत्पन्न करना—"प्रकुपित नायिका को नायक मना रहा है—कहता है, 'हे बाले', उधर से उत्तर आता है, 'नाथ'! फिर नायक कहता है—'हे मानिनी, कोप छोड़ो', उधर से उत्तर आता है—'मैं क्रोध ही करके क्या कर लूँगी?' फिर नायक कहता है—'मेरा कोई अपराध नहीं है', उधर से उत्तर आता है—'तो आपसे कौन कहता है कि आपने अपराध किया है, सारे अपराध मेरे हैं।' नायक पूछता है—'यदि ऐसी ही बात है तो फिर गद्‌गद् वाणी से रो क्यों रही हो?' उत्तर आता है—'मैं किसके सामने रो रही हूँ?' नायक बोलता है—'मेरे सामने रो रही हो।' उत्तर आता है—'मैं आपकी कौन हूं कि रोऊँगी?' नायक कहता है—'तुम मेरी प्रियतमा हो।' नायिका उत्तर देती है—'मैं आपकी नहीं हूँ, इसी से तो रो रही हूं।"

आँसुओं के साथ अधीरा नायिका के कटु वचनों द्वारा नायक को फटकारना "हे सखि, इसको जाने दो, जाने दो, रोकने की और आदर दिखाने की क्या अवश्यकता? सौत के अधर से कलंकित इस प्रियतम पापी को मैं देखना भी पसन्द नहीं करती।"

इसी प्रकार के मध्या के व्यवहार लज्जा से अनावृत और स्वयं सुरत में प्रवृत्त न होने वाले होते हैं। जैसे—

"नायक के प्रति आन्तरिक अनुराग के कारण नायिका के शरीर में सात्त्विक भावों का संचार हो गया है, उसके मुख पर पसीने की छोटी-छोटी बूँदें झलकने लगती हैं। रोमांच हो आया हैं, नायक के सिवा और किसी के वहाँ न रहने के कारण गुरुजन का भय भी दूर हो गया है, स्तनों पर कँपकँपी का ताँता भी बँधा हुआ है। मन में ऐसी प्रबल इच्छा है कि नायक उसके केशों को पकड़कर जोरों के साथ आलिंगन-रूपी अमृत का पान कराए, पर इतना होते हुए भी नायक, नायिका द्वारा स्वयं सुरत में प्रवृत्त नहीं कराया गया।"

यहाँ पर नायिका ने स्वयं आश्लेष नहीं किया। इसके बारे में यह कहा गया है कि वह नायक द्वारा बरजोरी से केश खींचे जाते हुए घनाश्लेष रूपी अमृतपान की मानो लब्धा है। इस प्रकार से यहाँ उत्प्रेक्षा की प्रतीति होती है।

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
बिलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ।।२८।।

प्रगल्भा नायिका यौवन में अन्धी, रति में उन्मत्त, कामकलाओं में निपुण रति के समय मानो नायक के अंगों में ही प्रविष्ट हो जाएगी, इस प्रकार की इच्छा वाली तथा सुरतारम्भ में ही आनन्दविभोर हो बेहोश हो जाने वाली होती है । [इसके कई भेद होते हैं, नीचे उनका उदाहरण दिया जाता है] ।।१८।।

गाढ़यौवना—"अद्भुत युवावस्था वाली उस नायिका के छाती पर स्तन ऊँचे उठ आए हैं, नेत्र बड़े हो गए हैं, भौंहें तिरछी हो गई हैं, वाणी का क्या कहना, उसमें तो और वक्रिमा [नाज़ नखरे आदि] आ गई है, कमर पतली तथा नितम्ब स्थूल हो गया है । गति भी मन्द हो गई है ।"

जैसे और भी—"इस सर्वाङ्गसुन्दरी को देख कौन ऐसा पुरुष होगा जिसका चित्त विचलित न हो जाए, क्योंकि इसके स्तन-मण्डल बहुत ऊँचे हो गए हैं, कमर पतली हो गई है, और जघन प्रदेश में स्थूलता आ गई है ।"

भावप्रगल्भा का उदाहरण—कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि "जब मेरा प्रियतम मेरे पास आकर मधुर सम्भाषण करने लगता है अथवा इतना भी काहे को, उसको सामने आते देखती हूँ इतने ही मात्र से मेरे सारे अंग नेत्र हो जाते हैं अथवा कान, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं है ।

रतप्रगल्भा का उदाहरण—"कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि प्रियतम के सेज पर आने के साथ ही मेरी नीचे की ग्रन्थि अपनेआप खुल जाती है । नितम्ब पर करधनी में अटके हुए को छोड़ सारा-का-सारा वस्त्र शरीर से अलग हो जाता है । उनके अंगों के सम्पर्क से शरीर में कँपकँपी आ जाती है, इतने तक का तो मुझे ज्ञान रहता है पर इसके बाद 'वे कौन हैं', 'मैं क्या हूँ', 'काम-क्रीड़ा किसे कहते हैं और कैसे किया जाता है', आदि बातों का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता ।"

लज्जा की यन्त्रणा से उन्मुक्त और वैदग्ध्य से युक्त इस प्रकार के प्रगल्भा के अन्य व्यवहारों को भी समझना चाहिए ।

जैसे—"शैया पर बिछी हुई चादर नायिका की काम-सम्बन्धी अनेक अवस्थाओं को कह रही है, क्योंकि उसका कोई भाग ताम्बूल से लाल हो गया है, कोई भाग अगुरु के पंक से मलिन हो गया है । कहीं पर कपूर के चूर्ण दिखाई दे रहे हैं तो कहीं पर महावर लगे पद-चिह्न, ऐसे ही कहीं पर त्रिवली के चिह्न झलक रहे हैं तो कहीं पुष्प बिखरे नज़र आ रहे हैं ।"

प्रगल्भा की कोप-चेष्टा

सावहित्थादरादास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा ।
संतर्ज्य ताडयेन्मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ।। १९ ।।

प्रगल्भा धीरा अपने क्रोध को छिपाकर ऊपर से आदर-सत्कार प्रदर्शित करती है, पर सुरत से उदासीन बनी रहती है । प्रगल्भा धीरा-धीरा की भाँति क्रोधयुक्त वक्रोक्ति से नायक को फटकारती है और प्रगल्भा अधीरा क्रुद्ध होकर नायक को डराती-धमकाती तथा मारती भी है ।। १९ ।।

क्रोध छिपाकर आदर प्रदर्शित करन वाली धीरा प्रगल्भा, जैसे—"प्रियतम को दूर से आते देख खड़ी हो एक आसन पर बैठने की स्थिति को उसने दूर कर दिया, ताम्बूल लाने आदि के बहाने से हटकर वेग के साथ किए जाने वाले आलिंगन में भी बाधा डाल दी ! प्रियतम की सेवा में परिजनों को नियुक्त करने के बहाने उसने बातचीत करने में भी आनाकानी कर दी । इस प्रकार उस चतुर नायिका ने अपनी चतुराई से उपचार आदि के बहाने नायक के प्रति उत्पन्न कोप को कृतार्थ कर दिया ।"

रति में उदासीन रहने वाली नायिका, जैसे—नायक अपने मित्र से कह रहा है कि उसकी आज की चेष्टाओं से ऐसा लगता है मानो उसने मेरे सारे दोषों की जानकारी प्राप्त कर ली है क्योंकि—"रति के प्रसंग में वस्त्रों को खोलते समय पहले वह कलह कर बैठती थी और केश-ग्रहण के साथ काम में प्रवृत्त होने पर जब मैं उसके अधर के काटने की कोशिश करता था उस समय वह भौंहें टेढ़ी कर काटने नही देती थी, पर आज वह स्वयं अपने अधरों को सौंप रही है । पहले जब मैं हठात् आलिंगन में प्रवृत्त होता था तो वह उस समय प्रतिकूल ही आचरण करती थी, पर आज तो वह स्वयं अपने अंगों को समर्पित कर रही है । पता नहीं, इसने कोप करने का यह नया ढंग कहाँ से सीख लिया है ।"

इसके अलावा **अधीराप्रगल्भा** कुपित होते पर भय उत्पादन करने के साथ-साथ मारती भी है । जैसे, अमरूशतक में—

"प्रकुपित नायिका अपने कोमल चंचल बाहुरूपी लतिका के पाश में दृढ़ता से बाँधकर नायक को अपने क्रीड़ागृह से घसीटती हुई सखियों के सामने ले जाकर उसके दुर्व्यवहार-सूचक चिह्नों को दिखा-दिखाकर यह कहती हुई कि 'फिर तो ऐसा नहीं करोगे' रोती हुई मार रही है और नायक उन चिह्नों को ढकने का यत्न करता हुआ हँस रहा है । (कवि कहता है कि) ऐसे अवस्थापन्न व्यक्ति का जीवन धन्य है ।"

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरा के समान ही सहास वक्रोक्ति के द्वारा नायक से बोलती है। जैसे—

"अपने पैर पर गिरे हुए नायक से उसकी नायिका कहती है— देखो, एक वह दिन था जब हम दोनों में से कोई किसी पर नाराज़ होता तो भौंहों का चढ़ जाना ही कोप का सबसे बड़ा (परिणाम) होता, मौन ही दण्ड होता, आपस में एक-दूसरे को देखकर हँस देना ही अनुग्रह और दृष्टिपाल ही प्रसन्नता का कारण होता था, पर देखो न, वह प्रेम आज इस दशा को पहुँच गया है कि तुम मेरे पैरों पर पड़े हो और मैं मान कर बैठी हूँ और तुम्हारी प्रार्थना पर भी मुझ अभागिनी का कोप शान्त नहीं हो रहा है।"

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के प्रत्येक भेदों के ज्येष्ठा और कनिण्ठा भेद होते हैं। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के कुल भेदों की सम्मिलित संख्या १२ होती है।

मुग्धा के सब भेद नहीं होते हैं वह एक ही रूप को रहती है।

ज्येष्ठा और कनिष्ठा का उदाहरण 'अमरुशतक' के एक ही श्लोक में मिल जाता है—"एक आसन पर बैठी हुई अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देख, क्रीड़ा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँख मूंद कर अपने कन्धे को ज़रा घूमाकर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका को प्रसन्नता के साथ चूम रहा है।"

नायिका के ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये भेद नायक के दाक्षिण्य और प्रेम इन दोनों के कारण ही नहीं होते अपितु केवल प्रेम के कारण भी होते हैं। दाक्षिण्य के कारण ज्येष्ठा कनिष्ठा व्यवहार नहीं होता है। जो नायक सहृदयता से ज्येष्ठा में आचरण करे वह दक्षिण कहलाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सहृद-यता के साथ जिसके साथ व्यवहार होता है वह ज्येष्ठा है। इस बात को दक्षिण की परिभाषा देते समय स्पष्ट कर दिया गया है।

इस प्रकार से नायिका के (१) धीरमध्या, (२) अधीरमध्या और (३) धीराधीर-मध्या, (४) धीरप्रगल्भा, (५) अधीरप्रगल्भा और (६) धीराधीरप्रगल्भा ये ६ भेद हुए। फिर इनके ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद करके कुल १२ भेद हुए।

'रत्नावली' नाटिका में वासवयत्ता और रत्नावली के उदाहरण ज्येष्ठा-कनिष्ठा के हैं। इसी प्रकार महाकवियों के और प्रबन्धों से भी इस बात को समझ लेना चाहिए।

परकीया नायिका

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ॥ २० ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

परकीया नायिका के दो भेद होते हैं—(१) कन्या और (२) विवाहिता। विवाहिता को ऊढा तथा कन्या को अनूढा कहते हैं। प्रधान रस के वर्णन में ऊढा नायिका का प्रेम-दर्शन कहीं भी ठीक नहीं है। हाँ कन्या के अनुराग का प्रदर्शन प्रधान और अप्रधान दोनों रसों में हो सकता है ॥ २० ॥

दूसरे नायक से सम्बन्ध रखने वाली ऊढा का वर्णन—नायिका अपनी पड़ोसिन से कह रही है—"हे बहन, थोड़ी देर के लिए ज़रा मेरे घर का भी ख़याल रखना क्योंकि मेरे इस लड़के का पिता अर्थात् मेरा पति इस कुएँ के स्वादरहित जल को प्रायः नहीं पीता है। देखो बहन, यद्यपि मैं एकाकिनी हूँ, और जिस तालाब का पानी लेने जा रही हूँ वहाँ तमाल के इतने घने वृक्ष हैं कि दिन में भी अन्धकार का साम्राज्य रहता है। और भी दिक्कत यह है कि वहाँ नरकट के ऐसे पुराने-पुराने वृक्ष लगे हुए हैं जिनमें तीखी गाँठें पड़ गई हैं। अतः उनके भीतर से पानी निकलना ख़तरे से खाली नहीं है, खैर, मुझे तो जाना ही है चाहे जिन-जिन मुसीबतों का सामना करना पड़े।"

इस प्रकार की ऊढा को प्रधान अंगी रस का विषय कभी भी नहीं रखना चाहिए। इस बात को केवल संक्षेप में बताया गया है। कन्या यद्यपि अविवाहित रहती है, फिर भी पिता, माता आदि के अधीन रहने के कारण परकीया कही जाती है। कन्या पिता आदि के वशीभूत होने से अलभ्य ही रहती है, फिर भी उसके माता-पिता आदि तथा अपनी स्त्री से छिपकर ही नायक उसके साथ प्रेम-व्यापार में प्रवृत्त होता है।[1] जैसे 'मालतीमाधव' में माधव का मालती से 'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज का रत्नावली (सागरिका) में प्रेम करना।

कन्या के अनुराग को प्रधान-अप्रधान दोनों रसों में बिना किसी रोक-टोक के स्वेच्छया वर्णन करना चाहिए। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में रत्नावली तथा 'नागानन्द' नाटिका में मलयवती का अनुराग-वर्णन।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥२२॥

सामान्य नायिका—गणिका को जो सामान्य नायिका कहते हैं। यह कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है ॥२१॥

---

१. 'मालती माधव' प्रकरण का नायक माधव अविवाहित है, अतः उसके लिए अपनी स्त्री से छिपकर प्रेम-व्यापार चलाने की बात ही नहीं उठती। 'रत्नावली' नाटिका के नायक में यह बात अवश्य घटित होती है।

इसके व्यवहार का अन्य शास्त्रों में विस्तृत वर्णन है। मैं केवल उसे संक्षेप में बता रहा हूँ--

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ॥२२॥

यह (गणिका) केवल धन से प्रेम करती है। छिपकर प्रेम करने वाले, जैसे पण्डित, बनिया, ब्रह्मचारी आदि, और आसानी से धन कमाने वाले मूर्ख, उच्छृंखल, पाण्डुरोगी, नपुंसक, इन लोगों से वह ऐसे हाव-भाव, आदि से प्रेम-प्रदर्शन करती है मानो वह वास्तव में अनुरक्त हो, और तब तक वह अपना प्रेम-व्यापार चलाती है जब तक उनके पास पैसा रहता है। धन ग्रहण करते-करते जब उनके पास कुछ भी नहीं रह जाता तब वह उनका अपमान करके घर से अपनी माता के द्वारा निकलवा देती है।

यह उसके स्वाभाविक रूप का वर्णन है ॥ २२ ॥

किन्तु प्रहसन को छोड़कर अन्य रूपकों में खास करके प्रकरण में वेश्या के वास्तविक प्रेम का ही वर्णन रहता है।

जैसे 'मृच्छकटिक' प्रकरण में वसन्तसेना और चारुदत्त का प्रेम ।

रक्तैव त्वप्रहसने नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसन में नायिका (वेश्या) यदि नायक में अनुरक्त न हो तो भी उसके प्रेम-व्यापार को दिखा सकते हैं, क्योंकि प्रहसन की रचना और उसका अभिनय हास्य के लिए ही होता है। पर नाटकों में जहाँ देवता, राजा आदि नायक हों वहां पर गणिका को नायिका रूप में कदापि नहीं रखना चाहिए।

अब नायिका के अन्य भेदों को बताते हैं—

आसामष्टावस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

इनकी स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएँ होती है—

१. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. खंडिता, ५. कलहान्तरिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषितपतिका और ८. अभिसारिका ॥ २३ ॥

ये आठ स्वीया, परकीया और सामान्य नायिका की अवस्थाएँ व्यवहार और दशा-भेद के अनुसार होती है। पहले बताये हुए सोलह प्रकार के भेदों को बताकर फिर नायिका की आठ अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उन-उन अवस्थाओं से युक्त नायिकाएँ इन-इन अवस्थाओं के धर्म से भी युक्त हुआ करती हैं। अवस्था-भेद बताने के समय किसी को उनके अधिक न्यून होने के सम्बन्ध में भ्रम न हो जाए, अतः स्पष्टीकरणार्थ आठ लिख दिया।

नायिका की ये आठों अवस्थाएँ एक-दूसरे से भिन्न हुआ करती हैं। उनका आपस में किसी के भीतर किसी का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। वासकसज्जा आदि को स्वाधीनपतिका के भीतर नहीं रख सकते, क्योंकि स्वाधीनपतिका का पति तो पास में रहता है और वासकसज्जा का पास नहीं रहता।

जिस नायिका का पति घर आने वाला हो (वासकसज्जा) उसे यदि स्वाधीनपतिका मानें तो प्रोषितप्रिया को भी स्वाधीनपतिका ही मानना पड़ जाएगा।

अपने पति के किसी भी प्रकार के अपराध के न जानने के कारण उसे खण्डिता भी नहीं कह सकते। रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त रहने के कारण उसे प्रोषितप्रिया भी नहीं कह सकते।

जो नायिका कामार्त्त हो पति के पास जाए अथवा उसे अपने पास बुलाए, उसे अभिसारिका कहते हैं, सो इन दोनों के अभाव में वह अभिसारिका भी नहीं है। इस प्रकार से विरहोत्कंठिता भी औरों से भिन्न है। पति के आने का समय वीत जाने से वह वासकसज्जा नहीं है। विप्रलब्धा भी वासकसज्जा आदि से भिन्न ही है। विप्रलब्धा का पति आने की प्रतिज्ञा करके भी नहीं आता, इससे वह वासकसज्जा और विरहोत्कंठिता से पृथक् ही हुई। कलहान्तरिता को भी यद्यपि अपने प्रियतम के अपराध की जानकारी रहती है फिर भी वह खंडिता से भिन्न ही हैं। क्योंकि कलहान्तरिता अपने द्वारा की गई प्रियतम की अवहेलना से बाद में स्वयं दुःखी होने लगती है जो बात खंडिता में नहीं पाई जाती। इस प्रकार से ये आठ नायिकाओं की अवस्थाएँ स्वतन्त्र हैं।

आसन्नयत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।

१. स्वाधीनपतिका—जिस नायिका का पति पास रहता है, और जो अपनी इच्छा के अनुरूप रमण करती है तथा जो सदा प्रसन्न रहा करती है, उसे स्वाधीनतपतिका कहते हैं।

जैसे—"एक के प्रिय ने उसके कपोल पर सुडौल पुष्पमंजरी अंकित कर दी थी। वह अपने प्रेम का यह विज्ञापन गर्व के साथ दिखा रही थी कि दूसरी ने कहा कि हे सखि, तू प्रिय की अपने-हाथों-अंकित मंजरी को इस प्रकार दिखाती हुई गर्व कर रही है यह उचित नहीं है, दूसरी कोई भी इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र बन सकती थी यदि हाथ की कँपकँपी बीच में ही विघ्न न कर देती।"

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये॥ २४॥

२. वासकसज्जा—उस नायिका को वासकसज्जा कहते हैं जो प्रसन्नता के साथ सब शृङ्गारों से सजकर प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है॥ २४॥

जैसे—माघ का यह पद्य—

"अन्य कोई रमणी हस्तपल्लव के आघात से मुखकमल को वायु को रोककर नाक के छिद्रों की ओर से उठने वाली मुख-सुगन्धि की परीक्षा कर प्रसन्न होने लगी।"

चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः।

विरहोत्कंठिता—विरहोत्कंठिता नायिका उसे कहते हैं जिसका पति निश्चित समय पर नहीं आता। इसे अपने प्रिय का कोई अपराध मालूम नहीं रहता। प्रिय के विरह में उससे मिलने के लिए इसका चित्त उत्कंठित रहता है।

जैसे—("कोई नायिका अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में रही, पर उसका पति समय से न आ सका। ऐसी हालत में वह अपने मन की बात अपनी सखी से कह रही है—) हे सखि, वे अभी तक न आ सके। मुझे तो ऐसी आशंका हो रही है कि वे निश्चय ही वीणा-वाद्य के द्वारा किसी रमणी ने एक रात के लिए उन्हें जीत लिया है और वही उसके साथ यह सुन्दर रात बिता रहे हैं, नहीं तो भला यह कैसे हो सकता है जो ऐसी सुन्दर रात्रि में, जबकि आकाश में सुन्दर चाँदनी छिटकी हुई है और शेफालिका के पुष्प नीचे बिखर रहे हैं, वे न आते।"

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २५ ॥

खण्डिता—उसे कहते हैं जो पति के शरीर में अन्य स्त्री के साथ किए गए संभोग के चिह्नों को देखकर जल उठे ॥ २५ ॥

जैसे—"कोई नायिका अपने पति के शरीर में परस्त्रीकृत संभोगचिह्नों को देखकर उससे कहती है—अन्य स्त्री के द्वारा किए हुए ताजे नखक्षत को तो कपड़े से ढककर छिपा रहे हो, उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी तुमने हाथों से ढक लिया है, पर यह तो बताओ कि परस्त्री के संभोग को व्यक्त करने वाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द-गिर्द फैल रहा है, भला उसको कैसे रोक सकोगे?"

कलहान्तरितामर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्।

कलहान्तरिता—उसे कहते हैं जो प्रियतम से क्षमा-याचना करते समय फटकार बैठे और बाद में अपनी करतूत पर पश्चात्ताप करे।

जैसे, कोई नायिका सोच रही है—पता नहीं, सखियों ने मान में कौन-सा ऐसा गुण था जो मुझे करने को कहा और मैं भी हतभागिनी उसे कर बैठी। अब क्या करूँ? प्रियतम ने आकर मुझे मनाया और जब मैं नहीं मानी बल्कि उलटे उसका तिरस्कार कर बैठी तो वह दुखी होकर चला गया। अब उसके वियोग में मेरी यह हालत है कि निःश्वास मुँह को जला रहा है, हृदय को मथ रहा है, निद्रा आ नहीं रही है, रात-दिन रो रही हूँ, अंग सूख गए हैं। न मालूम उस समय

मुझे क्या हो गया था जो सखियों की बातों में आकर पैर पड़े हुए प्रियतम की उपेक्षा कर बैठी ।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥ २६ ॥

विप्रलब्धा--उसे कहते हैं जिसका प्रियतम बताए हुए समय पर न आए । ठगे जाने के कारण उसे अपमान भी मालूम होता है अतः वह विमानिता या अपमानिता होती है ॥ २६ ॥

जैसे—कोई अपनी दूती से कह रही है—"दूती, उठ, अब मैं जा रही हूँ क्योंकि रात्रि का जो समय उसने आने के लिए तय किया था वह तो बीत गया, पर न आ सका, अतः यहाँ से अब चला जाना ही ठीक है । अब इतने बड़े अपमान-सहन के बाद भी जो जीती बच जाए बस वह उसी का प्राणनाथ होगा ।"

दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।

प्रोषितप्रिया—उसे कहते हैं जिसका पति कार्यवश विदेश चला गया हो ।

जैसे 'अमरुशतक' में--"कोई प्रेयसी अपने प्रियतम की बाट जोह रही थी। जहाँ तक आँख देख सकती थी उसने वहाँ तक देखा पर उसके प्रियतम की आहट न मिल सकी । निदान, खिन्न हो उठी क्योंकि पथिकों का आना-जाना भी बन्द हो चला था, सन्ध्या हो आई थी, दिशाओं में धीरे-धीरे अन्धकार का प्रसार हो रहा था । सो निराश हो उसने घर में प्रवेश पाने के लिए एक पैर बढ़ाया ही था कि उसके मन में यह बात आई कि प्रियतम कहीं आता न हो, फिर क्या था, उसने अपनी गर्दन को घुमाकर देखना आरम्भ कर दिया ।"

कामार्ताभिसरेत् कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥ २७ ॥

अभिसारिका--काम से आर्त्त (व्याकुल) हो जो स्वयं प्रियतम से मिलने जाए अथवा उसे पास बुलाए, उसे अभिसारिका कहते हैं ॥ २७ ॥

जैसे 'अमरुशतक' में—

कोई नायिका दूती के साथ सशंकित जा रही है । उसके इस व्यवहार से दूती फटकारती हुई कहती है—"यह तुम्हारा नखरा मुझे पसन्द नहीं, अरी भोली, यदि तुम्हे इस स्तब्ध निशा में भी किसी के देखने का भय ही है तो फिर नगाड़ा क्यों पीटती जा रही हो ? देखो छाती पर तुमने चंचल हार पहन रखा है, जघन के ऊपर कल-कल की ध्वनि करने वाली काञ्ची विराज रही है, और पैरों में झंकार करने वाले मणिनूपुर सुशोभित हो रहें हैं । अतः तेरे इस त्रासयुक्त देखने और सशंकित चलने आदि से क्या लाभ ?

जैसे और भी—"कोई नायिका प्रियतम के अभिसरण कराने (बुलाने) के लिए दूती को भेज रही है, और उससे कह रही है कि हे दूती, उनके पास जाकर

इस प्रकार से चतुराई के साथ मेरा संदेश जतलाना ताकि मेरी लघुता भी व्यक्त न होने पाए, साथ ही उनके मन में मेरे प्रति करुणा भी उत्पन्न हो जाए।"

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः॥ २८॥

इन उपर्युक्त आठ अवस्थावाली नायिकाओं में शुरू की दो अर्थात् स्वाधीन-पतिका और वासकसज्जा सदा प्रसन्न रहती हैं तथा शृंगारिक क्रीड़ा में लगी रहती है। इनको छोड़ शेष छः चिन्ता, निःश्वास, खेद, अश्रु, ग्लानि, वैवर्ण्य, आभूषणाभाव आदि से युक्त होती हैं॥ २८॥

परकीया नायिका की, वह चाहे ऊढा हो या अनूढा, इन अवस्थाओं में से केवल तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। शेष पाँच अवस्थाएँ इनकी नहीं होतीं, क्योंकि ये पराधीन होती हैं। परकीया नामिका संकेत स्थान पर चलने के पहले विरहोत्कंठिता रहती है, और बाद में विदूषक आदि के साथ अभिसरण करने से अभिसारिका तथा संकेतस्थल में दैवात् प्रियतम से यदि भेंट न हो सकी तो विप्रलब्धा हो जाती हैं। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में रानी के सामने राजा की परवशता देख मालविका कहती है—'हाँ, आज जो नहीं डर रहे हैं उन महाराज का साहस उस दिन देवी इरावतीजी के आने पर मैं भली-भाँति देख चुकी हूँ।'

यह सुनकर राजा कहते हैं—"हे बिंबा के समान लाल-लाल ओंठों वाली! प्रेमी लोग यों दिखाने के लिए सभी से प्रेम करते हैं। पर हे बड़ी-बड़ी आँखों वाली! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पाने की आशा पर लटके हुए है।" खण्डिता नायिका का पति जैसी अनुनय-विनय करता है वह बात यहाँ नहीं पाई जाती। यहाँ पर राजा का मालविका से इस प्रकार कहने का उद्देश्य है कि मालविका अपनी अबोधता के कारण राजा को हर तरह से रानी के अधीन समझ निराश न हो जाए। अतः उसके अन्दर विश्वास पैदा करना है।

मालविका परकीया है, अतः वह खण्डिता नहीं हो सकती, क्योंकि परकीया खण्डिता नहीं होती है, ऐसा नियम है। स्वकीया के सम्वन्ध से परकीया खण्डिता नहीं होती। यहाँ तो राजा दक्षिण नायक है जिसका पहली नायिका के साथ सहृदयतापूर्वक व्यवहार करना उचित ही हैं।

इसी प्रकार प्रियतम के परदेश में होने पर भी परकीया प्रोषितपतिका नहीं होती। समागम के पूर्व देश का व्यवधान परकीया और नायक के बीच रहा ही करता है। इसलिए वह मिलने के लिए उत्सुक विरहोत्कंठिता मात्र हो सकती है।

नायिका के कार्यों में सहायता पहुँचाने वाली दूतियाँ—

दूत्यो दासी सखी कारुर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः॥ २९॥

दासी सखी, धोबिन, घर के काम-काज करने वाली नौकरानियाँ, पड़ोसिन भिक्षुणी, चित्र आदि बनाने वाली स्त्रियाँ आदि जो नायक के सहायक मित्रोंके समान गुणवाली होती हैं, नायिका की दूतियाँ होती हैं ॥ २९ ॥

नायिका अपनी कार्य-सिद्धि के लिए स्वयं भी दूती बन जाती है। नायक के सहायक पीठमर्द आदि में जो गुण होते हैं उन्हें दूतियों के अन्दर भी रहना चाहिए। जैसे 'मालतीमाधव' प्रकरण में——

"उसे शास्त्रों के पूर्ण ज्ञान के ही अनुरूप सहज बोध है, गुणों में प्रगल्भता को प्राप्त उसकी वाणी है। समय की पहचान, प्रतिभा आदि और कार्यों में यथेच्छया फल प्राप्त कराने वाले गुण उसके अन्दर निवास करते हैं।"

सखी का उदाहरण—नायिका की सखी नायक के पास जाकर उलाहना देती है —

"मृगशावक के समान नेत्रवाली मेरी सखी को तुम्हारे वियोग में कितना ताप है यह कैसे बताऊँ, क्योंकि जो चीज़ प्रत्यक्ष नहीं रहती उसको बताने के लिए उपमा आदि की सहायता लेनी पड़ती है। बहुत सोचने पर एक वस्तु मेरी दृष्टि में आती है, वह है चन्द्रसम्बन्धिनी मूर्ति अग्नि में गिर पड़ने पर जिस दशा को प्राप्त कर सकती है वही दशा मेरी सखी की है। वह संसार-भर के नेत्रधारियों के लिए स्त्रीरूप में अमृत है, पर हाय! आज तुम्हारी शठता के कारण ब्रह्मा की वह सर्वोत्कृष्ट रचना बिगाड़ी जा रही है।"

और भी—

"ठीक है, तुम देखना जानती हो, तुम्हारा अपने सदृश जन (व्यक्ति) में अनुराग भी उचित ही है। तुम उसके प्रेम में मरो, मैं तो कुछ नहीं बोलूँगी क्योंकि उसके लिए मरना भी तेरे लिए श्लाघा का ही विषय होगा।" स्वयंदूती नायिका का उदाहरण—

ऐ रोकने वाले पवन! मेरे वस्त्रों को क्यों खींचते हो? खैर एक बार फिर आओ। हे सुन्दर! मेरा गाँव दूर है, मैं एकाकिनी ठहरी, अब तुम्हीं बताओ तो सही, तुम्हें छोड़ किसका आराधन करूँ?

नायिकाओं के अलंकार—

यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलंकारास्तु विंशतिः

युवावस्था में युवतियों के अन्तर सत्त्व से उत्पन्न बीस अलंकार उत्पन्न होते हैं।

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ॥ ३० ॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।

औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥ ३१ ॥

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा ॥ ३२ ॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।
निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥ ३३ ॥

इनमें भाव, हाव और हेला, ये तीन, अंगों से उत्पन्न होते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता औदार्य, धैर्य, ये सात भाव विना यत्न के ही पैदा होते हैं, इसीलिए इनको अयत्नज कहते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित तथा विकृत, ये दस भाव स्वभावज अर्थात् स्वभाव से पैदा होते हैं ॥ ३०-३३ ॥

नीचे इनके बारे में बताया जाता है—

भाव—जन्म से विकार-रहित मन में विकार के उत्पन्न होने को भाव कहते हैं।

विकार की सामग्री रहते हुए भी विकार का न पैदा होना सत्त्व (भाव) कहलाता है, जैसे—"इसी बीच अप्सराओं ने नाचना-गाना आरम्भ कर दिया, पर महादेवजी टस-से-मस न हुए, अपने ध्यान में ही लगे रह गए, क्योंकि जो लोग अपने मन को वश कर लेते हैं उनकी समाधि क्या भला कोई छुड़ा सकता है!" इस प्रकार के विकाररहित मन में पहले-पवल विकार के पैदा होने से इसका नाम भाव है। मिट्टी और जल के संयोग से बीज के अंकुरित होने को पहले बीज की जो दशा होती है, वैसी ही मन की दशा का नाम विकार है। इस प्रकार सर्व-प्रथम मन में आए हुए विकार का नाम भाव है—जैसे दृष्टि सालसतां विभर्ति" (पहले ही इसका अर्थ लिखा जा चुका है।) अथवा जैसे 'कुमारसम्भव' में—"कामदेव ने पार्वतीजी को पूजा करते देख जब भगवान् शंकर पर सम्मोहन नामक अचूक बाण का सन्धान किया, उस समय बाण लगते ही उनका मन चंचल हो उठा, और उसमें अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों का ताँता वैसे ही लग गया जैसे चन्द्रमा को देख समुद्र में लहरों का लग जाता है। निदान उन्होंने बिम्बाफल के समान लाल-लाल ओंठोंवाली पार्वतीजी के सुन्दर गालों पर अपने नेत्र डाल दिए।"

अथवा जैसे मेरा ही (धनिक का) पद्य—"वाणी जो पहले थी, वह आज भी है, नेत्रों और अवस्था में भी कोई परिवर्तन नहीं दीखता, पर इसके अंगों की युवावस्था सम्बन्धी शोभा कुछ और ही गुज़ार रही है।"

हेवाकसस्तु शृंगारो हावोऽक्षिभ्रू विकारकृत् ।

हाव—शृङ्गार के सहित अल्प बोलना और भौंहें तथा नेत्रों में कटाक्ष आदि विकारों के उत्पन्न हो जाने का नाम हाव है।

जैसे मेरा (अधिक का) ही पद्य—"वह जैसे ही कुछ विचित्र प्रकार से देखती है वैसे ही उसका बोलना भी कुछ विचित्रता लिए रहता है। हे मित्र, मेरी बातों पर ध्यान देकर स्नेह से भोली-भाली इस मुग्धा को ज़रा देखो तो सही।"

स एव हेला सुव्यक्तश्रृङ्गाररससूचिका ॥३४॥

हेला—कामवासना के भाव का अत्यन्त स्पष्ट अवगत होने लगने का नाम हेला है ॥३४॥

जैसे मेरा (धबिक का) ही पद्य—"नायिका के शरीर में स्तन के उठान के साथ-साथ इतना शीघ्र विभ्रम, विलास आदि भाधों का संचार हुआ कि उसकी सखियाँ बहुत देर तक उसके बालभाव के विषय में शंकित रहीं।"

इसके वाद अयत्नज सात भावों को उदाहरण के साथ वताते हैं—

शोभा—

रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम् ।

शोभा—रूप भोग और तारुण्य से अंगों के सौंदर्य के बढ़ जाने को शोभा कहते हैं।

जैसे—"श्रृंगार करने वाली सुहागिन स्त्रियों ने पार्वतीजी को स्नान आदि कराके कोहवर में ले जाकर पूरब की ओर मुँह करके बिठा दिया। श्रृंगार की सब वस्तुएँ पास में होने पर भी वे सब पार्वतीजी की स्वाभाविक शोभा पर ही इतनी मुग्ध हो गई कि कुछ देर तक तो वे सुधबुध भूलकर उनकी ओर एकटक निहारती हुई बैठी रह गईं।" इत्यादि; और जैसे 'अभिज्ञान' शाकुन्तल' में—

महराज दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में कह रहे हैं—

"मेरी दृष्टि में उसका रूप वैसा ही पवित्र है जैसा बिना सूँघा फूल, नखों से बिना काटे हुए पत्ते, विना विंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु, तथा बिना भोगा हुआ अखण्ड पुण्यों का फल। पर पता नहीं इस रूप के उपभोग करने के लिए ब्रह्मा ने किसे बनाया है।"

मन्नथामापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥३५॥

कान्ति—काम के विकार से बढ़ी हुई शरीर की शोभा को कान्ति कहते हैं ॥३५॥

(शोभा ही जब प्रेमाधिक्य से बढ़ जाती है तो उसे कान्ति कहते हैं।) जैसे नायिका के अंग सुख के अभिलाषी अन्धकार ने जब उसकें मुख के पास जाने की इच्छा की तो वहाँ से उसे नायिका के मुखचन्द की किरणों ने निकाल भगाया, उसके बाद जब वह उसके स्थूल कुचों के पास तथा हाथों के पास डेरा डालने के लिए गया तो वहाँ पर भी कुच और हाथों की कान्ति द्वारा दुत्कारा गया। इस

प्रकार हर जगह से तिरस्कृत वह अन्धकार मानो प्रकुपित हो केशों पर ही जाकर चिपक गया ।

इसी प्रकार कान्ति का उदाहरण बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का महाश्वेता वृतान्त भी है ।

अनुल्बणत्वं माधुर्यं

माधुर्य—जिस गुण के रहने से नायिका हरेक अवस्था में रसणीय मालूम होती है उसे माधुर्य कहते हैं ।

जैसे, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"सेवार से घिरे रहने पर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पड़ा कलंक भी उसकी शोभा को बढ़ाता है, वैसे ही यह रमणी वल्कल पहने हुए भी बड़ी सुन्दर लग रही है । वस्तुतः बात यह है कि सुन्दर शरीर पर हरेक वस्तु सुन्दर लगती है ।"

दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

दीप्ति--अत्यन्त विस्तार पाने पर कान्ति हीं दीप्ति कहलाती है ।

जैसे—"प्रार्थना करती हूँ । अरी अपनी मुखचंद्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार को दूर भगाने वाली ! प्रसन्न हो जाओ, मेरी बात मानकर अब आगे मत बढ़ो । हे हताशिनी तू अन्य अभिसारिकाओं को विघ्न पहुँचा रही है ।"

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यं

प्रागल्भ्य—साध्वस के अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं ।

(अर्थात्) मानशिक क्षोभ के साथ अंगों में अवसाद होने का नाम साध्वस है और उसके आभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं । जैसे मेरा ही पद्य—

"वह देखने में ती बड़ी लजीली और भोली मालूम पड़ती है पर सभा के अन्दर कला के प्रयोगों के पाण्डित्य में तो उसने आचार्य का स्थान प्राप्त कर लिया हैं ।"

औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥३६॥

औदार्य--सदा प्रेम के अनुकूल व्यवहार करनें का नाम औदार्य है ॥३६॥

चापलाविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

धैर्य—आत्मश्लाघा और चांचल्य-रहित मन की वृत्ति को धैर्य कहते हैं ।

जैसे 'मालतीमाधव' के निम्नलिखित पद्य में मालती की उक्ति है—

"प्रतिरात्रि नभ में चन्द्र पूरन हृदय वरु तापत रहै ।
अरु मृत्यु सों आगे करै कहा, मदन चाहे नित दहै ॥
मम इष्ट पावन परम, पितु औ मातु कुल कौ मान है ।
तिहि त्यागि बस चहिए न मोहि, प्रानस औ यह प्रान है॥"

प्रियानुकरणं लीला मधुरांगविचेष्टितैः ॥३७॥

लीला—नायिका द्वारा प्रियतम के शृङ्गारिक चेष्टाओं, वेशभूषा, बातचीत आदि के अनुकरण किए जाने का नाम लीला है ॥३७॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"उसका देखना, बोलना, बैठना आदि सब ठीक उसी प्रकार के होते हैं जैसे उसके प्रियतम का देखना, बोलना आदि उसके सौतों के साथ होता है।" अथवा जैसे—"उसका कहना, बोलना, गाना वैसा ही होता है जैसा इसका आदि।"

तत्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु ।

विलास—प्रियतम के आवलोकन आदि के समय नायिकाओं की आकृति, नेत्र तथा चेष्टाओं में जो विशेषता आ जाती है उसे विलास कहते हैं।

जैसे 'मालतीमाधव' में माधव, मालती के विषय में कहता है—

"इतने ही में जो कछु वाने करचो
कहिबे नहिं बैननि में चतुराई।
जय सील अनेक विलासिन कों,
प्रकटाइ छटा चहुँधा छिटकाई ॥
बहु सात्त्विक भाव सनी मिस काउके,
ऐसी अधीरजताई दिखाई।
वह बाल बड़ी-बड़ी आँखिनि की,
मनु मैनु महीप ने आपु पढ़ाई ॥"

विच्छित्ति—अल्प वेश-विन्यास के होते हुए भी नायिका के अंगो में अधिक कमनीयता के आ जाने का नाम विच्छित्ति है।

आकल्परचनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥३८॥

अर्थात् कान्ति जिससे अधिक चमत्कृत हो उठती है उसकी विच्छित्ति कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'कुसारसम्भव' में—"पार्वतीजी के कानों पर लटके हुये जौ के अंकुर तथा लोध से पुते तथा गोरोचना लगे हुए गोरे-गोरे गाल इतने सुन्दर लगे कि सबकी आँखें हठात् उनकी ओर खिंच जाती थी।"

विभ्रमास्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

विभ्रम—शीघ्रतावश आभूषणों को जहाँ पहनना चाहिए वहाँ न पहनकर अन्यत्र पहन लेना, इस प्रकार के आचरण को विभ्रम कहते हैं।

जैसे—"रात हो आई, चन्द्रमा निकल आया, यह देख नायिका ने शीघ्रतावश प्रिय से मिलने के लिए आभूषणों को पहनना आरम्भ कर दिया। इधर यह गहना पहन रही थी और उधर इसकी सखियाँ इसके प्रिय की दूती से बातचीत

करने में लगी थीं; सो प्रिय की बातों को सुनने के लिए इसने भी अपने मन और आँखों को उधर ही लगा दिया, निदान जो आभूषण जहाँ पहनना चाहिए था, उसे वहाँ न पहनकर अन्यत्र ही पहन बैठी, यह देख उसकी सखियाँ हँस पड़ीं।"

अथवा जैसा मेरा (धनिक का) ही पद्य—"नायिका आभूषणों से अपने अपने अंगों को सजा ही रही थी कि इतने में उसने सुना कि उसका प्रियतम बाहर आ गया है। बस क्या था, शीघ्र ही सज-धजकर तैयार हो गई। इस पर जल्दी करने का परिणाम यह निकला कि उसने भाल में अंजन, आँखों में महावर और कपोलों पर तिलक लगा लिया।

क्रोधाश्रु हर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चितम् ॥३९॥

किलकिञ्चित—उस अवस्था को कहते हैं जिसमें नायक के सम्पर्क से नायिका के अन्दर क्रोध, अश्रु, हर्ष, भय ये चारों मिले हुए पैदा होते हैं ॥३९॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

नायक अपने मित्र से कहता हैं—"रतिक्रीड़ा रूपी द्यूत में मैंने किसी प्रकार से मौका पाकर ना, ना आदि वाक्यों को कहने वाली नायिका के अधरों को तो काट ही लिया। मेरे इस व्यवहार से पहले तो उसने भौंहों को चढ़ाया फिर कुछ लज्जा का अनुभव किया और उसके बाद थोड़ा-थोड़ा रोना भी आरम्भ कर दिया। इसके बाद उसके मुख पर ईषत् हास्य दिखाई दिए, इतने में क्या देखता हूँ कि वह फिर क्रोध से विचलित हो उठी।"

मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु।

मोट्टायित—प्रियतम-सम्बन्धी मनचाही कथावार्ता को सुनने तथा सोचते सोचते प्रिय के अनुराग में तन्मय (सराबोर) हो जाने का नाम मोट्टायित है।

जैसे 'पद्मगुप्त' काव्य के इस पद्य में—

"नायिका प्रिय के चित्र को देख रही थी, देखते-देखते उसके अनुराग में इतनी विभोर हो उठी कि उसने उस चित्र को ही प्रियतम समझ झट से लज्जा के मारे अपनी ग्रीवा को टेढ़ा कर लिया।"

अथवा जैसे—"ऐ भोली, हृदय में किसे रखकर रोमाञ्चित हो रही है, और सुन्दर अपांग प्रदेश, जिसमें कनीनिकाएँ जँभाई के कारण उल्लसित हो रही है, धारण कर रही है। और तो और, उसके कारण तेरी यह दशा ही आई है कि तू सोई हुई-सी, चित्रलिखी-सी कलामात्र अवशिष्ट, शून्य हो गई है। हे अपने-आप अपना विनाश चाहनेवाली ! लज्जा क्यों कर रही है ? साफ-साफ बता भी तो सही, मुझे तो ऐसा लगता है कि तेरे अन्दर छिपा हुआ काम ही तुझे अनेक प्रकार से सता रहा है।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

कोई दूती नायक से उसके प्रेम में मरनेवाली किसी नायिका के बारे में बताती है—'हे सुन्दर ! सखियों के मन में जब यह आता है कि उसके मन में छिपी हुई कामवासना को जरा उभार दिया जाए तो वे सब तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य आदि का वर्णन करना आरम्भ कर देती हैं। और जब तुम्हारा वर्णन आंरम्भ हो जाता है तो फिर क्या कहना ? उस चौड़ी पीठ और मोटे स्तनों वाली के अंग-प्रत्यंग में मरोड़ पैदा हो जाती है, जँभाई आने लगती है, और भुजाएँ बलयित हो जाती हैं। (दोनों हाथों के द्वारा अपने सीने को कसना यहाँ बलयित शब्द से अभिप्रेत है।)

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत् केशाधरग्रहे ॥४०॥

कुट्टमित—सम्भोग में प्रवृत्त होते समय केशग्रहण और अधरक्षत के कारण भीतर से प्रसन्न होते हुए भी ऊपर से नायिकाओं द्वारा जो कोप का प्रदर्शन होता है उसे कुट्टमित कहते हैं ॥४०॥

जैसे—

"हाथों के अग्रभाग अर्थात् अँगुलियों से रोके जाते रहने पर भी प्रियतम के द्वारा ओंठो के काट लिए जाने से झूठमूठ का रुदन और सीत्कार करने वाली नायिकाओं की जय हो, जिनका इस प्रकार का सीत्कार रतिरूपी नाटक के विभ्रम का नांदी पाठ है अथवा कामदेव का महत्वपूर्ण आदेश है।"

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया।

बिब्बोक—गर्व और अभिमान से इच्छित वस्तु के अनादर करने को बिब्बोक कहते हैं।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"मैंने भौंहो को तानकर अनादर के साथ प्रियतम को जो देखा और इस प्रकार से जो उसकी अवहेंलना कर दी, इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा भी मनोरथ चरितार्थ न हो सका। अरी, मैंने भी तो हद कर डाली। केवल भौंहों का तरेरना ही तक किया होता सो भी नहीं। मैंने बहाने से क्रोध के आवेश में तिलक और केशों को हाथों से बिखेर दिया और भावावेश में अनेक बार अपनी नीली साड़ी के आँचल को स्तनों पर से उठाया और रखा।"

सुकुमाराङ्गविन्यासो समसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

ललित—कोमल अंगों को सुकुमारता के साथ रखने का नाम ललित है ॥४१॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"उसका भौंहों को नचाकर किसलय सदृश अँगुलियों को इधर-उधर घुमाकर बोलना, और लोचन के अंचलों से अति मधुर देखना, तथा स्वच्छन्दता के साथ जाते हुए कमलवत् चरणों का रखना आदि देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह कमलनयनी चढ़ती हुई जवानी के द्वारा बिना संगीत के ही नचाई जा रही है।"

प्राप्तकालं न यद्ब्रूयाद्व्रीडया विहृतं हि तत् ।

विहृत—उपयुक्त अवसर के पाने पर भी लज्जा के कारण न बोल सकने का नाम विहृत है।

जैसे—

"पल्लव सदृश कान्तिवाले पैर के अंगूठे से धरती को खोदती हुई और उसी बहाने कालिमा से चित्रित अपने चंचल नेत्रों को मेरे ऊपर फेंकती हुई, लज्जा से नम्र मुखवाली, तथा बोलने की चाह से फड़कते हुए अधरोंवाली प्रियतमा सामने खड़ी होते हुए भी लज्जा के कारण जो-कुछ न बोल सकी, ये सब बातें स्मृति-पथ में आते ही हृदय को कुरेदने लगती हैं।"

इसके बाद नेता के अन्य कार्य-सहायकों को बताते हैं—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२॥

अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्र की देखभाल आदि मामलों में राजा के सहायक मन्त्री हुआ करते हैं कहीं राजा स्वयं अकेले कार्यभार वहन करता है। कहीं राजा और मन्त्री दोनों तथा कहीं मन्त्री ही ॥४२॥

मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः ।

ऊपर बताये हुए नायकों में से धीरललित नायक अर्थसिद्धि के लिए मन्त्रियों पर अवलम्बित रहा करता है। अन्य नायकों (धीरोदात्त, धीरशान्त और धीरोद्धत) में कहीं राजा, कहीं मन्त्री और कहीं दोनों कार्यभार वहन करते हैं।

इनके लिए (धीरोदात्त, धीरशान्त, धीरोद्धत के लिए) कोई खास नियम नहीं है कि अमुक नायक का सहायक मन्त्री हो, अथवा स्वयं राजा हो अथवा आप भी हो और मन्त्री भी।

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

राजा के धार्मिक कार्यों में सहायता पहुंचानेवाले ऋत्विक्, पुरोहित, तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हुआ करते हैं।

वेद के पठन-पाठन करनेवाले और उसके व्याख्याता को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। पुरोहित आदि के अर्थ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके अर्थ तो स्पष्ट ही हैं।

दुष्टों के दमन करने को दण्ड कहते हैं।

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

राजा के दण्डकार्यों में सहायता पहुँचानेवाले मित्र, कुमार, आटविक (सीमारक्षक) सामन्त और सैनिक होते हैं।

ये प्रत्येक अपने-अपने अनुरूप कार्यों में लगाए जाते हैं अर्थात् जो जिस कार्य के योग्य होता है वह उस कार्य में राजा की सहायता पहुँचाया करता है।

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४॥
म्लेच्छाभीरशकाराद्यः स्वस्वकार्योपयोगिनः।

अन्तःपुर में क्लीब (नपुंसक) किरात, गूँगा, बौना, म्लेच्छ, अहीर, शकार, ये सब सेवा करने के लिए रहते हैं। इनमें जो जिस कार्य के उपउक्त होता है उसे वह कार्य करने को दिया जाता है ॥४४॥

शकार राजा का साला हुआ करता है। वह निम्न जाति का हुआ करता है। (यह राजा के निम्नजातिवाली पत्नी का भाई होता है।)

ज्येष्ठयध्याधमत्वेन सर्वेषा च त्रिरूपता ॥४५॥
तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता।
एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ॥४६॥

पहले बताये हुए नायक-नायिका, दूत-दूती, पुरोहित, मन्त्री आदि के उत्तम मध्यय और अधय, इनके प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं। यह जो उत्तम, मध्यय और अधम भेद है वह गुणों की घटती-बढ़ती को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है, किन्तु गुणाधिक्य को ध्यान में रखकर किया गया है ॥४५-४६॥

अव ऊपर बताये हुए नायक के व्यवहार बताते हैं—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी।

नायक और नायिका के व्यवहार को वृत्ति कहते है। यह चार प्रकार की होती हैं—१. कैशिकी, २. सात्वती, ३. आरभटी और ४, भारती।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥४७॥

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें नायक, नायिका का व्यवहार गीत, नृत्य, विलास तथा शृङ्गारिक चेष्टाओं (काम की इच्छा से युक्त चेप्टाओं) के द्वारा सुकुमारता को प्राप्त हुआ करता है ॥४७॥

नर्मतत्स्फञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैःदृश्चतुरङ्गिका।
वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥४८॥

कैशिकी के चार भेद होते हैं—१. नर्म, २. नर्मस्फिज्ज, ३. नर्मस्फोट और ४. नर्मगर्भ।

१. नर्म—प्रिय को प्रसन्न करनेवाली चातुर्य से युक्त क्रीड़ा को नर्म कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—१. हास्य नर्म, २. सहास्य शृङ्गार नर्म और ३. सहास्य भय नर्म। इसमें सहास्य शृंगार नर्म के भी तीन भेद होते हैं—१. आत्मोपक्षेप नर्म, २. सम्भोग नर्म और ३: मान नर्म। सहास्य भय नर्म के भी दो भेद होते हैं—१. शुद्धभय नर्म, और २, शृंगारान्तर्गत भय नर्म।

हास्येनैव सशृंगारभयेन विहितं त्रिधा।

भय नर्म या सहास्य भय नर्म के भी शुद्ध और शृङ्गारान्तर्गत भयनर्म, ये दो भेद होते हैं

आत्मोपक्षेपसंभोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९ ॥

फिर ये वाणी, वाणीवेष और चेष्टा इनके द्वारा तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥ ५० ॥

इस प्रकार सब मिलाकर कुल १८ भेद होते हैं ॥ ४८-५० ॥

प्रियजन को प्रसन्न करने के लिए किये गए परिहास का नाम नर्म है। इसमें ग्राम्य परिहास का होना निषिद्ध है। यह १. शुद्ध हास्य, २. सहास शृङ्गार और सहास भय, इनके द्वारा तीन प्रकार का होता है। इसमें दूसरे का स्वानुराग निवेदन (अपने प्रेम का प्रकाशन) सम्भोगेच्छा प्रकाशन (अपनी सम्भोग की इच्छा को व्यक्त करना), सापराध प्रिय प्रतिभेदन (अपराध करके आए हुए नायक का भन्डाफोड़ करना) इन भेदों से तीन प्रकार का होता है।

इसमें वाणी द्वारा उत्पन्न हास्यनर्म का उदाहरण—"पार्वतीजी के चरणों में सखी जब महावर लगा चुकी तब उसने ठिठोली करते हुए आशीर्वाद दिया कि भगवान् करे इन पैरों से अपने पति के सिर की चन्द्रकला को छूओ। इस पर पार्वतीजी मुँह से कुछ न बोलीं पर उन्होंने एक माला उठाकर (धीरे से) उसकी पीठ पर जड़ दी।

वेषनर्म का उदाहरण 'नागनन्द' नाटक में विदूषक शेखरक की वेशभूषा आदि का वर्णन।

क्रियानर्म का उदाहरण—'मालविकाग्निमित्र' नाटक में स्वप्न देखते हुए विदूषक को डराने के लिए निपुणिका द्वारा उसके ऊपर डण्डे का फेंका जाना ताकि वह सर्प समझकर चौंक उठे।

इस प्रकार वाणी, वेश, चेष्टा आदि के द्वारा हुए और भेदों को भी समझ लेना चाहिए।

अब सहास शृङ्गारनर्म के भेदों का उदाहरण देखिए—

आत्मोपक्षेपनर्म, जैसे—गरमी का दिन है, कोई पानी पिलाने वाली स्त्री प्याऊ पर बैठी है। इतने में गरमी और रास्ते से क्लान्त और श्रान्त एक पथिक पानी पीने की इच्छा से वहाँ आता है, उसे देख प्रपापालिका (प्याऊवाली) कहने लगती है—"हे बटोही, दोपहरी यहीं बिताइए, पसीना सूख जाने दीजिए, थोड़ी देर रुककर जल पीजिए। हे पथिक, मैं यहाँ अलेली हूं, यह सोचकर आप यहाँ से चले न जाइए। यह मेरा पनीसरावाला घर बहुत ठण्डा है, अतः यहीं आपका रुकना हर तरह से आरामदायक होगा। साथ-ही साथ यहीं से बैठे-बैठे कामदेव के वाणों से त्रस्त अपनी प्रियतमा का भी ध्यान कर सकते हैं, क्योंकि आपके मन को लुभाने में शायद पानी पिलानेवाली समर्थ न हो सके।"

सम्भोगनर्म, जैसे—"अभी सूर्य दिखाई ही दे रहे थे कि गृहिणी ने अपने पति को पकड़कर उसकी इच्छा की परवा किए बिना ही हँसती और हँसती हुई पैरों को दवाने लगी।

माननर्म—जैसे कोई शठनायक किसी से रमण कर किसी दूसरी नायिका के पास 'तुम मेरी प्रिया हो' इत्यादि कहता हुआ पहुँचा। नायिका ने उसके शरीर पर दूसरी स्त्री की साड़ी आदि को (नायक जल्दी-जल्दी में साड़ी ही पहन कर चल दिया था) देख फटकारना शुरू कर दिया—'तुम मेरी प्रिया हो' यह आपका कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि यदि मैं आपकी प्रिया न होती तो आप अपने प्रियजन योग्य (दूसरी नायिका के पहने हुए वस्त्र) इस साड़ी को पहनकर न आए होते। बात ठीक भी है, कामीजन का अपने को आभूषण आदि से सुसज्जित करना प्रियजन के देख लेने मात्र से ही चरितार्थ हो जाता है।"

भयनर्म—जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में चित्र देख लेने के बाद सुसंगता कहती है—"हाँ मुझे चित्र के साथ-ही-साथ सारी बातें मालूम हो गईं। अब तो मैं जाकर देवी से यह बात कहूंगी", इत्यादि।

शृङ्गारान्तर्गत भयनर्म—"अपने अपराध के व्यक्त हो जाने पर नायक ने अपनी नायिका को प्रसन्न करने के लिए अनेक उपायों का सहारा लिया पर जब किसी से भी सफलता न मिल सकी तो बहुत सोचने पर एक उसके मन में आया कि इसको भयभीत किया जाए, सो वह लगा कहने 'देखो यह पीठ-पीछे क्या है?' इस प्रकार से नायिका को भयभीय करके झट मौका पाकर वह शठ नायक मन्द-मन्द मुस्कान करने वाली प्रिया का आलिंगन कर रहा है।"

नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमे

नर्म स्फिञ्ज—नायक नायिका के प्रथम समागम को नर्मस्फिञ्ज कहते हैं जिसका आरम्भ सुख के साथ तथा भय लिये हुए होता है।

जैसे, 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में संकेत-स्थल पर आई हुई नायिका (मालविका) से नायक (राजा) का यह कथन—

'हे सुन्दरि, मेरे गले लगने से मत डरो। कितने दिनों से मैं तुमसे मिलने के लिए व्याकुल था। हे प्यारी आओ, और आकर मुझसे वैसे ही लिपट जाओ जैसे माधवी लता आम से लिपट जाती है।''

इसके बाद मालविका राजा से कहती है—''मुझे महारानी से बड़ा डर लगता है, अतः चाहते हुए भी ऐसा नही कर सकती।'' इत्यादि।

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ॥ ५१ ॥

नर्म स्फोट—अल्प भावों से अल्प रस के प्रकट होने का नाम नर्म स्फोट है॥ ५१ ॥

जैसे 'मालतीमाधव' में मकरन्द माधव की दशा का वर्णन करता है--

चलत में यह अति ही अलसात।
देह न करति वृष्टि सुखमा की सूनी सृष्टि लखात॥
चिन्तातुर सो सांस भरत छिन–छिन दूनी दरसावै।
कारन का, यहि के सिवाय कछु और समझ नहिं आवै॥
अवस रही फिरि भुवन-भुवन में मनमथ विजय दुहाई।
जोर मरोर भरी जोबन नदि यहि तन में उमड़ाई।
प्रकृति मधुर रमनीय भाव जब जोबन ज्योति प्रकासैं॥
बरबस मन बस करत धीरता धीरज हू को नासैं॥

यहाँ पर माधव के गमन आदि से प्रकट होने वाले थोड़े भावों से मालती के विषय में उसका अनुराग थोड़ी मात्रा में सूचित होता है।

नर्मगर्भ—

छन्ननेत्रप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।
अंगैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्र कैशिकी॥ ५२ ॥

कार्यसिद्धि के लिए नायक के गुप्त व्यवहार को नर्मगर्भ कहते हैं। यह कैशिकी वृत्ति का अन्तिम चौथा भेद है। इसके भी दो भेद होते हैं—सहास्य और निर्हास्य॥ ५२ ॥

जैसे 'अमरुशतक' में—एक आसन पर अपनी दोनों प्रेमिकाओं को बैठा देख, कामक्रीडा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँख मूँदकर अपने कन्धे को

ज़रा मोड़कर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका को आनन्द से चूम रहा है ।

और जैसे 'प्रियदर्शिका' के गर्भाङ्क में वत्सराज का वेश धारण करके आई हुई सुसंगता के स्थान पर पास ही में स्वयं वत्सराज का आ जाना ।

सात्त्वती—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥ ५३ ॥

नायक के शोकरहित सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और आर्जवयुक्त व्यापार को सात्त्वती वृत्ति कहते हैं । इसके संलापक, उत्थापक, सांघात्य और परिवर्त्तक, ये चार भेद होते हैं ॥ ५३ ॥

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः

संलापक—नाना प्रकार के भाव और रसों से युक्त गम्भीर उक्ति को संलापक कहते हैं ।

जैसे राम 'महावीरचरित' नाटक में परशुराम से कहते हैं—

"निश्चय ही यह वह फरसा है जो सपरिवार कार्तिकेय के जीते जाने पर भगवान् शंकर के द्वारा हज़ार वर्ष तक शिष्य बने हुए आपको प्रसाद रूप में दिया गया था ।"

यह सुनकर परशुराम बोलते हैं—

"हे राम तुम्हारा कथन सत्य है, यह मेरे गुरुदेव शंकर का प्यारा वही परशु है ।

"शस्त्र-परीक्षा के दिन वनावटी युद्ध में गणों से घिरे हुए कुमार कार्त्तिकेय को मैंने हराया, इससे प्रसन्न हो गुणों के प्रेमी भगवान् शंकर ने प्रसाद रूप में इसे मुझे प्रदान किया ।" इत्यादि । नाना प्रकार के भावों और रसों से युक्त राम और परशुराम की गम्भीर युक्ति-प्रयुक्ति संलापक है ।

उत्थापक—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत् परम् ॥ ५४ ॥

युद्ध के लिए जहाँ नायक शत्रु को ललकारे, ऐसे स्थल पर उत्थापन होता अर्थात् नायक के द्वारा युद्ध के लिए शत्रु के ललकारने को उत्थापन कहते हैं ॥ ५४ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—

"हे राम, तेरा दर्शन मेरे लिए आनन्दप्रद हुआ, अथवा आश्चर्योपादक हुआ, या दुःख देने के लिए हुआ, कुछ समझ में नहीं आ रहा है । पता नहीं क्यों मेरे जैसे नीरस के नेत्रों में भी तुझे देखते रहने की इस प्रकार की उत्कट तृष्णा

पैदा हो गई है ! खैर मेरी तकदीर में तेरी संगति का सुख नहीं बदा है, अतः प्रसिद्ध पराक्रमी परशुराम के जीतने के लिए तेरी भुजाओं में मेरा यह धनुष प्रेरणा संचार करे ।"

सांघात्य—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

मंत्र, धन या दैवी शक्ति के सहारे किसी संघटना में फूट पैदा कर देने का नाम सांघात्य है ।

मंत्र-शक्ति द्वारा फूट पैदा कर देना ।

'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य का अपनी बुद्धि के द्वारा राक्षस के मित्रों में फूट पैदा कर देना ।

अर्थशक्ति, जैसे—वहीं पर (मुद्राराक्षस नाटक में) पर्वत के आभूषण को राक्षस के हाथ में पहुँचाकर मलयकेतु के साथ फूट पैदा करा देना ।

दैव-शक्ति का उदाहरण—रामायण में राम का रावण से विभीषण को फोड़ लेना ।

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात् परिवर्तकः ॥ ५५ ॥

परिवर्तक— प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड़ दूसरे कार्य के आरम्भ कर देने को परिवर्तक कहते हैं ॥ ५५ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में—परशुराम कहते हैं कि "हे राम, गणेश के मूसल के समान दाँतों से चिह्नित तथा स्वामी कार्त्तिकेय के तीक्ष्ण शरों के प्रहार के व्रण से सुशोभित मेरी छाती तेरे जैसे अद्भुत पराक्रमशाली के मिलने से रोमांचित हुई (तेरा) आलिंगन चाहती है ।" यह सुनकर राम कहते हैं—

"भगवन् ! आलिंगन तो प्रस्तुत व्यापार (युद्ध) के विरुद्ध है ।" इत्यादि ।

सात्त्वती के बाद आरभटी वृत्ति को बताते हैं—

इस वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति, प्रस्ताव आदि बातें होती हैं ।

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ ५६ ॥
संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

अवास्तविक वस्तु को मंत्र के बल से दिखलाने आदि को माया कहते है । इसके चार भेद होते हैं—१. संक्षिप्ति, २. संफेट, ३. वस्तूत्थापन, और ४. अवपात ॥ ५६ ॥

संक्षिप्ति—

संक्षिप्पवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥ ५७ ॥

पूर्वनेतृनिवृत्त्यान्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः।

शिल्प के योग से संक्षिप्त वस्तु-रचना को संक्षिप्ति कहते हैं। कुछ लोगों के मत में प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना संक्षिप्ति है॥ ५७॥

मिट्टी, बाँस पत्तों और चमड़ों आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन अर्थात् वस्तु के तैयार हो जाने का नाम संक्षिप्ति है। इसका उदाहरण है बाँस का बना हाथी।

दूसरे लोग नायक की एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था के आने को संक्षिप्ति बतलाते हैं।[1] जो लोग प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति की परिभाष बताते हैं, उनके अनुसार इसका उदाहरण है वालि का निधन हो जाने पर सुग्रीव का नायक बनाना। और जो लोग एक अवस्था की निवृत्ति के बाद दूसरी अधस्था के आने का नाम संक्षिप्ति बताते हैं उनके अनुसार इसका उदाहरण है—'महावीरचरित' में परशुराम का उद्धतता का त्यागकर शान्तभाव का ग्रहण करना।

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः॥ ५८॥

संफेट—दो क्रुद्ध व्यक्तियों में एक की दूसरे के प्रति जो गाली-गलौज होती है उसे संफेट कहते हैं।

जैसे, 'मालतीमाधव' में माधव और अघोर घण्ट का और रामायण में वर्णित चरित्रों में से लक्ष्मण और मेघनाद का आपसी वाग्युद्ध आदि॥ ५८॥

वस्तूत्थापन—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते।

माया आदि से उत्पन्न वस्तु को वस्तूत्थापन कहते हैं।

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक में—

"विजयी होते हुए भी चमकती हुई सूई की सम्पूर्ण किरणें, पता नहीं कैसे, आकाशव्यापी अति सघन अन्धकार के द्वारा पराजित हो रही हैं। दूसरी तरफ भयानक कवन्धों के छेदों से निकले हुये रक्त को पी-पीकर पेट भर जाने से डकारने वाली और अपनी मुखरूप कन्दरा से आग उगलने वाली सियारिनों का करुण क्रंदन हो रहा है।"

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः॥ ५९॥

अवपात—निकलना, प्रवेश करना, भय पाना ओर भागना, ये बातें अवपात के भीतर पाई जाती हैं॥ ५९॥

---

१. ग्रन्थकार धनंजय का मत पहला है और वृत्तिकार धनिक का दूसरा है, अर्थात् एक नायक के बाद दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति है, यह ग्रन्थकार धनंजय का मत है और एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का आना, वृत्तिकार धनिक का मत है।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में, "अश्वशाला से बन्धन को तोड़कर यह बन्दर रनिवास में प्रवेश कर रहा है। इसके गले में सोने की टूटी हुई साँकल पड़ी हुई है। वह उसे नीचे की तरफ खींचता हुआ बढ़ रहा है। वह अपनी वानर जाति के अनुरूप जब क्रीड़ा (घुड़की देना आदि) करता है उस समय उसके पैरों में बँधी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ झंकृत होने लगती हैं। वह स्त्रियों को डराते हुए तथा अश्वशाला के रक्षकों से पीछा किए जाते हुए रनिवास में प्रवेश कर रहा है।"

और भी—"मनुष्य में गिनती जिनकी नहीं होती वे नपुंसक, लज्जा छोड़कर छिप गए, बौने डर के मारे कंचुकी के वस्त्र में छिपने लगे, किरातों ने भी अपनी जाति के अनुरुप ही कार्य किया, क्योंकि वे इधर-उधर (कोने में) तितर-वितर हो गए। और कुब्जे भी, बन्दर कहीं देख न ले इसलिए और नीचे झुक गए।"

'प्रियदर्शिका' में विन्ध्यकेतु पर किये गए आक्रमणकालीन कोलाहल भी इसका उदाहरण हैं।

एभिरंगैश्चतुर्धेयं नार्थवृत्तिरतः पराः
चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥६०॥
कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति।
पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥६१॥

[तीन वृत्तियों को बताया जा चुका है।] चौथी भारती वृत्ति का नाटकीय व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह केवल वाचक वृत्ति है। इन चारों के अलावा कुछ लोग एक 'अर्थवृत्ति' नाम की पाँचवीं वृत्ति मानते हैं। इसके माननेवाले उद्भट और उसके अनुयायी हैं। पर इस वृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता है। और यह हास्य आदि रसों में पैदा भी नहीं हो सकती, क्योंकि भारती के समान ही उसके होने से नीरसता स्वयंसिद्ध है। अर्थात् वाच्य होने के कारण भारती नीरस होती है क्योंकि रस तो व्यंग ही रहता है और उसी के समान ही इस पांचवीं को भी मानें तो वह भी भला हास्यादि रसों में कैसे रह सकेगी ?

साहित्य-शास्त्र में काव्य का व्यवहार रसवान् के ही लिए होता है नीरस के लिए नहीं होता; अतः तीन ही सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्ति मानना युक्तिसंगत है ॥ ६०-६१ ॥

कौन वृत्ति किस रूप में रहती है, इस बात को बताते हैं—

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६२॥

कैशिकी वृत्ति शृङ्गार रस में, सात्वती वीर रस में, आरभटी रौद्र और बीभत्स रस में तथा भारती वृत्ति सर्वत्र रहती है ॥ ६२ ॥

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥६३॥

नायक आदि देश के भिन्न होने से भिन्न वेश आदि में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् जिस देश के नायक आदि होंगे उसी देश की भाषा और वेश धारण करेंगे । पात्र जिस देश के नायक आदि का अभिनय करता है उसी देश की भाषा, वेश, क्रिया आदि का व्यवहार करता है । पात्र को लौकिक व्यवहार आदि ज्ञान के द्वारा इस बात की जानकारी प्राप्त कर जहाँ जैसा उचित हो वहाँ वैसा करना चाहिए ॥ ६३ ।

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिंगिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥६४॥
स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च ।

कौन पात्र किस भाषा का प्रयोग करे, अब इस बात को बताते हैं—श्रेष्ठ पुरुष, महात्मा, ब्रह्मचारी संस्कृत भाषा का प्रयोग करें । कहीं-कहीं महारानी, मन्त्री की लड़की और वेश्या भी संस्कृत में बोल सकती हैं । स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिए । अधम लोगों के लिए शौरसेनी भाषा उपयुक्त है ॥ ६४ ॥

प्रकृति कहते हैं संस्कृत को, अतः उससे पैदा होने के कारण देशी भाषाओं को प्राकृत कहते हैं । शौरसेनी और मागधी अपने स्थान पर ही होती हैं । अर्थात् शौरसेनी मध्यम और मागधी अधम लोगों को बोलनी चाहिए ।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥६५॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥६६॥

पिशाचों को पैशाची तथा अत्यन्त निम्नवर्ग के लोगों को मागधी बोलनी चाहिए । जिस देश का वह नीच पात्र हो उसको उसी देश की भाषा बोलनी चाहिए । कार्य आदि की दृष्टि से उत्तम लोगों को भाषा में भी व्यतिक्रम हो सकता है ॥ ६५-६६ ॥

बुलानेवाले तथा बोलनेवाले के, और औचित्य का ध्यान रखकर, बुलाने की बात, या कौन किसे किस शब्द से सम्बोधित करे यह बात बताते हैं—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिंगिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चाऽऽर्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥६७॥
रथी सूतेन चायुष्मान् पूज्यैः शिष्यात्मजानुजा ।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ॥६८॥

सज्जन लोग, विद्वान्, देव, ऋषि, ब्रह्मचारी, इन लोगों को 'भगवन्' कहके बुलावें और ब्राह्मण, मन्त्री तथा बड़े भाई को 'आर्य' कहके पुकारें। नटी और सूत्रधार आपस में एक-दूसरे को 'आर्य' और 'आर्या' कहके बुलावें। रथ हाँकने-वाला रथ पर चढ़े व्यक्ति को 'आयुष्मान्' कहके सम्बोधित करे। पूज्य लोग शिष्य, पुत्र, छोटे भाई, इनको वत्स और तात इन दोनों शब्दों में से किसी से पुकारें। और पूज्य लोग भी शिष्य आदि के द्वारा 'तात', 'सुगृहीतनामा' इन शब्दों से पुकारे जाएँ। पारिपार्श्विक सूत्रधार को भाव और सूत्रधार उसे मार्ष कहके बुलावे॥ ६७-६८॥

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च।
देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः॥६९॥

भृत्य राजा को देव और स्वामी कहे और अधम जन भट्ट कहें। नायक अपनी नायिकाओं को ज्येष्ठा, मध्यमा और अधमा को जैसा बुलाता हो वैसा ही बुलावे। विद्वान् और देवता आदि की स्त्रियाँ पति की तरह देवर से भी सम्बोधित की जाएँ॥ ६९॥

एक स्त्री दूसरी को क्या कहकर बुलाती है इस बात को स्पष्ट करते हैं—

आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः।
समा हलेति प्रेष्या च हञ्जे वेश्याऽज्जुका तथा॥७०॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते॥७१॥

अपनी सहेलियों को हला, प्रेष्या को हञ्जे, वेश्या को अज्जुका कहकर पुकारे। कुट्टिनी अम्बा, पूज्या और जरती इन शब्दों से पुकारी जाएँ। विदूषक रानी और चेटी दोनों को 'भवती' शब्द से बुलावे॥ ७०-७१॥

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावानशेषतो नेतृदशाविभिन्नान्।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा यो वा न
देवः शशिखण्डमौलिः॥७२॥

आचार्य भरत और भगवान् शंकर के अलावा ऐसा कौन होगा जो चेष्टा, गुण, सात्त्विक भाव और अगणित नायक और नायिकाओं की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने में समर्थ हो सके? अर्थात् इनके वर्णन में भगवान् शंकर और आचार्य भरत के अलावा अन्य कोई भी समर्थ नहीं॥ ७२॥

॥ धनञ्जय के दशरूपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त॥

कहने का तात्पर्य यह है कि संक्षेप में केवल एक रास्ता-भर दिखला दिया

गया है। अगर कोई चाहे तो इनका और भी विस्तार कर सकता है। लीला आदि को चेष्टा कहते हैं, विनय आदि को गुण कहते हैं। उदाहृतयः का अर्थ होता है संस्कृत और प्राकृत में बोलना। सत्त्व, विकार-रहित मन को कहते हैं। सात्त्विक भाव मन की प्रथम विकृत अवस्था को कहते हैं। इसी के द्वारा हाव आदि का ग्रहण होता है।

॥ विष्णु के पुत्र धनिक के दशरूपावलोक व्याख्या का नेतृ प्रकाश नाम का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

तृतीय प्रकाश

यद्यपि इस प्रकाश में रस का ही वर्णन होना चहिए क्योंकि वस्तु और नेता के वर्णन के बाद उसी का क्रम प्राप्त है, पर रस के विषय में बहुत कहना है इसलिए उसको छोड़ यहाँ (इस प्रकाश में) वस्तु, नेता और रस इनका पृथक्-पृथक् नटक में क्या उपयोग होता है इस बात की चर्चा करते हैं।

प्रश्न—रूपक के दस भेदों में से सर्वप्रथम नाटक को ही क्यों बताते हैं?

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयोरसपरिग्रहात् ।
संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१॥

उत्तर—नाटक ही सब रूपकों का मूल है, एक तो यह कारण है। दूसरी बात यह है कि इसी के भीतर रसों का प्राचुर्य रहता है। इसके अलावा तीसरा कारण यह है कि सम्पूर्ण रूपकों के लक्षण केवल इसीमें घटित होते हैं। इन्हीं कारणों से सर्वंप्रथम नाटक के ही भीतर वस्तु, नेता और रस का उपयोग बताते हैं ॥ १ ॥

पूर्वरंगं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

नाटक में में सर्वप्रथम पूर्वरंग होना चाहिए। पूर्वरंग के बाद सूत्रधार को आना चाहिए और उसके चले जाने के बाद उसी के ही समान किसी दूसरे नट को रंगमंच पर आकर अभिनेय काव्य-कथा की सूचना सामाजिकों को देनी चाहिए ॥ २ ॥

[नाटक की मुख्य कथा के आरम्भ से पहलेवाले सारे कृत्यों को पूर्वरंग कहते हैं। इसमें नाटचशाला की रचना आदि से लेकर देवस्तुति आदि सभी बातें आ जाती हैं।]

वृत्तिकार धनिक का कहना है कि पूर्वरंग तो हुई नाटचशाला और उसमें होनेवाला जो प्रथम प्रयोग है, उसके आरम्भ को पूर्वरंग कहते हैं। उसी पूर्व-रंगता का सम्पादन कर सूत्रधार के चले जाने के बाद उसके ही सदृश वैष्णव वेषधारी कोई दूसरा नट प्रवेश कर, जिसका अभिनय होनेवाला है, उस काव्य-कथा को सूचित करे। इस सूचना देनेवाले व्यक्ति को स्थापक कहते हैं, क्योंकि वह सूचना द्वारा काव्य-कथा को सूचित करता है।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ ३ ॥

स्थापक को यदि दिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो उसे दिव्य (देवता के) रूप से और यदि अदिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो मनुष्य वेश से, तथा यदि मिश्रवस्तु की सूचना देनी हो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके सूचना देनी चाहिए ।

यह सूचना चार बातों की होती है—१. वस्तु, २. बीज, ३. मुख और ४. पात्र ॥ ३ ॥

वस्तु की सूचना, जैसे 'उदात्तराघव' नाटक में,

"रामचन्द्र अपने पिता की आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य कर जंगल को चले गये । उनकी (राम की) भक्ति के कारण भरत ने अपनी माता के साथ अयोध्या के सम्पूर्ण राज्य को तिलाञ्जलि दे दी । सुग्रीव और विभीषण ने राम से मित्रता कर अत्यघिक सम्पत्ति पाई और घमण्ड में चूर रहने वाले रावण आदि सारे शत्रु शत्रुता रखने के कारण विनाश को प्राप्त हुए ।

बीज की सूचना का उदाहरण रत्नावली नाटिका का 'द्वीपादन्यस्मात्' श्लोक है जिसका अर्थ पहले ही बताया जा चुका है ।

मुख—जैसे, "घने, अन्धकार वाले वर्षाऋतु रूपी रावण को मारकर स्वच्छ चन्द्रमा का हास्य लिए हुए स्वच्छ-शरत्काल-रूपी राम प्रकटित हुए ।"

पात्र-सूचना—जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"तुम्हारे गीत के मनोहर राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया है जैसे वेग से दौड़ता हुआ यह हरिण राजा दुष्यन्त को ।"

रंगं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

अभिनेय काव्यकथा भी जिससे लक्षित होती हो ऐसे मधुर श्लोकों से सामाजिकों को प्रसन्न करता हुआ किसी ऋतु को लेकर भारती वृत्ति का आश्रय ले ॥ ४ ॥

उदाहरणार्थ—

"प्रथम समागम के अवसर पर भगवान् शंकर से आश्लिष्ट पार्वतीजी आप लोगों की रक्षा करें। पार्वती, जो पति के पास जाने की तैयारी कर चल चुकने के बाद भी नवोढ़ा अवस्था के अनुकूल स्वाभाविक लज्जावश रोक दी गई और फिर सखियों द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षा पाकर शिवजी के पास पहुँचा दी गई तथा वहाँ जाने पर शंकरजी के अपूर्व दर्शन से चकित हो रहीं और अनुरागवश उनके शरीर में रोमाञ्च हो आए । इस अवस्था को प्राप्त भगवान् शंकर द्वारा आलिंगित पार्वती आप लोगों की रक्षा करें ।"

भारती संस्कृतप्रायो वाग्यव्यापारो नटाश्रय :
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥ ५ ॥

भारती वृत्ति—नट का आश्रय करके होने वाले संस्कृतबहुला वाणी के व्यापार को भारती वृत्ति कहते हैं। अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें बातचीत संस्कृत में होती है और जो नट के आश्रित रहती है और जिकेमें वाणी की ही प्रधानता हीती है, अर्थ की नहीं।

इसके चार अंग होते हैं—१. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन और ४. आमुख ॥ ५ ॥

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्ररोचना—प्रस्तुत की प्रशंसा कर सामाजिकों के भीतर उत्कण्ठा जागृत कर देने का नाम प्ररोचना है।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सूत्रधार कहता है—

"मेरे सौभाग्य से नाटक में अपेक्षित सभी गुण एक ही साथ मिल गए। इनमें से एक-एक वस्तु भी वाञ्छित फल की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है और जब सब सब मिल जाएँ तो फिर क्या कहना ? देखो, इस नाटिका के रचयिता स्वयं महाराज हर्ष हैं। सामाजिक (दर्शक) भी गुणग्राही हैं और कथावस्तु का चुनाव भी अति उत्तम है। कारण यह है कि इसमें वर्णित वत्सराज उदयन का चरित्र भी लोगों के मन की चुरानेवाला (लुभानेवाला) सिद्ध हो चुका है तया इसका अभिनय भी हम लोगों जैसे चतुर अभिनेताओं द्वारा किया जा रहा है।"

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसंगेऽभिधास्यते ॥ ६ ॥

वीथी और प्रहसन के बारे में आगे चलकर जहाँ उसका प्रसंग आएगा, बताया जाएगा। वीथी के जो अंग हैं वही आमुख के भी हैं। अतः यहाँ पर आमुख होने के कारण बीथी के अंगों का वर्णन कर रहे हैं—

वीथ्यंगान्यामुखांगत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम् ॥ ७ ॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥ ८ ॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यांगानि त्रयोदश ।

प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक और विदूषक इनमें से किसी एक से बातचीत करता हुआ सूत्रधार का पाण्डित्यपूर्ण ढंग से रूपक के आरम्भ करा देने का नाम आमुख है। आमुख का ही दूसरा नाम प्रस्तावना भी है। आमुख के तीन अंग होते हैं—१, कथोद्घात, २. प्रवृत्तक और ३. प्रयोगातिशय। वीथी के तेरह अंग होते हैं। ॥ ७-८ ॥

स्वेतिवृत्तिसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥ ९ ॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः ।

कथोद्घात—अपनी कथा के ही सदृश सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या अर्थ को ग्रहण करके पात्र के प्रवेश होने का नाम कथोद्घात है। यह दो प्रकार का होता है। पहला वाक्य ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना और दूसरा वाक्यार्थ ग्रहण कर पात्र का प्रवेश करना ॥ ९ ॥

पहले का उदाहरण है—

द्वीपादन्यस्मादपि—

इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है।

वाक्यार्थ का उदाहरण, जैसे 'वेणीसंहार' में सूत्रधार कहता है—

"सन्धि के हो जाने से तथा शत्रुओं के नष्ट हो जाने के कारण जिनका अग्नि-रूपी द्वेष शान्त हो गया है, ऐसे पाण्डव भगवान् कृष्ण के साथ आनन्दपूर्वक विचरण करें और विग्रह-विहीन कौरव, जिन्होंने प्रेम-पूर्वक प्रजा-पालन से समस्त भूमण्डल को वशीभूत कर लिया है, वे भी अपने अनुचरों के साथ स्वस्थ होवें।"

इसके बाद पूर्व-कथित वाक्य के अर्थ को लेकर भीम का यह कहते हुए प्रवेश करना—

"जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाख (लाह) का घर बनाकर, विष-मिला भोजन देकर, छलने के लिए द्यूत का आयोजन करके, हम लोगों के प्राण और धन हरण करने की चेष्टा की, तथा जिन्होंने भरी सभा में हमारी स्त्री द्रौपदी के केशों और वस्त्रों को खींचा, वे मेरे जीते-जी स्वस्थ कैसे रह सकते हैं?"

प्रवृत्तक—

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात् प्रवृत्तकम् ॥ १० ॥

सूत्रधार के द्वारा ऋतु-विशेष वर्णन में समान गुणों के कारण जिसकी सूचना मिलती है उस पात्र के प्रवेश करने को प्रवृत्तक कहते हैं ॥ १० ॥

उदाहरण पहले दिया जा चुका है।

एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥ ११ ॥

प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार नटी से किसी प्रसंग की चर्चा करते हुए अभिनेय व्यक्ति का नाम लेकर संकेत करे कि 'अरे ये तो वे ही हैं' या 'उनके समान हैं' और उसके कथन के साथ ही उस व्यक्ति के अभिनय करने वाले पात्र का प्रवेश हो जाए उसे प्रयोगातिशय कहते हैं ॥ ११ ॥

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का—"एष राजेव दुष्यन्तः"

अब वीथी के अंगों को बताया जा रहा है—

उद्‌घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

वीथी के तेरह अंग होते हैं—(१) उद्‌घात्यक, (२) अवलगित, (३) प्रपंच, (४) त्रिगत, (५) छल, (६) वाक्केली, (७) अधिबल, (८) गण्ड, (९) अवस्यन्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार, (१३) मृदव ॥ १२ ॥

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्‌घात्यं तदुच्यते ।

१. उद्‌घात्यक—गूढ़ार्थ की पर्यायमाला (क्रम से एक के बाद दूसरे का आना) अथवा प्रश्नोत्तर शृंखला (ताँता) के द्वारा जो दो व्यक्तियों की बातचीत होती है उसे उद्‌घात्यक कहते हैं ॥ १३ ॥

प्रथम का उनाहरण, जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में—

"विदूषक—हे मित्र, वह कौन कामदेव है जो तुम्हें दुःख पहुँचाया करता है ? वह क्या पुरुष है अथवा स्त्री ?

राजा—मित्र ! मन से ही उसकी उत्पत्ति होती है, अतः मन ही इसकी जाति है ।

यह स्वच्छन्द रहता है और सुख में ही इस पर चला जाता है । स्नेह के इस प्रकार के ललित मार्ग को ही कामदेव कहते हैं ।

विदूषक—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके लिए काम ही हो जाएगा ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—अच्छी बात है, तब तो मैं जान गया, भोजनालय में मेरी भोजन करने की इच्छा का होना भी काम है ।"

दूसरे भेद का उदाहरण, जैसे 'पाण्डवानन्द' काव्य में—"गुणीजन किस वस्तु के होने से श्लाघनीय समझे जाते हैं ? 'क्षमा' । अनादर किसे कहते हैं ? 'जो अपने कुलवालों के द्वारा किया जाए ।' दुःख किसे कहते हैं ? 'दूसरे के वश में रहना ।' संसार में कौन प्रशंसनीय है ? 'जो विपत्ति में पड़े लोगों को आश्रय दे ।' मृत्यु किसे कहते हैं ? 'व्यसनों में फँसे रहने को ।' चिन्ता-रहित कौन है ? 'जिसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है ।' ऊपर कहे तथ्यों से युक्त कौन पुरुष है ? 'विराट् नगर में छिपे हुए पाँचों पाण्डव पुत्र ।'

यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥
प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।

अवलगित—(१) एक क्रिया के द्वारा जहाँ दो कार्यों की सिद्धि होती है, तथा (२) अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते कुछ अन्य किया जाए उसे अवलगित कहते हैं। इस प्रकार अवलगित दो प्रकार का होता है ॥ १४ ॥

उसमें पहले का उदाहरण, जैसे 'उत्तररामचरित' में गर्भिणी सीता को ऋषियों के आश्रम देखने की इच्छा होती है, पर इच्छा की पूर्ति के बहाने फैले हुए अपवाद के कारण वह लक्ष्मण के द्वारा छोड़ दी जाती हैं। दूसरे भेद का उदाहरण, जैसे 'छलितराम' में—"राम—लक्ष्मण ! पिता से रहित इस अयोध्या में विमान के द्वारा जाने में असमर्थ हूँ, अतः उतरकर पैदल ही चलता हूँ।

"अरे सिंहासन के नीचे पादुकाओं को आगे करके बैठा हुआ अक्षमालाओं तथा जटाजूटों से युक्त कौन पुरुष सुशोभित हो रहा है ?"

यहाँ भरत के दर्शनरूप कार्य की सिद्धि होती है।

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥१५॥

प्रपंच—असत्कर्मों के कारण आपस में हास्योत्पादक प्रशंसा करने का नाम प्रपंच है ॥ १५ ॥

असत्कर्म के अन्दर परस्त्रीगमन में निपुण होना आदि बातें आती हैं।

जैसे 'कर्पूर-मंजरी' में भैरवानन्द का यह कथन—"कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसको हमारा कौल धर्म पसन्द न आए ? रण्डा (विधवा), चण्डा अर्थात् प्रचण्ड पराक्रमशालिनी स्त्री ही तो हमारी शास्त्रविहित नारियाँ हैं। भिक्षाटन ही जीविका का साधन है। चर्म का टुकड़ा ही हमारी शैय्या है तथा मद्य और मांस ही हमारा पेय तथा खाद्य पदार्थ है।"

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वरंगे तदिष्यते ॥१६॥

त्रिगत—शब्दों का साम्य अर्थात् जहाँ एक उच्चारण से अनेक अर्थों की योजना होती है उसे त्रिगत कहते हैं। इसका आयोजन पूर्व रंग में नट आदि तीन पात्रों की बातचीत से होता है ॥ १६ ॥

जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में—"क्या यह फूलों का रस पीकर मदोन्मत्त भौंरों की गुंजार है, या कोयल की मस्तानी कूक ? अथवा आकाश में देवताओं के साथ आई हुई अप्सराओं की मीठी तान ?"

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।

छलन—ऊपर से देखने में जो प्रिय लगे, पर हो अप्रिय, ऐसे वाक्यों द्वारा लुभा करके छलने (ठगने) का नाम छलन है।

जैसे भीम-अर्जुन—"द्यूतरूपी कपट का निर्माता, लाख (लाह) निर्मित भवन में आग लगानेवाला, द्रौपदी के केश और वस्त्रों के अपहरण करने में वायु के समान पराक्रम दिखानेवाला, पाण्डव जिसके सेवक हैं और दुःशासन आदि सौ भाइयों में ज्येष्ठ कर्ण का मित्र दुर्योधन कहाँ है ?"

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥ १७ ॥

वाक्केली—इसके दो भेद होते हैं । पहले का लक्षण—प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाना या उसको बदल देने को वाक्केली कहते हैं ॥ १७ ॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में वासन्ती राम से कह रही है कि आपने जिस सीता से यह कहा था कि "तुम्हीं मेरा जीवन-सर्वस्व हो, तुम्हीं मेरा दूसरा हृदय हो, तुम्हीं मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो, और तुम्हीं मेरे अंगों के लिए अमृत हो, उसी सीता को इस प्रकार से सैकड़ों चाटुकारिता-भरी बातें करके और भरमा-कर उसकी जो दशा (आपके द्वारा) की गई उसका न कहना ही ठीक है ।"

वाक्केली का दूसरा लक्षण—दो-तीन व्यक्तियों की हास्ययुक्त उक्ति-प्रयुक्ति को वाक्केली कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावलीनाटिका' में—विदूषक—मदनिके ! मुझे भी यह चर्चरी सिखाओ ।

मदनिका—मूर्ख, इसे चर्चरी नहीं कहते, यह तो द्विपदी खण्ड है ।

विदूषक—अजी, तो क्या यह लड्डू बनाने के काम आता है ?

मदनिका—ऐसी बात नहीं है, यह पढ़ा जाता है ।

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।

अधिबल—दो व्यक्तियों का एक दूसरे की अपेक्षा बढ़-बढ़कर स्पर्धा के साथ बात करने को अधिबल कहते हैं ।

जैसे, 'वेणीसंहार' में अर्जुन का धृतराष्ट्र और गान्धारी के सामने अपना परिचय देते हुए यह कथन—

"जिसके बल पर आपके पुत्र सम्पूर्ण शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाए हुए थे, जिसके अहंकार से विश्व तिनके के समान तिरस्कृत हो चुका था, उसी कर्ण के सिर को युद्ध के बीच काटनेवाला यह पाण्डु का मध्यम पुत्र अर्जुन आप लोगों को प्रणाम करता है ।" इसके बाद भीम भी धृतराष्ट्र और गान्धारी को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

यहाँ से आरम्भ कर फिर दुर्योधन के इस कथन तक—"अरे नीच, मैं तेरे जैसा डींग हाँकनेवाला नहीं हूँ, किन्तु शीघ्र ही तेरे भाई-बन्धु तुझे समराङ्गण के बीच मेरी गदा से टूटी पसलियों के भयानक आभूषण से सुसज्जित देखेंगे ।"

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति बढ़-चढ़कर स्पर्धा के साथ वाग्युद्ध का होना ही अधिबल है।

गण्डः प्रस्तुतसंबन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥ १८ ॥

गण्ड—प्राकरणिक विषय से सम्बन्धित भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले त्वरायुक्त वाक्य को गण्ड कहते हैं ॥ १८ ॥

जैसे—'उत्तररामचरित' में "यह सीता घर की लक्ष्मी है, यह नेत्रों में अमृतशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन का रस के समान है और यह बाहु-गले पर शीतल और कोमल मुक्ताहार है। इसकी क्या वस्तु प्रियतर नहीं है ? परन्तु इसका वियोग तो बहुत ही असहनीय है।"

प्रतिहारी (प्रवेश कर)—महाराज, उपस्थित है।

राम—अरी कौन उपस्थित है ?

प्रतिहारी—महाराज का समीपवर्ती सेवक दुर्मुख।"

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्।

अवस्यन्दित—साफ़-साफ़ कहे हुए वाक्य का दूसरे ही प्रकार से दूसरी ही व्याख्या कर देने (लेने) को अवस्यंदित कहते हैं।

जैसे—'छलित राम' नाटक में "सीता लव और कुश दोनों लड़कों से कहती हैं—बेटा, तुम लोगों को कल अयोध्या जाना है। वहाँ जाकर राजा को नम्रता-पूर्वक प्रणाम करना।

लव—माताजी, क्या हम लोगों को भी राजा के आश्रित होकर रहना पड़ेगा ?

सीता—बच्चो, वे तुम लोगों के पिता हैं।

लव—क्या रामचन्द्र हम लोगों के पिता हैं ?

सीता--(सशंक होकर) केवल तुम्हीं दोनों के नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के पिता हैं।"

सोपहासा निगूढ़ार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥१९॥

नालिका—उपहासपूर्ण गूढ़ भाववाली पहेली को नालिका कहते हैं ॥ १९ ॥

जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक में, चर—अरे ब्राह्मण, कुपित मत होओ, सभी सब-कुछ नहीं जानते, कुछ तेरे गुरु जानते हैं और कुछ मेरे ऐसे व्यक्ति भी जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध के साथ) क्या तू गुरुजी की सर्वज्ञता नष्ट करना चाहता है ?

चर—अरे ब्राह्मण, यदि तेरा गुरु सब-कुछ जानता हूँ तो बताए चन्द्र किसको प्रिय नहीं है ?

शिष्य--मूर्ख, इन बेकार की बातों की जानकारी की क्या आवश्यकता ?

इन बातों को सुनकर चाणक्य समझ गया कि इसके (चर के) कहने का तात्पर्य यह है कि 'मैं चन्द्रगुप्त के शत्रुओं को जानता हूँ ।'

असंबद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः ।

असत्प्रलाप—असम्बद्ध बे-सिर-पैर की बात कहने को असत्प्रलाप कहते हैं ।

स्वप्न में बर्राते हुए की, पागल की, उन्मत की और शिशु आदि की कही हुई ऊटपटांग बातें इसमें आती है ।

जैसे—"वासुकि सर्प के मुँह में हाथ डालकर मुँह को फैलाकर विष से चित्रित दाँतों को अंगुली से छू-छूकर एक, तीन, नव, सात, छः इस प्रकार से क्रमरहित गिनी जाती हुई भगवान् स्वामि कार्तिकेय की बाल्यावस्था की तोतली बोली आप लोगों की रक्षा करे ।"

अथवा जैसे—"राजा हाथ जोड़कर हंस से कहता है—हे हंस, मेरी जिस प्यारी की चाल तुमने चुरा ली है उसे मुझे लौटा दो, क्योंकि चोर के पास यदि चोरी की हुई एक भी वस्तु मिल जाए तो उसे पूरे को लौटाना पड़ता है ।"

अथवा जैसे—कोई प्रलापी कह रहा है—

"मैंने पर्वतों को खाया है, मैंने अग्नि में स्नान भी किया है, इसके अलावा ब्रह्मा, विष्णु और शिव ऐसे पुत्रों को भी पैदा किया है । बस इसी खुशी में आनन्द के साथ नाच रहा हूँ ।"

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥२०॥

व्याहार—दूसरे की प्रयोजन-सिद्धि के लिए हास्यपूर्ण और लोभजनक वचन बोलने को व्याहार कहते हैं ॥ २० ॥

जैसे 'मालविकाग्निमित्र' में लास्य के प्रयोग के बाद मालविका जाना चाहती है, उसको जाते देख विदूषक कहता है—अभी नहीं, थोड़ी देर रुकके उपदेश सुनकर जाओ । यहाँ से शुरू करके [गणदास और विदूषक के उत्तर-प्रत्युत्तर पर्यन्त] गणदास विदूषक से कहता है—आर्य, यदि आपने इनके इस कार्य में कोई क्रमभेद पाया हो तो कहिए ।

विदूषक—सर्वप्रथम ब्राह्मण की पूजा का विधान है, इसका अवश्य इन्होंने उल्लंघन किया है ।

यह सुनकर मालविका हँसने लगती है । यहाँ पर हास्य और लोभकारी वचन कहे जाने का मुख्य उद्देश्य नायक को विश्रब्ध नायिका का दर्शन कराना है, अतः यह व्याहार है ।

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

मृदव—जहाँ दोष को गुण और गुण को दोष समझा जाता हो ऐसे वर्णन को मृदव कहते हैं ।

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में सेनापति महाराज दुष्यन्त से कहता है--महाराज, यह व्यर्थ की बात करता है। महाराज आप स्वयं इस आखेट का गुण देख ही रहे हैं—

"आखेट से चर्बी घट जाती है, तोंद छोटी हो जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है (चुस्ती आ जाती है), पशुओं के मुँह पर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान होता है, और चलते हुए लक्ष्यों पर वाण चलाने से हाथ सध जाता है। लोग व्यर्थ में ही आखेट को बुरा कहते हैं। भला इतना मनोविनोदन और कहाँ मिल सकता है ?"[1]

और भी जैसे—"इस विजेता राजा पर तो ज़रा दृष्टिपात करिए, इसका चित्त राज्य आदि के झंझटों में पड़कर सर्वदा अशान्त बना रहता है और यह अनेक प्रकार के परिश्रम के कारण कष्ट सहता रहता है। चिन्ता के मारे इसे रात को भरपेट नींद भी नहीं आती। यह राज्य के मामलों में इतना सशंक रहता है कि किसी पर विश्वास नहीं करता।"

यहाँ राज्य के गुण को दोष-रूप में वर्णन किया गया है।

अब एक ही पद्य में दोनों बातें अर्थात् दोष को गुण और गुण को दोष बताया जाता है—

"सदाचार का पालन करनेवाले महात्मा लोग सर्वदा आपत्तियों में ही पड़े रहते हैं। और सदा इस बात से सशंकित रहते हैं कि कहीं कोई उनके चरित्र में दोष न निकाल दे। उनका जीवन ही सतत परोपकारपरायण रहने के कारण दुःखमय बना रहता है। इससे तो अच्छा साधारण पुरुष का जीवन है—मूर्खों को, कुछ अच्छा हुआ तो, बुरा हुआ तो, उन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता। इसलिए मेरी दृष्टि में क्या युक्त है, क्या अयुक्त है, इस ज्ञान से मुक्त व्यक्ति ही धन्य है और उसका ही जीवन सुखकर है।"

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१ ॥
प्रस्थावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

उपर्युक्त बताए हुए बीथी के अंगों में से किसी एक के द्वारा अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में सूत्रधार को चला जाना चाहिए। और उसके बाद कथावस्तु का अभिनय आरम्भ हो जाना चाहिए ॥ २१ ॥

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥२२॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥२३॥
तत्प्रख्यातं विधातव्वं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

१. यहाँ पर आखेट का दोष गुण के रूप से वर्णित है।

नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। नायक के अन्दर अच्छे-अच्छे गुण, प्रताप और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा, महान् उत्साह-सम्पन्न और वेद का रक्षक होना चाहिए। इसके अलावा उसका जन्म उच्च वंश में होना चाहिए। नाटक का नायक राजा या राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए॥ २२-२३॥

ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त नायक जिस प्रसिद्ध कथा में हो वही कथा नाटक की आधिकारिक कथा कही जाती है।

जिस इतिवृत्त (कथावस्तु) में सत्यवादिता, कौटिल्यरहित श्रेष्ठ नीतिज्ञता, आदि से युक्त राजा, राजर्षि या दिव्य पुरुष का चरित वर्णन हो, उसी प्रधान कथा को नाटक की प्रधान कथावस्तु रखना चाहिए। इसके अलावा एक शर्त इसमें यह भी है कि उस कथा का वर्णन रामायण या महाभारत में अवश्य हुआ हो, तभी वह और गुणों से युक्त होते हुए नाटक की प्रधान कथावस्तु हो सकती है।

यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

उस कथावस्तु के भीतर यदि कहीं नायक के गुण या नाटकीय रस का विरोधी वृत्तान्त दिखाई देता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए अथवा यदि उसे वर्णन करने की इच्छा ही हो तो उसे ऐसे ढंग से वर्णन करे ताकि विरुद्धता न लक्षित होती हो॥ २४॥

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक के प्रणेता ने अपने नाटक में छल के साथ वालि के वध का वृत्तान्त हटा दिया है। और 'महावीरचरित' नाटक में तो कवि ने इस प्रकार से वर्णन किया है कि वालि रावण का मित्र था और राम-रावण युद्ध में रावण की तरफ से राम से लड़ने गया था, पर स्वयं मारा गया। इस प्रकार यहाँ पर कथा को ही अन्यथा करके वर्णन किया गया है।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥
खण्डशः संधिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत्।

नाटक की रचना करते समय आदि और अन्त का निश्चय कर आधिकारिक कथा को पाँच भागों में विभक्त कर प्रत्येक खण्डों की संधि संज्ञा देनी चाहिए। उसके बाद पाँचों खण्डों (संधियों) में से प्रत्येक को अनेक भागों में बाँट देना चाहिए॥ २५॥

अनुचित और विरोधी रसों को छोड़कर शुद्ध सूचनीय और दर्शनीय वस्तुओं का विभाग फल के अनुसार विहित बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य,

इनको आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम, इन पाँच अवस्थाओं के अनुकूल पाँच संधियों में विभक्त करना चाहिए।

चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ॥२६॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसंधिभिः।

इसके बाद संधियों के प्रत्येक भाग को बारह, तेरह, चौदह इत्यादि भागों में विभक्त करना चाहिए। इस प्रकार से संधियों के ६४ अंग होते हैं ॥ २६ ॥

ऊपर आधिकारिक कथा की बात आ चुकी है, अब कथावस्तु का दूसरा भेद अर्थात् प्रासंगिक कथा के बारे में बताते हैं।

अङ्गान्यत्र यथालाभमसंधि प्रकारीं न्यसेत् ॥२७॥

प्रासंगिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है—१. पताका और २. प्रकरी। पताका में प्रधान (आधिकारिक) कथावस्तु की अपेक्षा कुछ (एक, दो या तीन) कम संधियों को रखना चाहिए। और प्रकरी में तो इतिवृत्त के अति अल्प होने के कारण संधि की योग्यता ही नहीं है ॥ २७ ॥

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं कार्ययुक्तितः।

इस प्रकार से सब विभाग आदि कर चुकने के बाद प्रस्तावना के अनंतर काव्य-व्यापार को ध्यान में रखकर युक्ति के साथ आदि में विष्कंभक या अंक की रचना करे।

बिष्कंभक और अंक की रचना किस प्रकार से होनी चाहिए, इस बात को बताते हैं—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥२८॥
यदा संदर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२९॥
अदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः।

वस्तु के उस विस्तृत भाग को, जो अयेक्षित भी हो और नीरस भी हो, छोड़कर अवशिष्ट अपेक्षित भाग से विष्कंभक की रचना होनी चाहिए। और जहां पर सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख में की गई सूचना का आश्रय लेकर अंक की रचना करनी चाहिए ॥ २८-२९ ॥

प्रत्यक्षनेतृचरितो विन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥३०॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः।

अंक—इसमें नायक के कार्यों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। यद्द विन्दु के लक्षण से युक्त तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन का करनेवाला तथा रस का आश्रय होता है। रस के आश्रय होने के कारण इसका नाम 'अंक' पड़ा है ॥ ३० ॥

इसके अंक नामकरण का तात्पर्य यह है कि जैसे उत्संग (गोद) किसी बच्चे के बैठने के लिए आश्रय होता है, वैसे ही यह (अंक) भी रसों के बैठने (रहने) के लिए आश्रय होता है, इसीसे इसको 'अंक' कहते हैं ।

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥ ३१ ॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

इसमें भी विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा स्थायीभावों के द्वारा अंगी (प्रधान) रस को पुष्ट करना चाहिए । कारिका में 'अंगिनः', पद आया है, इसका अर्थ है 'अंगी रस का स्थायीभाव' । 'गृहीतमुक्तैः' का अर्थ है, 'परस्पर मिले हुए' । 'स्थायिता' का अर्थ 'अन्य रस का स्थायी' होता है ॥ ३१ ॥

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥ ३२ ॥
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः ।

नाटकों को रसपूर्ण तो होना ही चाहिए, पर रस का इतना आधिक्य न होना चाहिए कि कथावस्तु का प्रवाह ही विच्छिन्न हो जाए और इसी प्रकार नाटक-रचना में वस्तु और अलंकार तो रहना चाहिए पर ऐसा न हो जाए कि वस्तु और अलंकार के ही चक्कर में पड़कर रस ही गायब (नष्ट) हो जाए ॥ ३२ ॥

एको रसोऽङ्गीकर्तव्यो वीरः शृंगार एव वा ॥ ३३ ॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

नाटक में प्रधानता एक ही रस की होनी चाहिए, वह चाहे शृङ्गार हो या वीर ॥ ३३ ॥

[तात्पर्य यह है कि नाटक-भर में केवल एक रस की प्रधानता होती है और नाटक में आए हुए अन्य रसों का प्रधान रस के अंग रूप में ही रखना चाहिए । इसके अलावा नाटक में जहाँ निर्वहण संधि का स्थल हो वहाँ पर अद्भुत रस की रचना होनी चाहिए ।]

प्रश्न—यदि कोई यह कहे कि पहले ३१वीं कारिका में 'स्थायिना' (स्थायी के द्वारा) आया है । उसका तो अर्थ 'अन्यरस का स्थायी' होता है, इसलिए इस ३१वीं कारिका के द्वारा अन्य रसों को प्रधान रस का अंग होना चाहिए, यह बात कही जा चुकी है, फिर यहाँ पर ३३वीं कारिका में फिर "अंगमन्ये रसाः सर्वेकुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्" इत्यादि से उसी बात को दोहराने से क्या लाभ है ?

उत्तर—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों स्थानों पर अलग-अलग लिखे जाने का भाव भी अलग-अलग है—जहाँ पर अन्य रस के स्थायीभाव के अपने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव संयुक्त हों, वहाँ अन्य रसों

को प्रधान रस की अंगता प्राप्त होती है अन्यथा केवल स्थायी रहने पर तो व्यभिचारी मात्र ही रहते हैं ।

नाटक में निम्नलिखित बातों को नहीं दिखलाना चाहिए—

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ।। ३४ ।।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ।। ३५ ।।

दूर का रास्ता, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव आदि और दूसरे राजा से किया गया नगर का घेरा, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्र-धारण करना इत्यादि, इन सब बातों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए, किन्तु प्रवेशक आदि के द्वारा सूचित कर देना चाहिए ।। ३४-३५ ।।

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

कथावस्तु के प्रधान नायक का वध दिखाने की बात दूर रही, प्रवेशक आदि से भी उसकी सूचना न होनी चाहिए और आवश्यकीय देवकार्य, पितृकार्य आदि को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए । उनका दिखाना आवश्यक है ।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ।। ३६ ।।
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एक अंक में प्रयोजन से सम्बन्धित एक ही दिन की कथा होनी चाहिए । साथ नायक को भी अंक में अवश्य उपस्थित रखना चाहिए ।। ३६ ।।

नायक के अतिरिक्त तीन या चार पात्रों को रहना चाहिए । अन्त में सबको (यहाँ तक कि नायक को भी) निकल जाना चाहिए ।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ।। ३७ ।।
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ।
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ।। ३८ ।।

इसी प्रकार यथोचित स्थान पर पताकास्थानक तथा बीज के ही सदृश बिन्दु को भी रखना चाहिए । बिन्दु की रचना अंकों के अन्त में होनी चाहिए । इस प्रकार से प्रवेशक आदि के साथ अंकों की रचना करनी चाहिए । नाटक कम-से-कम पाँच अंकों का तथा अधिक-से-अधिक दस अंक का होना चाहिए ।। ३७-३८ ।।

इसके बाद प्रकरण-नामक रूपक-भेद को बताते हैं—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ।। ३९ ।।
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत्संधिप्रवेशकरसादिकम् ।। ४० ।।

प्रकरण—इसकी कथावस्तु लौकिक तथा कविकल्पित होती है । इसका

नायक धीरशान्त होता है। इसके नायक ब्राह्मण, मन्त्री, वैश्य, इनमें से कोई एक होते हैं। इसका नायक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में तत्पर रहता है। यह (नायक) विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए अपनी इच्छा-पूर्ति में लगा रहता है। इसमें (प्रकरण में) शेष बातें, जैसे सन्धि, प्रवेशक तथा रस आदि को नाटक के समान ही रखा जाता है ॥ ४० ॥

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वपि द्वयं क्वचित् ॥ ४१ ॥
कुलजाभ्यन्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः।
आभिः प्रकरणं त्रेधा संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ॥ ४२ ॥

प्रकरण में नायक की गणिका, कुलजा, दोनों प्रकार की नायिका विहित हैं। कहीं पर कुलजा (कुलीन), कहीं पर गणिका और कहीं पर दोनों ही नायक की नायिका होती हैं। प्रकरण में तीन ही प्रकार की नायिकाएँ हो सकती हैं। इससे अधिक भेद नही किया जा सकता। इस नियम का उल्लंघन मदापि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रकरण केवल तीन भेद हुए—पहला, जिसमें कुलकन्या नायिका होती है, यह शुद्ध भेद हुआ। जिसमें गणिका हो वह विकृत तथा जिसमें दोनों हों उसे संकीर्ण कहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

अर्थ पैदा करना ही जिसके जीवन का प्रधान कर्म है उसे वेश्या कहते हैं, इसीमें कुछ और विशेषता आ जाती है तो गणिका शब्द से अभिहित हो जाती है। जैसे कहा भी है—

सामान्य वेश्याओं में श्रेष्ठ, रूप, शील और गुणों से युक्त वेश्या समाज के द्वारा गणिका शब्द की ख्याति प्राप्त करती हैं।

जैसे—'तरंगदत्त' की नायिका-वेश्या है, 'पुष्पदूतिका' और 'मालती माधव' की नायिकाएँ कुलजा हैं तथा 'मृच्छकटिक' की नायिका दोनों (कुलजा और वेश्या) दोनों हैं, अर्थात् संकीर्ण हैं। 'मृच्छकटिक' की नायिका वसन्तसेना जन्म से वेश्या है पर उसका आचरण कुलजा-सा है। वह वेश्या-कर्म से घृणा करती है और अपना जीवन एक कुलीन सती नारी की तरह आर्य चारुदत्त से विवाह कर बिताना चाहती है। अतः इसमें दोनों का मिश्रण होने से संकीर्णता है। 'मृच्छ-कटिक' में धूर्त, जुआरी, विट, चेट आदि भरे हैं। ऐसे संकीर्ण प्रकरण में धूर्त, जुआरी, विट आदि का वर्णन करना आवश्यक है।

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र संकीर्णान्यनिवृत्तये।

नाटिका—नाटक और प्रकरण से मिश्रित उपरूपक को नाटिका कहते हैं। नाटिका उपरूपकों के १८ भेदों का प्रथम भेद है। नाटक और प्रकरण के

संकीर्णों में से यदि कोई समझा जाए तो नाटिका ही एक मात्र संकीर्ण भेद है। अन्य उपरूपक (प्रकरणिका) नहीं। वस अन्य उपरूपकों की निवृत्ति के लिए अन्य उपरूपकों के साथ इसे न रखकर नाटक और और प्रकरण के वाद ही इसे रखा गया।

कुछ लोगों का विचार है कि "नाटक और प्रकरण के मिश्रित" नाटिका धौर प्रकरणिका दो भेद होते हैं, पर अगर मिश्रित करके समझा जाए तो प्रसिद्ध नाटिका ही है, प्रकरणिका नहीं।

यद्यपि उपर्युक्त भरतमुनि-विरचित श्लोक की 'नाटी' संज्ञावाले काव्य के दो भेद होते हैं। उसमें का एक भेद प्रसिद्ध है जिसे नाटिका शब्द से कहा जाता है और दूसरा भेद प्रकरणिका है। इस प्रकार की व्याख्या कुछ लोग करते हैं सो ठीक है। कारण यह है कि लक्षण और लक्ष्य ये दोनों जब तक न मिलें तब तक चीज़ प्रामाणिक नहीं मानी जाती है। प्रकरणिका कह देने मात्र से उसका लक्षण कहीं न घटे।

नाटिका और प्रकरणिका दोनों का समान लक्षण होवे से दोनों में कोई भेद नहीं है। अगर कोई कहे कि प्रकरणिका और प्रकरण में वस्तु. रस और नायक एक ही जैसे होते हैं, अतः प्रकरिणका ही मानना ठीक है। तो इसका उत्तर यह है—तो फिर प्रकरण के अतिरिक्त प्रकरणिका को अलग मानना व्यर्थ है क्योंकि दोनों एक ही चीज हैं। इसलिए नाटिका का नाम पृथक् न गिनाने पर भी भरत मुनि ने जो लक्षण किया है उसका अभिप्राय यह है—"शुद्ध लक्षण के संकर से ही संकीर्ण का लक्षण स्वतः सिद्ध था, फिर भी संकीर्ण का लक्षण भरतमुनि ने जो बनाया वह व्यर्थ पड़ता है और व्यर्थ पड़ के ज्ञापन करता है कि संकीर्णों में यदि किसी की गणना हो तो बस नाटिका की ही।"

नाटक और प्रकरण के मेल से कैसे प्रकरणिका बनती है, इस बात को बताते हैं—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥ ४३ ॥
प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः।

नाटिका का इतिवृत्त प्रकरण से और नायक राजा आदि नाटक से लेना चाहिए। नायक को ख्यातिलब्ध तथा सुन्दर लक्षणों मे युक्त धीरललित होना चाहिए। नाटिका में प्रधान रस शृङ्गार को ही रखना चाहिए ॥ ४३ ॥

नाटक, प्रकरण और नाटिका, इन तीनों से वस्तु आदि के द्वारा प्रकरणिका में कोई भेद नहीं हैं। अर्थात् इन तीनों में आने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त प्रकरणिका में कोई भी विशेषता नहीं रह जाती। अतः उसके मानने की कोई आवश्यता नहीं है। फिर भी—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥ ४४ ॥
एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

यदि कोई इस प्रकार से कहे—"अंक आदि के भेद से प्रकरणिका को नाटिका अलग मानना चाहिए क्योंकि नाटिका में स्त्रियों की प्रधानता रहती है और कैशिकी वृत्ति होती है और विमर्श सन्धि अति अल्प तथा शेष चारों सन्धियाँ रहती हैं।" तो इसका उत्तर यह है कि यदि अंक, पात्र आदि के न्यूनाधिक्य से भेद मानने लगेंगे तब तो रूपकों के भेद की कोई सीमा ही नहीं रह जाएगी और ऐसा होने से बड़ा अनर्थ होगा। अतः प्रकरणिका को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ४४ ॥

नाटिका में और कौन-कौनसी विशेषता होती है या रहती हैं, इस बात को बताते हैं—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४५ ॥
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसंगमः ।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥ ४६ ॥
अन्तः पुरादिसंबन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥ ४७ ॥
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।
कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिद नाटिका ॥ ४८ ॥

नाटिका में महारानी राजवंश की प्रगल्मा नायिका होती है। वही ज्येष्ठा होती है। उसका स्वभाव गम्भीर होता है और वह पद-पद पर मान करनेवाली होती है। द्वितीय नायिका भी महारानी के ही वंश-परिवार की रहती है और उसके साथ नायक का मिलन कठिनाई के साथ हुआ करता है। नायक की दूसरी नायिका, जिसके प्रेम में वह दीवाना दना रहता है, वह भी राजकुमारी ही होती है। इसका रूप अत्यन्त सुन्दर और मन को मोह लेनेवाला होता है। अवस्था की दृष्टि से यह मुग्धा होती है। इसका सम्बन्ध राजमहल से लगा रहता है। अन्तःपुर में उसके गाने आदि के देखने-सुनने से आकृष्ट हुआ नायक पहली नायिका महारानी से छिपकर डरते-डरते उससे प्रेम करता है। यह प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। कशिकी वृत्ति क चारों अंगों की नाटिका के चारों अंकों से रचना करनी चाहिए। नाटिका के भीतर चार अंक होने चाहिए ॥ ४५-४८ ॥

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥ ४९ ॥

संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥ ५० ॥
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१ ॥

भाण—इसमें केवल एक ही पात्र होता है । यह कोई बुद्धिमान कार्यकुशल विट होता है । यह अपने तथा दूसरे के धूर्ततापूर्ण कार्यो का वर्णन करता है । इसका वर्णन वार्तालाप के रूप में होता है । यह किसी व्यक्ति की कल्पना करके उसको सम्बोधित करके कुछ कहता है और उसका मन से कुछ उत्तर बिठाकर फिर उसका उत्तर देता है । इस प्रकार सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति के कारस उसकी कल्पित व्यक्ति से बातचीत चलती है । इस प्रकार की बातचीत को 'आकाशभाषित' कहते हैं । शौर्य और सौभाग्य के वर्णन द्वारा यह वीर और शृंगार रस को सूचित करता है इसमें (भाण में) भारती वृत्ति कं अधिकता रहती है । यह एक अंक का होता है और इसकी कथा कविकल्पि होती है । इसमें मुख तथा निर्वहरण सन्धि अपने अङ्गों के साथ रहती हैं ।

इसके अलावा लास्य के निम्नलिखित दस अङ्ग भी इसमें व्यवहृत होते हैं ॥४९-५१॥

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥ ५२ ॥
उत्तमोत्तमकं चैव उक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥ ५३ ॥

लास्य के ये दस अंग हैं—१. गेयपद, २. स्थित पाठ्य, ३. आसीन, ४. पुष्पगण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. निगूढ़, ९. उत्तमोत्तक और १०. उक्त-प्रत्युक्त ॥५२-५३॥

प्रहसन—भाण के ही समान प्रहसन भी होता है । भाण के ही सघान इसमें कथावस्तु, सन्धि, सन्धियों के अंग और लास्य आदि भी होते हैं । यह तीन प्रकार का होता है—१. शुद्ध, २. विकृत और ३. संकर ।

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसंकरैः ।
पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥ ५४ ॥
चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

शुद्ध प्रहसन—पाखण्डी, ब्रह्मचारी, संन्यासी, तपस्वी, पुरोहित, चेट, चेटी और विट इनसे भरा हुआ रहता है । नायक तो सीधा ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, संन्यासी, तपस्वी पुरोहित आदि हुआ करते हैं । इसका व्यापार चेट और चेटी

के व्यवहार से युक्त होता है। इसमें अङ्गीरस (प्रधान रस) हास्य होता है। इसका उद्देश्य सामाजिकों के भीतर हास्य पैदा करना रहता है।।५४।।

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ।। ५५ ।।
विकृतं संकराद्वीथ्या संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ।
रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ।। ५६ ।।

विकृत प्रहसन—इस प्रहसन में नपुंसक, कञ्चुकी और तपस्वी लोग कामुकों के वेश में तथा कामुकों की तरह बातचीत आदि व्यवहार करते दिखाए जाते हैं।।५५।।

संकीर्ण—यह धूर्तों से भरा रहता है। इसमें बीथी के तेरहों अंग रहते है। वीथी के अंगों की संकीर्णता के कारण ही इसे संकीर्ण कहते हैं। इसमें रस की प्रचुरता रहती है और हास्य के छहों भेद होते हैं।।५६।।

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।। ५७ ।।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ।। ५८ ।।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ।। ५९ ।।
चतुरङ्कश्चतुःसंधिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

डिम—डिम, अर्थात् अनेक नायकों का संघात। इसकी कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसमें कैशिकी के अलावा शेष सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। इसके नेता देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह होते हैं। इसमें हास्य और शृंगार के अलावा शेष छहों रसों का भी प्रयोग किया जाता है। यह माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उन्मत्त आदि की चेष्टाओं तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि बातों से भरा रहता है इसमें चार अङ्क और चार सन्धियाँ होती हैं। विमर्श सन्धि इसमें नहीं होती। इसमें प्रधान रस रौद्र रहता है।।५७-५९।।

"ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह में डिम के इन लक्षणों को कहा था, इसलिए त्रिपुरदाह को डिम कहा जाता है।" भरतमुनि ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथा वस्तु को डिम की तुलना में दिखलाया हैं, अर्थात् डिम का उदाहरण त्रिपुरदाह है।

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ।। ६० ।।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ।। ६१ ।।
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायोग—इसकी कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। नायक इतिहास-प्रसिद्ध और धीरोद्धत होता है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती। इसमें डिम के समान ही रसों का सन्निवेश होता है, अर्थात् जो रस डिम में होते हैं वही इसमें भी रहते हैं। इसमें सभी पात्र पुरुष होते हैं। इसमें युद्ध आदि भी स्त्री के लिए नहीं होता और एक ही अङ्क होता है जिसमें एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है। उदाहरणार्थं—

सहस्रार्जुन ने परशुराम के पिता जमदाग्नि को मारा। पिता की मृत्यु की खबर सुनकर प्रकुपित परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा। इसमें (व्यायोग में) पात्रों की बहुलता रहती है।

व्यायोग शप्द का शाब्दिक अर्थ—"जिसमें बहुत पुरुष लगे हों ऐसे कार्य को व्यायोग कहते हैं।" इसमें शृगार और हास्य को छोड़कर शेष सब रसों जा परिपाक डिम के सदृश होता है ॥६०-६१॥

समवकार—इसमें नाटक आदि के सदृश आमुख रहना चाहिए। इसकी कथावस्तु देवता और असुरों से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध होती है। विमर्श को छोड़ शेष चारों सन्धियाँ इसमें होती हैं। इसमें सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है, किन्तु कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अल्प ही मात्रा में होता है। इसके नायक देवता होते हैं और उनकी कुल संख्या बारह होती है। इनका चरित्र उज्ज्वल होता है। साथ ही ये वीर भी होते हैं। इन बारहों नायकों की फल-प्राप्ति भी पृथक्-पृथक् ही होती है। जैसे समुद्र-मन्थन के समय में विष्णु को लक्ष्मी, इन्द्र को रत्न, देवताओं को अमृत, इत्यादि पृथक्-पृथक् फल की प्राप्ति होती है। इसमें वीर रस की प्रधानता रहती है और अन्य रस उसको पुष्ट करते हैं।

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत् ॥ ६२ ॥
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु संधयः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥ ६३ ॥
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक्।
बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥ ६४ ॥
अंकैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः।
द्विसंधिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः ॥ ६५ ॥
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम्।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥ ६६ ॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।

इसमें तीन अंक, तीनों प्रकार के कपट और तीनों ही प्रकार के विद्रव होते हैं। इसका पहला अंक बारह नालिका का होता है। इसमें दो सन्धियाँ होती हैं। दूसरा और तीसरा अंक क्रमशः चार और दो नालिका का होता है। एक नालिका (नाडिका) दो घटी के बराबर होती है। प्रहसन के समान ही इसमें वीथी के अंगों को रखना चाहिए। इसमें विन्दु और प्रवेशक का रखना सर्वथा निषिद्ध है॥ ६२-६७॥

कपट—स्वाभाविक, दैविक, कृत्रिम (शत्रुकृत) इन भेदों के द्वारा तीन प्रकार का होता है।

विद्रव (उपद्रव)—यह भी तीन प्रकार का होता है—१. चेतनकृत (मनुष्यकृत), २. अचेतनकृत और ३. चेतनाचेतनकृत। इसमें पहले का हरण, जैसे—शत्रु के नगर घेरने या आक्रमण करने के कारण भगदड़ आदि का होना।

दूसरे का उदाहरण, जैसे—जल, वायु, अग्नि आदि के द्वारा; बाढ़ आ जाना, वर्षा का न होना, आग लग जाना आदि। तीसरे का उदाहरण जैसे—हाथी आदि के छूटने आदि से उत्पन्न उपद्रव का होना।

इसी प्रकार शृंगार भी तीन प्रकार का होता है—१. धर्म शृंगार २. अर्थ शृङ्गार और ३. काम शृङ्गार।

ऊपर वताए हुए तीनों प्रकार के विद्रव, तीनों प्रकार के कपट, और तीनों प्रकार के शृंगार के भेदों को क्रमशः समवकार के तीनों अंकों में रखना चाहिए।

समवकार शव्द का शाब्दिक अर्थ है "सब नायकों के प्रयोजन का एकत्र रहना।" चूँकि समरकार रूपक में कई नायकों का प्रयोजन निहित रहता है, अतः इसे भी समवकार कहते हैं।

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ संध्यङ्गांकैस्तु भाणवत्॥ ६८॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः॥ ६९॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथी—इसमें कैशिकी वृत्ति होती है। संधियाँ और उनके अंग तथा अंक भाण के समान ही होते हैं। इसमें अन्य रसों का किंचित् स्पर्श रहते हुए भी प्रधानता शृङ्गार रस की ही रहती है। इसमें पात्र दो या एक होते हैं। पहले प्रस्तावना के भीतर जो वीथी के उद्घात्यक, अवलगित आदि अंग गिनाए हैं ये सभी इसमें होते हैं॥ ६८-६९॥

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ ७० ॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्संधिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ॥ ७१ ॥
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

अंक या उत्सृष्टिकाङ्क—इसकी कथावस्तु प्रसिद्ध पर कवि-कल्पना द्वारा अति विस्तृत की हुई रहती है। इसमें स्त्रियों के विलाप आदि का वर्णन रहता है। इसमें करुण रस की प्रधानता रहती हैं। इसका नायक साधारण पुरुष होता हैं। जय और पराजय आदि का वर्णन इसमें रहता है। युद्ध केवल वाणी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, अर्थात् इसमें केवल वाग्युद्ध दिखाया जाता है। और बातें, जैसे सन्धि, वृत्ति और अंग, इनको भाण के समान ही समझना चाहिए ॥ ७०-७१ ॥

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसंधिमत् ॥ ७२ ॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥ ७३ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किंचित्किंचित्प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
संरंभं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥ ७५ ॥

ईहामृग—इसमें चार अंक तथा मुख, प्रतिमुख. और निर्वहण, ये तीन सन्धियाँ होती है। इसके नायक और प्रतिनायक इतिहास-प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते हैं। इनकी प्रकृति धीरोद्धत होती है। प्रतिनायक दिव्यनायिका को चाहता हैं और जब वह उसे आसानी से प्राप्त नहीं होती तो हरण करने पर तुल जाता है। इसमें शृङ्गार रस का भी वर्णन थोड़ा-थोड़ा होना चाहिए। इसमें युद्ध की सब तरह से तैयारी हो चुकने पर भी किसी बहाने से टल जाती है, अर्थात् युद्ध होते-होते बच जाता है। प्रकरणतः इसमें महागुरुष का वध यदि प्राप्त भी हो भी कदापि प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। इसमें नायक हरिण के समान अलभ्य नायिका को खोजता फिरता है, अतः इसे ईहामृग कहते हैं। ॥ ७२-७५ ॥

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धाम् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार रूपकों के दसों भेदों के लक्षणों और उसके निर्माण के ढंग और वस्तु देलकर तथा महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन करके सरल छंदों में कृत्रिमता रहित अलंकारों, उदार मधुर, वाक्यों आदि के द्वारा प्रबन्ध की रचना होनी चाहिए ॥ ७६ ॥

॥ धनंजयकृत दशरूपक का तृतीय प्रकाश समाप्त ॥

विष्णुपुत्र धनिककृत दशरूवावलोक नामक व्याख्या का लक्षण-प्रकाश नामक तृतीय प्रकाश समाप्त ।

चतुर्थ प्रकाश

अब यहाँ से रस के भेदों को स्पष्ट करते हैं—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥१॥

विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्टावस्था (स्वाद्यता) को प्राप्त किया हुआ स्थायीभाव रस कहलाता है ॥१॥

आगे वर्णन किए जाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्त्विक भावों के द्वारा काव्य में वर्णन और अभिनय में प्रदर्शन देख काव्य पढ़नेवालों और अभिनय देखनेवाले सामाजिकों को अपने हृदय में रहनेवाले स्थायीभाव (जिनका वर्णन आगे किया जाएगा) जब स्वाद करने के योग्य हो जाते हैं तो उन्हें रस की संज्ञा दी जाती है । स्वाद के योग्य बन जाने का अभिप्राय यह है कि काव्य पढ़ने और सुननेवालों और अभिनय देखनेवालों के चित्त में केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है ।

यह परमानन्द काव्य और नाटक पढ़ने, सुनने और देखनेवाले सामाजिकों में हुआ करता है, इसलिए सामाजिक रसिक कहे जाते हैं । इस प्रकार का आनन्द केवल चेतन के ही अन्दर हो सकता है । अचेतन काव्य आदि में वह रह नहीं सकता । काव्य की रस के पैदा करने में कारणता है, न कि वह स्वयं ही रस है । 'रसवत् काव्यम्' 'रसवान् काव्य है', इस वाक्य में रसयुक्त काव्य का जो कथन है वह लाक्षणिक है । जैसे घृत की आयुर्वृद्धि में कारणता देख लोग 'आयुर्घृतम्' (घी आयु ही है) इस प्रकार का प्रयोग करते हैं, ठीक उसी तरह से रस के विषय मेंभी 'रसवान् काव्य है' इस प्रकार का व्यवहार होता है । वस्तुतः काव्य रसवान् नहीं होता, बल्कि होते हैं सामाजिक ।

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥२॥

विभाव—ज्ञान के विषयीभूत हो जो भावों का ज्ञान कराएँ और भावों को परिपुष्ट करें, उन्हें विभाव कहते हैं । ये दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन और २. उद्दीपन ॥ २ ॥

'यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही है' इस प्रकार का अतिशयोक्ति रूप में किया गया जो वर्णन और उससे उत्पादित विशिष्ट रूप से ज्ञायमान जो आलम्बन रूप

नायक और नायिका. और उद्दीपन रूप जो देश-काल आदि उनको विभाव कहते हैं।

विभाव का ज्ञायमान अर्थ में जो व्यवहार किया गया है, इसमें प्रमाण है— भरत मुनि का "विभाव इति विज्ञातार्थ इति" यह वाक्य। इन वाक्यों को यथाक्रम, उनके अवसर आने पर, रसों के प्रसंग में दिखाया जाएगा।

[**क्या विभावादिकों में वस्तुशून्यता है ?**]

वाह्य सत्त्वों की अपेक्षा न रखनेवाले इन विभाव आदि का, शब्द की उपाधि के वल से उन भावों का सामान्य रूप से अपने-अपने सम्वन्धियों के द्वारा साक्षात् भावकों के चित्त में स्फुरण कराने से आलम्बनत्व उद्दीपनत्व होता है। अतः इसमें वस्तुशून्यता का कोई स्थान ही नहीं है। इसी वात को **भर्तृहरि** ने भी कहा है—

"शब्द की उपाधि से प्राप्त स्वरूप वाले जो विभाव आदि हैं वे बुद्धि के विषयीभूत होकर कंस, राम, दुष्यन्त आदि को प्रत्यक्ष के समान ज्ञान कराने में कारण होते हैं।"

षट्सहस्रीकार ने भी 'ये विभाव आदि साधारणीकरण के द्वारा रसनिष्पादन में साधन होते हैं' इस प्रकार से लिखा है।

आलम्बन विभाव का उदाहरण, जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरूरवा उर्वशी को देखकर कहता है—"इसकी सृष्टि करने के लिए कौन प्रजापति (उत्पादक) हुआ होगा ? कांति का दाता चन्द्रमा, अथवा शृङ्गार रस का एकमात्र रसिक स्वयं कामदेव, किंवा वसंत ऋतु ? क्योंकि वेद पढ़ने से जड़ और विषयों से जिसका कुतूहल शांत हो गया है वह पुराना मुनि ब्रह्मा भला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?

उद्दीपन विभाव का उदाहरण, जैसे—"जिसकी चाँदनी में सारा विश्व धोकर स्वच्छ कर दिया गया है, और जिसकी प्रभा से सम्पूर्ण आकाशमण्डल कपूर के समान धवलित हो गया है, तथा जिसकी चाँदी के सीधे-सीधे स्वच्छ-शलाका की स्पर्धा रखनेवाले चरणों (किरणों) द्वारा यह विश्व, कमलदंड के बने हुए पिंजड़े के भीतर रखे हुए के समान प्रतीत होता है, ऐसे चन्द्रमा का उदय हो रहा है।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

अनुभाव—(१) आन्तरिक भावों की सूचना जिनसे मिलती है ऐसे (भ्रू कटाक्ष विक्षेप आदि) विकारों को अनुभाव कहते हैं।

(२) सामाजिकों को स्थायीभाव का अनुभव कराते हुए जो रस को परिपुष्ट करें ऐसे भौहों का चलाना और कटाक्ष विक्षेप करना आदि व्यापारों को अनुभाव

कहते हैं। ये रसिकों के साक्षात् अनुभवकर्म के द्वारा अनुभव किए जाते हैं इसलिए इनको अनुभाव कहते हैं।

(३) रति आदि स्थायीभावों के पश्चात् इनकी उत्पत्ति होती है, अतः इनको अनुभाव कहते हैं।

जिनसे आन्तरिक भावों की सूचना मिलती है ऐसे भ्रूकटाक्ष आदि विकारों को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव की यह परिभाषा लौकिक रस की दृष्टि से की गई है। पर काव्य नाटकों के अलौकिक रसों के प्रति इन भ्रूकटाक्ष-आदि की कारणता मात्र ही होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में भ्रूकटाक्ष, विक्षेप आदि ही अनुभाव हैं। नाटक आदि में अभिनय करने-वाले नट इत्यादि के भ्रूकटाक्ष विक्षेप आदि से नायक और नायिका के अन्तर्गत होनेवाले अनुभाव का अनुमान किया जाता है। इसलिए अलौकिक रस की दृष्टि से भ्रूकटाक्ष विक्षेप आदि की केवल कारणता है। लोक में ऐसी बात नहीं होती, वहाँ तो नायक और नायिका प्रत्यक्ष ही रहते हैं, अतः अनुमान करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनुभाव का उदाहरण, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—कोई दूती किसी अत्यन्त सुन्दरी नायिका से उसकी रूप-सम्पदा की प्रशंसा करते हुए कहती है—"हे मुग्धे, तेरे मुँह पर बार-बार जँभाई आ रही है, स्तन-प्रांत बार-बार उल्लसित हो रहे हैं, चंचल भौंहें बार-बार घूम रही हैं, सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है, अत्यधिक उत्सुकता के कारण लज्जा दूर हो गई है, सारे शरीर में रोमांच का प्रादुर्भाव हो गया है, तू जिसके ऊपर क्षीरसिन्धु के स्वच्छ फेन के सदृश अपनी सुन्दर स्वच्छ कटाक्ष छटा फेंकती है, वह अत्यन्त सुन्दर परम सौभाग्यशाली युवक धन्य है।"

इत्यादि बातों को रसों के प्रसंग में उदाहरणों के द्वारा क्रमानुसार स्पष्ट किया जाएगा।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥ ३ ॥

लौकिक रस के प्रति विभाव और अनुभाव का आपस में हेतु और कार्य-सम्बन्ध है, अर्थात् लौकिक रस के प्रति विभाव तो हेतु और अनुभाव, कार्य होता है। ये बातें व्यवहार से अवगत होती हैं। इसीलिए इनका अलग से लक्षण देना ठीक नहीं है ॥ ३ ॥

कहा भी है—"विभाव और अनुभाव लोक से ही सिद्ध हैं, ये दिन-रात लौकिक व्यवहारों में आया करते हैं और लौकिक व्यवहारों के द्वारा जाने जा सकते हैं, इसलिए इनका पृथक् लक्षण नहीं दिया जा रहा है।"

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

भाव—अनुकार्य (राम आदि) को आश्रय बनाकर वर्णित सुख-दुःख भावों के द्वारा भावक चित्त के अन्तर्वर्त्ती तद्-तद् भावों के भावन को ही भाव कहते हैं।

कहा भी है—"आश्चर्य की बात है कि रस से यह वस्तु भावित कर दी गई है, इस गन्ध से यह वस्तु वासित (सुगंधित) कर डाली गई है।"

प्राचीन आचार्यों के अनुसार, "रसों को जो भावित (घोंटा हुआ) बनाए उनको भाव कहते हैं।" कवि के अन्तर्गत रहनेवाले भावों को जो भावना के विषयीभूत करें उनको भाव कहते हैं।"

इस प्रकार से भाव के दो पृथक्-पृथक् लक्षण किए गए हैं, उनसे मेरे भाव के लक्षण के विरोध की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि उन लोगों ने भावात्मक काव्य और भावात्मक अभिनय, इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर उनके अनुसार क्रमशः एक-एक लक्षण बनाए हैं। अर्थात् इसमें प्रथम मत भावात्मक काव्य को दृष्टि में रखकर तथा दूसरा भावात्मक अभिनय को दृष्टि में रखकर बनाया गया है। और (ग्रन्थकार ने) रसिकों के हृदय में रहनेवाले भाव को दृष्टि में रखकर अपनी भाव की परिभाषा दी है। अतः विषय-भेद के कारण ग्रन्थकार और प्राचीन आचार्यों के लक्षणों में कोई विरोध नहीं है।

ये भाव व्यभिचारी और स्थायी भी होते हैं, इनके विषय में अभी बताया जाएगा।

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥४॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।

सात्त्विक भाव—सात्त्विक भाव यद्यपि एक तरह से अनुभाव ही है, पर सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इनकी गणना अन्य अनुभावों से पृथक् की जाती है ॥४॥

सत्त्व—दूसरे के सुख, दुःख आदि बातों में अपने अन्तःकरण को उसके अत्यन्त अनुकूल बना लेने का नाम सत्त्व है। किसी ने कहा भी है—सत्त्व विशेष प्रकार के मनोविकार को कहते हैं, जो एकाग्रचित्त से उत्पन्न होता है। सत्त्व को इस प्रकार से समझा जा सकता है कि जैसे जब कोई दुखी हो जाता है अथवा अत्यधिक प्रसन्न हो जाता है तो हठात् उसकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं। इसलिए सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन्हें सात्त्विक कहा जाता है। अश्रु प्रभृति जो भाग हैं इनकी दो स्थितियाँ होती हैं। यदि ये किसी आंतरिक भाव की सूचना देनेवाले हों तो अनुभाव अन्यथा सात्त्विक भाव हैं।

सात्त्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं—

१. स्तम्भ, २. प्रलय, ३. रोमांच, ४. स्वेद ५. वैवर्ण्य, ६, वेपथु, ७. अश्रु, और ८. वैस्वर्य (स्वर भंग) ।

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥५॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥६॥

१. स्तम्भ—कर्मेन्द्रियों के सारे व्यापार के अचानक रुक जाने का नाम स्तम्भ है ।

२. प्रलय—मूर्छा को प्रलय कहते हैं, जिसमें प्राणी चैतन्यरहित हो जाता है । उसकी चेतनता आती रहती है ॥५-६॥

और भेदों को बताने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनके नाम ही उनके लक्षण को समझाने में समर्थ हैं ।

सबका उदाहरण एक ही पद्य में, जैसे—कोई दूती किसी नायक को उसके विरह में होनेवाली अपनी सखी की पीड़ा का वर्णन करती हुई कोस रही है—"पसीने से लथपथ शरीरवाली वह मेरी सखी बार-बार तेरी याद कर काँप रही है, कृशतावश उसके हाथ के सुन्दर विजायठ खिसककर धीरे-धीरे आवाज़ कर रहे हैं, मुख उसका काला पड़ रहा है, मूर्छा बार-बार आ रही है, और कहाँ तक उसकी पीड़ा का वर्णन करूँ, बस केवल इतनी ही वात से समझ सकते हो कि उसकी भोली-भाली मुखरूपी लता अब धैर्य धारण करने में असमर्थ है ।"

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥

व्यभिचारी का सामान्य लक्षण—जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं और उसी में विलीन होती रहती है, उसी प्रकार से रति आदि स्थायीभावों में जो भाव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं उनको व्यभिचारीभाव कहते हैं ॥७॥

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजड़ताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः समतिरलसतावेगतर्कविहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८॥
तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमानम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥९॥

व्यभिचारी भाव ३३ प्रकार के होते है—१. निर्वेद २. ग्लानि ३. शंका ४. श्रम ५. धृति ६. जड़ता ७. हर्ष ८. दैन्य ९. उग्रता १०. चिन्ता ११. त्रास १२. असूया १३.

अमर्ष १४. हर्ष १५. स्मृति १६. मरण १७. मद १८ स्वप्न १९. निद्रा २०. विबोध २१. व्रीड़ा २२. अपस्मार २३. मोह २४. मति २५. अलसता २६. आवेग २७ तर्क २८. अवहित्था २९. व्याधि ३०. उन्माद ३१. विषाद ३२. औत्सुक्य और ३३. चपलता ॥८॥

निर्वेद--तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या, आदि कारणों से मनुष्य अपनी अवमानना करना निर्वेद कहलाता है ॥९॥

इसमें मनुष्य अपने शरीर तथा सभी लौकिक पदार्थों की अवहेलना करने लगता है। इस दशा में चिन्ता, निःश्वास-उच्छ्वास, अश्रु-विवर्णता और दैन्य, ये लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे,

"अगर हमने सकल मनोरथों को सिद्ध करने वाली लक्ष्मी को ही प्राप्त कर लिया तो उससे क्या हुआ ? अगर हमने सकल रिपुमण्डली को ध्वस्त ही कर दिया उससे ही क्या लाभ ? अगर हमने अपने इष्ट-मित्रों को ऐश्वर्यशाली बनाकर प्रसन्न हीं कर लिया तो उससे ही क्या हुआ ? अगर कल्पान्त तक आयु ही प्राप्त कर ली तो उससे क्या हुआ ?" भाव यह है कि सारी वस्तुएँ बेकार हैं।

"तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद, जैसे--

"मैं अपने कटु निष्फल व्यर्थ के जीवन के फल का आस्वादन कर रहा हूँ। वे फल हैं—१. राजदण्ड, २. बंधुबांधवों के वियोग से उत्पन्न दुःख, ३. देश-निष्कासन, और ४. दुर्गम मार्गों से गमन का परिश्रम।"

ईर्ष्या से होनेवाला निर्वेद, जैसे—रावण की यह उक्ति—

"मुझे धिक्कार है कि मेरे ऐसे पराक्रमशाली के भी शत्रु हो गए। और शत्रु भी हुए तो ऐसे जिनका तपस्या करना ही मात्र कार्य है। और इससे भी लज्जा की बात तो यह है कि ये (शत्रु) मेरे सामने ही राक्षस वीरों को मार रहे हैं तथा इतने पर भी रावण जी रहा है ? इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को भी धिक्कार है। अरे कुम्भकर्ण को ही जगाने से क्या लाभ हुआ ? और मेरी इन भुजाओं के रहने ही से क्या लाभ, जो ऐसा कर्म मेरे देखते-देखते हो रहा है ?"

वीर रस और श्रृङ्गार रस में आनेवाले व्यभिचारी निर्वेद, जैसे—

"जिनकी भुजाओं के कन्धे शत्रुओं के कठोर कंठ से छलकते हुए रुधिर से सुशोभित नहीं हुए और जिसके हाथ प्रियतमा के विशाल स्तनमण्डल के ऊपर पत्र-भंग की रचना करते समय कुंकुम रंग से रंजित न हो सके, ऐसे लोगों का जीवन निश्चय ही निष्फल है।"

यह कथन किसी ऐसे वीर पुरुष का है जिसे या तो अपने अनुकूल शत्रु की प्राप्ति, अपना पुरुषार्थ दिखलाने के लिए नहीं ही पाई थी, अथवा किसी ऐसे

विलासी पुरुष का है जिसे अपने मन के अनुकूल किसी सुन्दर रमणी की प्राप्ति नहीं हो पाई थी।

इसी प्रकार से निर्वेद, और रसों का भी अंग हो जाता है।

ऐसे निर्वेद का उदाहरण जो किसी भी रस का अंग नहीं है। जैसे—

"किसी पथिक ने रास्ते में खिन्न खड़े शाखोटक (सिहोर) के वृक्ष से पूछा—"भाई तुम कौन हो ?' उसने उत्तर दिया—'(पूछ ही बैठे तो) सुनो, मैं दैव का मारा सिहोर का वृक्ष हूँ।' यह सुनकर पथिक ने फिर पूछा—'तुम तो विरक्त के समान बोलते हो ?' उसने उत्तर दिया—'आप का कथन सत्य हैं।' फिर पथिक ने पूछा—'इसका (वैराग्य का) क्या कारण है ?' उधर से उत्तर आया—'यदि आपको मेरे वैरान्य के बारे में जानने की अति उत्कंठा है तो सुनिए—कारण यह है कि मेरे पास ही थोड़ी दूर पर एक वट का वृक्ष है। उसके यहाँ दिन-रात पथिकों का जमघट लगा रहता है और एक मैं अभागा हूँ कि अपनी छाया के द्वारा दूसरे के उपहार के लिए रास्ते में ही सदा प्रस्तुत रहता हूं पर मेरे यहाँ कोई आता तक नहीं है (यही मेरे वैराग्य का कारण है)।'

विभाव, अनुभाव और रस के अंगों के भेदोपभेद से निर्वेद के अनेक प्रकार होते हैं।

रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥१०॥

ग्लानि—रतिकला के अभ्यास से भूख, प्यास, परिश्रम आदि कारणों से जो उदासीनता आ जाती है उसे ग्लानि कहते हैं। इसमें विवर्णता, कम्प, अनुत्साह आदि अनुभाव दीख पड़ते हैं ॥१०॥

जैसे माघ का यह पद—

"नींद से भरी हुई नेत्रकनीनिकाओं से सुशोभित (चन्द्रनक्षत्रवाली) रमणक्रीडा से क्षीण मुख (चन्द्र) वाली तथा थके नीलकमल-सी आँख वाली नायिकाएँ रात्रि की तरह खुले हुए केशपाश (अन्धकार की तरह) से भूषित बनीं, राजा के घर से सबेरे जा रही हैं।"

शेष बातों को निर्वेद के ही समान समझना चाहिए।

अनर्थप्रतिभा शङ्का परकार्यात्स्वदुर्नयात्।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥११॥

शंका—दूसरे की क्रूरता या अपने ही दुर्व्यवहारों से अपनी इष्ट हानि की जो आशंका पैदा होती है उसे शंका कहते हैं। इसमें शरीर का काँपना और सूखना, चिन्तायुक्त दृष्टि-विक्षेप, विवर्णता और स्वर-भेद आदि लक्षण लक्षित होते हैं ॥११॥

दूसरे की क्रूरता के कारण होनेवाली शंका, जैसे 'रत्नावली' नाटिका में महाराज उदयन रत्नावली के बारे में कह रहे हैं—"वह इस बात से सशंकित रहती हुई कि कहीं ये लोग राजा के साथ चलनेवाले मेरे प्रेम-बर्ताव को जानते न हों लज्जावश मुँह को छिपाए रहती है। और जब दो या तीन लोगों को आपस में बातचीत करते हुए देखती है तो सोचती है कि कहीं ये लोग हमारे ही विषय में कानाफूसी न करते हों। इसी प्रकार से हँसती हुई सखियों को देख भी वह सशंकित हो जाती है कि ये सब मेरे उसी सम्बन्ध में हँस रही हैं। इस प्रकार से मेरी प्रियतमा रत्नावली (सागरिका) हृदय-प्रदेश में रखे हुए आतंक से पीड़ा पा रही है।"

अपने दुर्व्यवहार से होनेवाली शंका, जैसे 'महावीरचरित' में—"जिसने पर्वताकार शरीरवाले मारीच, ताड़का, सुबाहु आदि राक्षसों का संहार किया है वही राजकुमार मेरे हृदय के लिए सन्तापकारी हो रहा हैं।"

इसी प्रकार से अन्यों को भी समझ लेना चाहिए।

श्रमः स्वेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः।

श्रम—यात्रा, रति आदि कारणों से जो थकावट उत्पन्न होती है उसे श्रम कहते हैं। इसमें पसीना आना, अवयवों में दर्द आदि का होना आदि बातें होती हैं।

रास्ते के परिश्रम से होनेवाला श्रम जैसे, 'उत्तररामचरित' में—राम सीता से कहते हैं—"तुम मार्ग में चलने के परिश्रम से आलस्यकंपित, कोमल और सुन्दर दृढ़ आलिंगनों से संवाहित और परिमर्दित कमल की डण्डियों के सदृश दुर्बल अंगों को मेरी छाती पर जहाँ रखकर सो गई थीं वही यह स्थान है।"

रति से होने वाला श्रम जैसे माघ में—

"सुरतपरिश्रम से भीगी लम्बी लटवाली कामिनियाँ भारी कुचभार तथा प्रेम की पराकाष्ठा को पाकर थक गईं।"

इसी प्रकार से और बातों को समझ लेना चाहिए।

संतोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥१२॥

धृति—ज्ञान अथवा शक्ति आदि की प्राप्ति से जो अप्रतिहत आनन्द का देनेवाला सन्तोष उत्पन्न होता है उसे धृति कहते हैं ॥१२॥

ज्ञान से होनेवाली धृति, जैसे 'भर्तृहरिशतक' में—

"मैं वल्कल मात्र से प्रसन्न हूँ और तुम लक्ष्मी की प्राप्ति से। हम दोनों ही प्रसन्न हैं, हम लोगों की प्रसन्नता में कोई अन्तर नहीं है। बात ठीक भी है, दरिद्र तो वह है जिसके पास विशाल तृष्णा पड़ी हुई हो। मन की प्रसन्नता ही प्रधान वस्तु है। मन प्रसन्न है तो कौन धनी है और कौन गरीब ?"

शक्ति से होनेवाली धृति, जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—

"शत्रु अच्छी तरह से जीते जा चुके हैं, ऐसा राज्य है। राज्य संचालन का समस्त भार योग्य सचिव को सौंप दिया गया हैं। अच्छी तरह से पालन होने तथा रोग आदि के अभाव में प्रजावर्ग प्रसन्न हैं। महाराजा प्रद्योत की पुत्री मेरी प्रियतमा वासवदत्ता पास ही हैं। वसन्त का चित्तोन्मादक समय है तथा प्रिय मित्र तुम भी विद्यमान ही हो। इस प्रकार चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है। अब ऐसी परिस्थिति में मदन-महोत्सव अपनी इच्छा के अनुकूल पूर्ण समृद्धि को प्राप्त करे। उपर्युक्त बातों से ऐसा लगता है मानो मेरा ही उत्सव मनाया जा रहा है।"

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥१३॥

जड़ता—किसी इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु को देखने और सुनने आदि के कारण कुछ क्षणों के लिए कार्य करने करने की योग्यता के खो जाने को जड़ता कहते हैं। इसमें पलकों का न गिरना और झुक जाना आदि लक्षण दिखाई देते हैं ॥१३॥

इष्ट दर्शन से होनेवाली जड़ता, जैसे, 'कुमारसम्भव' में--

"पार्वतीजी की सखियाँ उन्हें सिखाया करतीं कि देखो सखि, डरना मत, और जैसे-जैसे हम सिखाती हैं वैसे-ही-वैसे अकेले शंकरजी के साथ करना, पर इतने सीखने-पढ़ने के बाद भी वे शिवजी के सामने पहुंचते ही घबरा जातीं और सखियों की सब सीख उनके ध्यान से उतर जाती।"

"राक्षस—-ऐसे-ऐसे वीर राक्षसों को जिनके सेनापति प्रसिद्ध योद्धा खरदूषण त्रिशिरा आदि थे, किसने मारा ?

दूसरा—धनुर्धारी नीच राम ने।

दूसरा--बिना देखे भला किसी को विश्वास होगा ? देखो हमारी सेना की दशा—शीघ्र कटे हुए सिरवाले मुर्दों का समूह रक्त में डूबा हुआ पड़ा है तथा उनके कबन्धों का ढेर, ताल इतना ऊँचा दिखाई पड़ रहा है।

प्रथम--मित्र यदि ऐसी बात हैं तो फिर हम लागों के लिए क्या करना उचित है ?" इत्यादि।

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः।

हर्ष--प्रिय का आगमन, पुत्रजन्म, इत्यादि उत्सवों से चित के प्रसन्न हो जाने का नाम हर्ष है।

इसमें आँखों में आँसू का आ जाना, पसीना निकलना, गद्गद् वचन बोलना इत्यादि अनुभाव परिलक्षित होते हैं। जैसे—

"प्रोषितपतिका का पति जब ऊँट की सवारी से उसके पास पहुँचा तो वह मारे खुशी से आँखों में प्रेमजल भरके पति के वाहन की सेवा में यह सोचकर लग गई कि इसी ने प्रियतम की इस विशाल बंजर भूमि को पार करने में सहायता की है। फिर क्या था, वह जल्दी से पीलु, शमी तथा करीर के पत्तों को तोड़-तोड़कर ग्रास बना-बनाकर खिलाने लगी और साथ ही अति-आदरवश अपने आँचल से उस ऊँट के बच्चे के केशों पर लगी हुई धूल को धीरे-धीरे पोंछने लगी।"

निर्वेद की तरह इसकी (हर्ष की) और बातों को भी जान लेना चाहिए।

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥

दैन्य—दरिद्रता और तिरस्कार आदि से होनेवाली चित्त की उदासीनता का नाम दैन्य है। इस दशा में मनुष्य के चेहरे का रङ्ग फीका पड़ जाता है और वस्त्रों की मलीनता आदि बातें देखी जाती है ॥१४॥

जैसे कोई वृद्धा सोच रही हैं—"मेरे पति एक तो वृद्ध, दूसरे अन्धे ठहरे, अतः केवल मचान पर ही पड़े रहते हैं, उनमें धनोपार्जन का अब पुरुषार्थ रह नहीं गया है। घर में केवल थून ही मात्र बच पाया है। और इधर बरसात का समय भी आ गया है। लड़का कमाने के लिए परदेश गया, पर कुछ भेजना तो दूर की बात रही, अभी तक उसने कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं भेजी। बड़े यत्न के साथ मैंने एक गगरी तेल भरके रखा था सो भी दैव दुर्विपाक से फूटकर बह निकला, अब क्या करूँ ? कवि कहता है कि सास अपनी गर्भभार से अलसाई हुई पुत्रवधू को देख ऊपर कथित बातें सोच-सोचकर बहुत देर से रो रही है।"

और बातों को पहले ही के समान समझना चाहिए।

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥

उग्रता—किसी दुष्ट के दुष्कर्म, दुर्वचन, क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रचंड हो जाने को उग्रता कहते हैं। इसमें खेद का आना, कटुवचन बोलना, सिर काँपना, दूसरे को मारने पर उतारू होना और तर्जना आदि लक्षण पाया जाता है ॥१५॥

जैसे 'महावीर चरित' में परशुराम—"क्षत्रियों पर प्रकुपित हो मैंने इक्कीस बार उनका संहार किया और संहार करते समय उनके गर्भ में पड़े हुए बच्चों को भी खुरेच-खुरेचकर मार डाला, और क्षत्रियों के रक्त से भरे हुए तालाबों में मैंने अपने पिता के श्राद्ध संस्कार को सम्पन्न किया। इस प्रकार के मेरे कर्मों को देखते हुए भी मेरा स्वभाव क्या अभी तक प्राणियों को अविदित हो है ?"

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

चिन्ता—इष्ट वस्तु के न प्राप्त होने पर उसी के विषय में ध्यान बने रहने का नाम चिन्ता है । इसमें पदार्थ के न मिलने से जीवन का शून्य मालूम होना, साँस का जोर से चलना, शारीरिक ताप का बढ़ जाना आदि बातें पाई जाती हैं ।

चिन्ता—जैसे कोई दूती प्रियतम के वियोग से दुःखी किसी प्रोषित-पतिका से कह रही है—"हे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली, तुम अपनी पपनियों के अग्रभाव में मोती की स्पर्धा करनेवाले स्वच्छ आँसुओं को भर कर और हृदय में भगवान् शंकर की हँसी के समान स्वच्छ मनोहर हारों को पहनकर, तथा कोमल-कोमल कमलनाल के वलय (कंकण) वाले अपने सुन्दर हाथों के ऊपर मुख को रख कर किस परम सौभाग्यशाली के विषय में सोच रही हो ?"

अथवा यह दूसरा उदाहरण—

"हट गया है विषय-वासनाओं से मन जिसका और बन्द हो गए हैं कमल के समान नेत्र जिसके, बार बार चल रही है श्वास-प्रच्छवास क्रिया जिसमें, इस प्रकार की अलक्ष्य वस्तु का ध्यान करनेवाली बाला की दशा योगी के समान हो गई । [योगियों की तरह नेत्रों को मूँदकर बार बार सिसकती हुई एकमात्र प्रियतम के विषय में सोच रही है ।]

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥१६॥

त्रास—बादल के गर्जन तथा ऐसी ही अन्य भयप्रद घटनाओं से जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे त्रास कहते हैं । इसमें कम्प आदि का आना देखा जाता है ॥१६॥

यथा, माघ में—

"चंचल पोठी (प्रष्ठी) मछली किसी सुन्दरी के उरु युगल में एक बार छू गई । डरकर वह रमणी नाना प्रकार की अंगभंगियाँ दिखाने लगी । आश्चर्य है कि रमणियाँ बिना कारण विलासलीला में क्षुब्ध हो जाती हैं ! फिर कोई कारण मिल जाय तो फिर क्या कहना !"

परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा ।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७॥

असूया—दूसरे की उन्नति न सह सकने का नाम असूया है । इसमें दूसरे के अन्दर दोष निकालना, अवज्ञा क्रोध, भौंह का चढ़ना तथा अन्य क्रोधसूचक चेष्टाएँ दिखाई देती हैं । यह तीन कारणों से हो सकती है : १. गर्व से २. दुष्ट स्वभाव से, तथा ३. क्रोध से ॥१७॥

गर्व से होनेवाली असूया, जैसे 'वीरचरित' में—कोई राक्षस किसी से कह रहा है—

"मेरे स्वामी रावण ने सीतारूपी फल की प्राप्ति के लिए भिक्षुक बनकर याञ्चा भी की पर वह स्वामी के विरुद्ध आचरण जरनेवाली, उन्हें न मिलकर राम को मिल गई। अब यह बात समझ में नहीं आती कि शत्रु के मान और यश की वृद्धि और अपने ह्रास को तथा स्त्रियों में रत्न उस सीता को दूसरे के हाथ में देख संसार के स्वामी रावण कैसे बर्दाश्त कर सकेंगे।"

दुष्ट स्वभाववश होनेवाली असूया, जैसे—

"यदि तुझे दूसरे के गुणों को देख ईर्ष्या पैदा होती है तो फिर गुणों का ही उपार्जन क्यों नहीं करता ? हाँ, इतना समझ रखो कि तुम दूसरे के यश को निन्दा के द्वारा धो नहीं सकते। अगर तुमने अपनी इच्छा से अकारण ही दूसरे से द्वेष करना नहीं चोड़ा तो तुम्हारा परिश्रम वैसे ही बेकार हो जाएगा जैसे सूर्य की किरणों को रोकने के लिए हाथरूपी छाते का प्रयोग।"

क्रोध से होने वाली असूया, जैसे 'अमरुशतक' में—

कोई पुरुष अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन अपने मित्र से कर रहा है—

"जब मैं अपनी प्रिया के पास गया तो बात चीत में अचानक मेरे मुँह से अपनी नूतन प्रेयसी का नाम आ गया, फिर मैं लज्जा के मारे नीचे मुँह करके कुछ यों ही झूठमूठ का लिखने लगा। संयोगवश ऐसा हुआ कि मेरे हाथों ने अनायास ही ऐसी रेखा खींच दी जिससे वही रमणी, जिसका नाम मुँह से पहले आ चुका था, परिलक्षित होने लगी। ऊसके शरीर के सब अवयव हूबहू वैसे ही आ गए। फिर क्या था, यह देख मेरी देवीजी के गाल क्रोध से लाल हो आए, होंठ फड़कने लगे, और वेग के साथ वाणी भी गद्गद होकर निकलने लगी और चित्र को दिखा-दिखाकर लगीं कहने—आश्चर्य की बात है कि इनकी कलई खुल गई। यह तो वही रमणी है जिसके विषय में मुझे बहुत दिनों से सन्देह बना हुआ था। बस क्या था। उसने ब्रह्मास्त्र स्वरूप अपने बाएँ पैर को मेरे सिर पर जड़ ही तो दिया।"

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
तत्र स्वेदशिरः कम्पतर्जनाताडनादयः ॥१८॥

अमर्ष—किसी के बुरे वचनों अथवा किसी के द्वारा किए गए अपमान आदि के कारण प्रतिकार में उस व्यक्ति से बदला बेने की भावना को अमर्ष कहते हैं। इसमें पसीने का आना, सिर की कंपकंपी, भर्त्सनायुक्त वचन, मारपीट करने का उतावलापन, इत्यादि बातें होती हैं ॥१८॥

जैसे 'महावीरचत' में रामचन्द्र का परशुराम के प्रति यह कथन—"पूजनीय के सम्मान के अतिक्रमण के फलस्वरूप भले ही मुझे प्रायश्चित्त करना पड़े, पर मैं इस प्रकार से शस्त्रग्रहण रूपी महाव्रत को दूषित कदापि नहीं कर सकता।"

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में—"आपके आज्ञोल्ललंघन रूपी जल में डूबता हुआ मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ कि आज्ञापालनरत भाइयों के बीच निन्दनीय भले ही समझा जाऊँ, पर क्रोध के साथ रुधिर से लिप्त गदा को घुमाते हुए तथा कौरवों का संहार करते हुए आज एक दिन के लिए न तो आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं और न मैं आपका कनिष्ठ भाई।"

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१९॥

गर्व—अपने श्रेष्ठ कुल, सुन्दरता, ऐश्वर्य, पराक्रम आदि से होनेवाले मद को गर्व कहते हैं। दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखना, तथा अपमान आदि करना, इस अवस्था में देखे जाते हैं। साथ ही गर्वित पुरुष में विलासपूर्वक अपने अंगों को देखने की बात भी पाई जाती है ॥१९॥

जैसे 'महावीरचरित' में—रामचन्द्र परशुराम के आने पर भय-विह्वल क्षत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—"हे क्षत्रियो, डरकर काँपना छोड़ दो, निर्भय हो जाओ, क्योंकि मुनि के साथ-साथ ये वीर भी हैं, ऐसे पुरुष का सम्मान मुझे प्रिय लगता है। तपस्या के बारे में फैली हुई है कीर्ति जिनकी, और बल के दर्प से खुजला रही हैं भुजाएँ जिनकी, ऐसे परशुरामजी का सत्कार करने में मैं रघुकुलोत्पन्न रामचन्द्र नाम काक्षत्रिय समर्थ हूँ।"

अथवा जैसे उसी 'वीरचरित' का यह पद—'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो'''आदि।

[इसका अर्थ द्वितीय प्रकाश में धीरोदात्त नायक के उदाहृण में बताया जा चुका है]

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०॥

स्मृति—पहले की देखी हुई वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर संस्कार के द्वारा मन में उस पहली देखी हुई वस्तु का जो रूप खिंच जाता है उसे स्मृति कहते हैं। इस दशा में भौहों को चढ़ाना आदि लक्षण देखे जाते हैं ॥२०॥

जैसे—सीता को हरण कर ले जाते हुए जटायु को देख रावण की यह उक्ति है—

"क्या यह मैनाक तो नहीं है जो मेरे रास्ते को रोक रहा है? (फिर सोच-कर) पर उसको इतना साहस कहाँ? क्योंकि वह तो इन्द्र के वज्र से ही डरता है। और यह गरुड़ है ऐसा भी अनुमान करना ठीक नहीं है, कारण वह अपने प्रभु विष्णु के साथ मेरे पराक्रम को जानता है। (फिर सोचकर) अरे, यह तो

वृद्ध जटायु है जो वृद्धावस्था के वशीभूत होकर (वृद्धावस्था में बुद्धि ठीक नहीं रहती यही तात्पर्य है) अपनी मृत्यु चाह रहा है।

अथवा जैसे 'मालतीमाधव' में माधव--

'लीन किधौं प्रतिबिम्बित चित्रित ऊँची उभारिकैं खोदि दई है।
थापित वज्जर लेपसों वा चिपकाइ, धौं बीज समान वई है ।।
कै चित पाँचहूँ बानन सों जड़ि सुन्दर काम ने ठीक ठई है।
सोच निरन्तर तन्तु के जाल सिई बुनिकै यह प्रेम मई है ।।'

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते ।

मरण—मरण के सुप्रसिद्ध तथा अनर्थकारी होने से इसकी परिभाषा नहीं दी जा रही है।

जैसे—

"पति के आने की तिथि को, जिधर से उसके आने का रास्ता था उधर ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही। कुछ क्षण तक इस प्रकार के कार्यक्रम को जारी रखने के बाद काफी देर तक बैठकर उसने कुछ सोचा, और उसके बाद क्रीड़ा में आनेवाली कुररी पक्षी को आँसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके, चट आम्र के साथ माधवी लता का करुणापूर्ण पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न किया।"

इस प्रकार से शृङ्गार रस के आवलम्बन के रूप में जहां-जहाँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ-वहाँ वास्तविक मरण न दिखाकर मरण का केवल आभास-मात्र ही दिखलाना चाहिए।

शृंगार रस को छोड़ अन्य रसों के लिए कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता हैं वह जिस प्रकार का चाहे वर्णन कर सकता है। जैसे 'महावीरचरित' में—"आप लोग ज़रा ताड़का को तो देखें—रामचन्द्र के बाणों के उसके हृदय के मर्मस्थल में लग जाने से उसके अंग भंग हो गये हैं और उसकी नासिका की दोनों खोहों से एक ही जैसा बुद्बुद शब्द करते हुए रक्त गिर रहा है। इस प्रकार वह एक तरह से मर-सी गई है।"

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदंगवचोगतिः ।।२१।।
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु।

मद—मदिरा आदि मादक पदार्थों के पान से उत्पन्न होनेवाली अत्यन्त प्रसन्नता को मद कहते हैं। मद के कारण अङ्ग, वाणी, गति शिथिल पड़ जाती है। मद्यप लोग उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम—नशा चढ़ने पर सो जाते हैं। मध्यम श्रेणीवाले हँसी-मजाक करते हैं और अधम श्रेणीवाले रोने लगते हैं ।।२१।।

जैसे 'माघ' में—

"विलासी तरुण के समान नई मस्ती ने अधिक मात्रा में (प्रौढ़ाओं के समान) लीला मनोहरहास्य, वाक्यों का कौशल तथा नयनों में विशेष विकार भोली वधुओं में उत्पन्न कर दिया है।

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रियापरम् ॥२२॥

सुप्त—निद्रा से उत्पन्न होनेवाली अवस्था को स्वप्नावस्था (सुषुप्ति) कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास चलता है ॥२२॥

जैसे—

जौ के खेत के कोने में पड़ी हुई छोटी कुटिया के भीतर नये धानों के पुआलों के बिछौने पर लेटे हुए कृषक दम्पति की नीद को स्तनमण्डल की उष्णता के कारण रेखावद्ध तुषार भंग कर रहा है॥

मनःसंमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः।
तत्र जृम्भांगयर्दाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥२३॥

निद्रा—चिन्ता, आलस्य, थकावट आदि से मन की क्रियाओं के रुक जाने को निद्रा कहते हैं। इसमें जँभाई का आना, अङ्गों में अँगड़ाई, आँखों का बन्द हो जाना, बड़बड़ाना आदि बातें पाई जाती है ॥२३॥

जैसे—

कोई पुरुष मन-ही-मन सोच रहा है—"मद से अलसाई हुई और नींद के कारण आधी मुँदी हुई प्यारी के मुँह से निकलते हुए वे शब्द जो न सार्थक कहे जा सकते हैं और न निरर्थक ही, इतने दिनों के बाद भी आज मेरे हृदय की कुछ विचित्र स्थिति कर रहे हैं।"

अथवा जैसे 'माघ' में—

"कोई पहरा देनेवाला, अपना पहरा समाप्त करके, निद्रा लेने की इच्छा से दूसरे प्रहरी को 'जाग-जाग' ऐसा कह-कहकर ऊँचे स्वर से बार-बार जगाने लगा। उस दूसरे प्रहरी ने निद्रा के बस में होकर अस्पष्टाक्षरों में अर्थशून्य भाव से बार बार उत्तर दिया, परन्तु वह जाग न सका।"

विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने।

(१) विबोध—नींद के खुल जाने को विबोध कहते हैं। इस दिशा में जँभाई आना और आँखों का मलना आदि क्रियाएँ होती रहती हैं।

जैसे 'माघ' में—देर तक विहार करके सोए हुए प्रियतमों बाहुपाश के दृढ़ आलिंगनों को, थोड़ा पहले ही जागी हुई तरुणियां चुपचाप पड़ी रहकर भी ढीला नहीं होने देती।

दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्यभावस्तुमुन्नयेत्।
प्राचीकृतागावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥२४॥

(२) व्रीडा—दुराचार आदि कारणों से धृष्टता क अभाव का नाम व्रीडा है ॥२४॥

जैसे, 'अमरुशतक' में—

"प्रियतमा का पति जब उसके वस्त्रों में लग जाता है तो वह लज्जा से मुख को नीचा कर लेती है और जब वह हठात् आलिंगन को उद्यत होता है तो वह अपने अंगों को सिकोड़ लेती हैं। सखियों से मुस्कान के साथ देखी जाती हुई वह प्रियतम के अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी बोलने में असमर्थ ही रहती है। इस प्रकार से नवेली वधू प्रियतमके प्रथम परिहास के अवसर पर लज्जा के मारे अन्दर-ही-अन्दर गड़ी जा रही है।"

आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥२५॥

अपस्मार—ग्रहों के योग से, विपत्ति तथा अन्य कारण से उत्पन्न आवेश को अपस्मार कहते हैं। इस दशा में पृथ्वी पर गिर पड़ना, पसीना बहने लगना, साँस का जोर-ज़ोर से चलना और मुख से फेन का निकलना इत्यादि बातें होती है ॥२५॥

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः।
नत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥२६॥

मोह—भय, दुःख, आवेश तथा स्मरण करने आदि के कारण उत्पन्न हुए चित्त के विक्षेप को मोह कहते हैं। इस दशा में अज्ञान, भ्रम, आघात घूर-घूर कर देखना आदि लक्षण दिखाई देते हैं ॥२६॥

जैसे, 'माघ' में—

"समुद्र पृथ्वी की आलिंगन किये हुए था, चंचल बाहुओं के समान उसकी बड़ी-बड़ी तरंगें इधर-उधर पड़ रही थीं; वह उच्च शब्द कर रहा था और झाग फेंक रहा था। ऐसे उस समुद्र को श्रीकृष्णजी ने मृगी के रोगी के समान समझा।"

जैसे, 'कुमारसम्भव' में—

"कामदेव को मृत देख उसकी स्त्री रति मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। उसकी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गई, और ऐसा जान पड़ा मानों भगवान् ने कृपा करके उतनी देर के लिए पति को मृत्यु का ज्ञान हरकर उसे दुःख से बचाये रखा।"

अथवा जैसे, 'उत्तररामचरित' में—

"तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से इन्द्रियसमूह को मूढ़ करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार)

सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है ।"

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

मति—शास्त्र आदि के उपदेश से अथवा भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है उसको मति कहते हैं ।

जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में—"बिना विचारे कोई भी कार्य न करे क्योंकि विचार करके न करना ही सब विपत्तियों का स्थान है । इसके सिवाय गुण का लोभ रखनेवाली सम्पत्तियाँ खुद हा विचार कर काम करनेवाले के पास आ जाती हैं ।"

और भी जैसे—

"पण्डित लोग झटपट कोई कार्य नहीं करते और किसी की बात को सुनकर पहले वे उसके तत्त्व की छानवीन करते हैं और फिर उस तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ-साथ दूसरे के भी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं ।"

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जैंन्ह्यजृम्भासितादिमत् ॥२७॥

आलस्य—थकावट, गर्भ का भार, आदि के कारण उत्पन्न जड़ता को आलस्य कहते हैं । इस दशा में जँभाई आती है और पड़े रहने की इच्छा बनी रहती है ॥२७॥

जैसे मेरा ही पद्य—"वह बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार चलती-फिरती है और सखियों के द्वारा पूछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ उत्तर देती है । इस प्रकार ऐसा लगता है मानो गर्भ के भार से अलसाई हुई सुन्दरी हमेशा बैठी ही रहना चाहती हैं ।"

आवेगः संभ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डितांगः ।
उत्पातात्स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥२८॥

आवेग—मन के संभ्रम को आवेग कहते हैं । यह कई कारणों से होता है, जैसे—राज्य-विप्लव से, वायु के प्रकोप से, वर्षा से, नाना प्रकार के उत्पातों से, अनिष्टवाली वस्तुओं से, इष्ट वस्तुओं से, अग्नि से, हाथी से, इसी प्रकार अन्य कारणों से भी होता है ॥२८॥

राज्य-विप्लव या आक्रमण से होनेवाले आवेग में शस्त्रास्त्रों का ढूँढ़ना और और हाथी-घोड़े आदि शा सजाया जाना होता है ।

वायु के (आँधी) द्वारा होने वाले आवेग में धूल-धूसरित हो जाना, तथा जल्दी-जल्दी चलना आदि बातें होती हैं ।

वर्षा से होनेवाले आवेग में शरीर को सिकोड़ लेना होता है। उत्पातों से होनेवाले आवेग में अंगों में शिथिलता आ जाती है।

इष्ट से होनेवाले आवेग में हर्ष और अनिष्ट से होनेवाले में शोक परिलक्षित होता है। अग्नि से होने वाले आवेग में धूम के कारण व्याकुलता छा जाना देखा जाता है।

और हाथी के द्वारा होनेवाले आयेग में भय, स्तम्भ, कम्प और भागने का प्रयत्न देखा जाता है।

राज-विप्लव से होनेवाले आवेग का उदाहरण—"जल्दी आओ, जल्दी आओ, घोड़ों को तैयार करो, अरे जल्द मुझे तलवार दो, कटार और कवच लाओ। अरे क्या मेरे शरीर में वाण भी लग गया? इस प्रकार के वचन, जंगल में छिपे हुए आपके शत्रु स्वप्न में आपके दर्शन-मात्र से आपस में चिल्लाने लगते हैं।" इत्यादि।

और भी—"शरीर का रक्षक कवच कहाँ है? कवच कहाँ हैं? शस्त्र कहाँ है? इत्यादि वचनों को कहते हुए आपके प्रसिद्ध वीर शत्रु देखे गए।"

अथवा—"ये ऋषि-कन्याएँ जो वृक्षों के आलवालों में जल सींच रही थीं सहसा उसे छोड़ आकुल हो क्या देख रहीं हैं? आश्रम के ये बच्चे भी वृक्षों के ऊपर चुप्पी साधे चढ़ रहे हैं। इसके अलावा तपस्या में रत वानप्रस्थ भी अपनी समाधियों को भंग करके पैर के अग्रभाग पर खड़े हो अपने आसन से ही देख रहे हैं।"

आँधी से होनेवाला आवेग—

जैसे—'हवा के झोंकों से उत्तरीय वस्त्र इधर-उधर बिखर जाता है।'

वर्षा से होने वाला आवेग—

जैसे—"मूसलाधार वृष्टि में भोजन बनाने के लिए अग्नि की खोज में स्त्रियाँ कीचड़ के डर से फलकों (बीच-बीच में रखी हुइ ईंटों आदि) के ऊपर पैर रखकर और पानी से बचने के लिए सूप की छतरी ओढ़कर, ओरियों के पानी को हाथ से फेंक-फेंककर एक घर से दूसरे घर जा रही हैं।"

उत्पात से होनेवाला आवेग—

जैसे—"रावण की मोटी-मोटी भृजाओं के द्वारा उठाए हुए कैलाश के हिलने से चंचल नेत्रवाली प्रिया पार्वती के साथ झूठ-मूठ के दिखलावटी कोप के बहाने आलिंगनपूर्वक भगवान् शंकर का हँसना आप लोगों का कल्याण करे।"

अहित अर्थात् अनिष्ट के द्वारा होनेवाला आवेग देखने और सुनने दो कारणों से होता है। जैसे 'उदात्तराघव' में—चित्रमय (वेग के साथ)—भगवान् रामचन्द्र, रक्षा करो, रक्षा करो, इत्यादि।

"फिर मृगरूप को छोड़ विशाल भयानक शरीर बनाकर इस राक्षस के द्वारा युद्ध के विषय में सशंकित लक्ष्मण ले जाए जा रहे हैं।"

राम—"अभय का समुद्र अर्थात् अत्यन्त निडर लक्ष्मण इस राक्षस से भयान्वित है, यह कैसे हो सकता है? और इधर यह कहने वाला व्यक्ति भी डरा हुआ-सा कह रहा है, इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि क्या सच है और क्या झूठ? और जानकी को अकेले छोड़कर जाना भी उचित नहीं है क्योंकि गुरुजनों ने मुझसे यह कहा है कि अकेले जानकी को मत छोड़ना। इस प्रकार से से अकुलाई हुई मेरी बुद्धि न तो जाने ही के लिए निर्णय दे रही है और न रुकने ही के लिए। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।"

इष्ट-प्राप्ति से होनेवाला आवेग

जैसे—वही पर (पटाक्षेप के साथ सम्भ्रान्त वानर का प्रवेश) 'महाराज! पवनसुत हनुमान के आगमन से उत्पन्न प्रहर्ष है।' इत्यादि से आरम्भ कर 'महाराज के हृदय को आनन्द देनेवाला मधुबन विदलित कर दिया गया।' यहाँ तक।

अथवा जैसे 'महावीर चरित' में—

"पूर्णिमा के चन्द्र के समान रघुकुल को आनन्द देनेवाले बेटे रामचन्द्र, आओ, आओ, मैं तुम्हारे मस्तक को चूमना तथा आलिंगन करना चाहता हूँ। मेरे मन में आ रहा है कि तुम्हें अपने हृदय में रखकर दिन-रात ढोया करूँ अथवा कमलवत् चरणों की ही वन्दना करूँ।

अग्नि से होनेवाला आवेग—

जैसे—"त्रिपुरासुर के नगर के दाह के समय भगवान् शंकर के शर से निकली हुई अग्नि वहाँ की युवतियों के अंगों में लग जाती है तो वे उसे झटककर आगे बढ़ती हैं। जब आगे बढ़ने लगती हैं तो वह उनके आँचल को पकड़ लेती है और यदि किसी प्रकार इससे भी बच निकलती हैं तो केशों में लग जाती है और यदि यहाँ भी उनको त्राण मिल गया तो वह पैरों में लग जाता है। इस प्रकार सद्यः अपराध किए हुए अपराधी के समान आचरण करनेवाली भगवान् शंकर की शराग्नि आप लोगों के पापों को नष्ट करे!"[1]

अथवा जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—

---

१. संस्कृत में अग्नि शब्द पुल्लिंग है पर हिन्दी में स्त्रीलिंग। कवि ने अग्नि को लम्पट-पुरुष रूप में अंकित किया है, इसलिए हिन्दी में यद्यपि अग्नि को स्त्रीलिंग में ही प्रयोग किया गया है पर अर्थ लगाते समय भावकों को पुल्लिंग ही समझ लेना चाहिए अन्यथा श्लोक का भाव ही बिगड़ जाएगा।

ऐन्द्रजालिक के द्वारा सागरिका को अग्नि में जलते हुए दिखाए जाने पर महाराज उदयन उसको बचाने को चेष्टा करते हुए अग्नि से कहते हैं--

"अग्नि, तू अपना अत्याचार बन्द कर शान्त हो जा, अपने धूम से कष्ट देना छोड़ दे, तेरी ऊँची-ऊँची अग्नि की चिनगारियों से मैं डरनेवाला नहीं हूँ। प्रलयाग्नि के सदृश प्रिया की विरहाग्नि में जो (मैं) न जल सका उसका तू क्या बिगाड़ सकती है !"

हाथी के द्वारा होनेवाला आवेग--

जैसे 'रघुवंश' में—

"उस विशाल जंगली हाथी को देखते ही सब घोड़े भी रस्सा तुड़ा-तुड़ाकर भाग चले। इस भगदड़ में जिन रथों के धुरे टूट गए वे जहाँ-तहाँ गिर पड़े। सैनिक लोग अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिए सुरक्षित स्थान ढूँढ़ने लगे। इस प्रकार अकेले उस मदमत्त हाथी ने सेना में भारी भगदड़ मचा दी।"

तर्को विचारः संदेहाद्भ्रू शरोऽगुंलनर्तकः।

वितर्क--सन्देह को हटाने के लिए उत्पन्न विचारों को तर्क कहते हैं। इसमें व्यक्ति अपनी भौंहों, अंगों, सिर और अँगुलियों को नचाता है।

जैसे—

लक्ष्मण अपने-आप सोच रहे हैं--"क्या भरत ने लोभ के चक्कर में पड़कर इस प्रकार से मर्याद का अतिक्रमण तो नहीं किया? अथवा मेरी मँझली माँ ने स्त्रीजन्य स्वाभाविक लघुतावश स्वयं ही ऐसा कर्म कर डाला? पर मेरा इस प्रकार का सोचना-विचारना ठीक नहीं है क्योंकि भरत बड़े भाई आर्य राम के लघु भ्राता हैं और मँझली माँ भी मेरे पुण्यश्लोक पिता महाराज दशरथ की धर्मपत्नी हैं।

अथवा—"यदि ऐसी बात नहीं है तो गुणों में श्रेष्ठ तथा अभिषेक के यथार्थ अधिकारी बड़े भाई राम को सिंहासनच्युत करने में किसकी कारणता स्वीकार करूँ? (फिर सोचकर) मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरे पुण्यों का ही यह फल है जिसके वश ब्रह्मा ने इसी बहाने मुझे सेवा करने का अवसर प्रदान किमा।"

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया।

अवहित्था--लज्जा आदि भावों के कारण उत्पन्न अङ्ग के विकारों के छिपाने को अवहित्था कहते हैं।

जैसे 'कुमारसम्भव' में--

"देवर्षि नारद जिस समय इस प्रकार की (पार्वती के विवाह-सम्बन्धी) बातें कर रहे थे उस समय पार्वतीजी अपने पिता के पास मुँह नीचा करके लीला-कमल के पत्ते बैठी गिन रही थीं।

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥ २९ ॥

व्याधि--सन्निपात रोग आदि को व्याधि कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन और ग्रन्थों में है इसलिए यहाँ पर इसका वर्णन संक्षेप में ही किया जा रहा है ॥ २९ ॥

जैसे—

कोई दूती किसी नायक से उसकी नायिका की विरहजनित पीड़ा का वर्णन करती हुई कह रही है—"अनवरत प्रवहमान आँसुओं को उसने अपने सम्बन्धियों के जिम्मे और चिन्ता गुरुजनों के लिए, अपनी सारी दीनता कुटुम्बियों और सखियों के हवाले कर दिया है। इस प्रकार श्वास-प्रच्छ्वासों के द्वारा परम दुखी वह ऐसी लग रही है गोया एक या दो दिन की ही और मेहमान है। इस प्रकार उसने अपने सारे दुखों को यथोचित स्थानों में बाँट दिया ह अतः अब आप विश्वस्त रहें।"

अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।
अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादयः ॥३०॥

उन्माद--बिना सोचे-समझे काम करने को उन्माद कहते हैं। यह सन्निपात आदि शारीरिक रोगों से तथा ग्रह आदि अन्य कारण से भी होता है। इसमें रोना, गाना, हँसना आदि बातें पाई जाती हैं ॥ ३० ॥

जैसे--

"अरे क्षुद्र राक्षस, ठहर-ठहर, मेरो प्रियतमा को लिये कहाँ जा रहा है ?··· क्यों क्या ?····अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है, राक्षस नहीं है। और यह जो टप-टप की आवाज़ आ रही है यह उस राक्षस के बाण नहीं अपितु बूँदें हैं तथा यह जो कसौटी पर बनो सोने को रेखा के समान चमक आ रही है यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं अपितु बिजली है।"

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ ३१ ॥

विषाद--किसी आरम्भ किये हुए कार्य में सफलता ने प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य खो जाने को विषाद कहते हैं। इसमें निःश्वास और उच्छ्वास का निकलना, हृदय में दुःख का अनुभव करना और सहायकों को ढूढ़ना आदि बातें पाई जाती हैं ॥ ३१ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में—

"हाय ! आर्या ताडिका ! क्या कहा जाय, तितलौकी जल में डूब रही है और पत्थर तैर रहे हैं।"

"मनुष्य के बच्चे के द्वारा इस प्रकार की अद्‌भुत पराजय को प्राप्त करना निश्चय ही राक्षसपति के स्खलित प्रताप का सूचक है। इस प्रकार का अपने इष्टमित्रों का विनाश देखकर भी जीवित बचा हुआ मैं दीनता और वार्धक्य से जकड़ लिया गया हूँ, क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता !"

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसंभ्रमैः ।
तत्रोच्छ्‌वासत्वनिःश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमा ॥३२॥

औत्सुक्य—किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से अथवा प्रेमास्वाद की घबराहट के कारण समय न बिता सकने को औत्सुक्य कहते हैं। इसमें श्वास प्रच्छ्‌वास का आना, हड़बड़ी, हृदयकी वेदना, पसीना और भ्रम आदि बातें पाई जाती हैं ॥ ३२ ॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"अपने इस सजीले रूप को देखकर पार्वती ठक रह गईं और महादेवजी से मिलने के लिए मचल उठीं, क्योंकि स्त्रियों का श्रृंगार तभी सफल होता है जब उसे पति देखें।"

अथवा उसी 'कुमारसम्भव' का यह पद—

"पार्वती से मिलने के लिए महादेवजी इतने उतावले हो गये कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी कठिनाई से काटे। बताइये, जब महादेव जैसे लोगों की प्रेम में यह दशा हो जाती है तो भला दूसरे लोग अपने मन को कैसे सँभाल सकते हैं।"

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्संनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ ३३ ॥

चपलता—राग, द्वेष, मात्सर्य आदि के कारण एक स्थिति में न रह सकने को चपलता कहते हैं। इसमें भर्त्सना, कठोर वचन, स्वच्छन्द आचरण, आदि लक्षण पाए जाते हैं ॥३३॥

जैसे 'विकट नितम्बा' का यह पद—

"हे भ्रमर ! तू अपने चञ्चल मन का रमणस्थल ऐसी सुन्दर लता को बना जो तेरी मसलन बरदाश्त कर सके। पर जिसमें रज का प्रारम्भ ही अभी नहीं हो पाया है ऐसी नूतन नवमल्लिका की कलियों को अकाल ही में कष्ट पहुँचाना तो ठीक नहीं है।"

अथवा जैसे—

विकट नितम्बा कह रही हैं—"परस्पर संघर्षण से शब्दयुक्त कठोर दाँत रूपी आरों से भरा हुआ कन्दरा के समान मध्य भाग वाला मेरा मुख क्या प्रकुपित होकर अभी-अभी तुम्हारे ऊपर गिरे ?"

उपरिकथित भावों के अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ इन्हीं सबके भीतर विभाव, अनुभाव आदि स्वरूपों के द्वारा आ जाएंगी। अतः उनको अलग नहीं गिनाया गया।

स्थायीभाव

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान्स स्थायी लवणाकरः ॥३४॥

स्थायीभाव—विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जिसका प्रवाह विच्छिन्न न हो तथा जो अन्य भावों को आत्मसात् कर ले उसे स्थायी भाव कहते हैं ॥ ३४ ॥

सजातीय एवं विजातीय भावान्तरों से जो तिरस्कृत न होकर काव्य में उपनिबद्ध होते हैं, उन रत्यादि भावों को स्थायी भाव कहते हैं। उदाहरणार्थ, वृहत्कथा में नरवाहनदत्त का मदनमञ्जुका के प्रति जो अनुराग है वह अन्य नायिकाओं के अनुराग से टूटता नहीं है. अर्थात् यहाँ सजातीय अनुरागों से मदनमंजुका के अनुराग में बाधा नहीं पहुँचती है। उसका प्रवाह गतिशील ही बना रहता है।

विजातीय भावों से स्थायी का उदाहरण मालतीमाधव के श्मशानाङ्क में माधव का मालती के प्रति अनुराग में दिखायी देता है। यहाँ यद्यपि माधव की चित्तवृत्ति बीभत्स रस से आप्लावित हैं, जो एक विजातीय भाव है, फिर भी इससे मालती के प्रति जो रति की भावना है वह टूटती नही है। वहाँ उसके हृदय में मालती का करुण क्रन्दन कुछ क्षण के लिए दबे हुए रति भाव को जगा देता है। माधव का यह सोचना इसमें प्रमाण है—

"मेरे उस संस्कार के जागृत रहने से प्यारी की स्मृति-धारा इतनी प्रबल हो गई है कि न तो उसका प्रवाह दूसरी बातों द्वारा रोके रुकता है और न उसके मार्ग में कोई विषयान्तर का विचार बाधा पहुँचा सकता है। बात तो यह है कि उसके अविराम स्मरण होने से मेरे अन्तःकरण की वृत्ति तदाकार (प्रियतमाकार) हो गई है। भीतर, बाहर सर्वत्र उस प्राणप्यारी का रूप दृष्टिगोचर हो रहा हैं। बस इसी ज्ञान-ध्यान ने मुझे तत् (प्रियतमा)—मय बना दिया है।"

अतः इस प्रकार से विरोधी और अविरोधी का समावेश काव्य में स्थायी का बाधक नहीं होता क्योंकि विरोधी दो प्रकार का होता है—

१. सहानवस्थान और २. बाध्यबाधकभाव।

यहाँ पर दोनों प्रकार के विरोधों की सम्भावना नहीं है क्योंकि इसका पार्यन्तिक अवसान एकाकार होकर होता है।

स्थायी के विरोध-स्थल में 'सहानवस्थान' हो नहीं सकता क्योंकि रत्यादि

भावना से उपरक्त अन्तःकरण में अविरोधी व्यभिचारियों का उपनिबद्धन स्रक्-सूत्र न्याय से समस्त भावकों की अपनी समवेदना से सिद्ध है।

जैसे वह अनुभव से सिद्ध है वैसे ही काव्य-व्यापार के आवेश में अनुकार्य में भी निवेशित किया हुआ साधारणीकरण के माध्यम से उसी प्रकार आनन्दात्मक ज्ञान के उन्मीलन में कारण बनता है। अतः भावों का सहानवास्थान सम्भव नहीं है।

रहा **'बाध्य बाधक भाव'**—इसका तात्पर्य है 'एक भाव का दूसरे भाव से तिरस्कृत हो जाना', सो वह स्थायीभावों के अविरोधी व्यभिचारियों से हो नहीं सकता, क्योंकि वे स्थायी के अविरोधी इसीलिए तो हैं। यदि वे व्यभिचारी भाव प्रधान (स्थायीभावों) के विरोधी ही हो जाएँ तो फिर उनकी अंगता (अप्रधानत्व) ही कहाँ रह जाएगी ? इसी प्रकार आनन्तर्य विरोध का भी परिहार हो जाता है। इसका उदाहरण मालतीमाधव में देखा जा सकता है जहाँ शृंगार के अनन्तर बीभत्स का वर्णन होने पर भी—यद्यपि इनका पारम्परिक विरोध है—इस स्थल में किसी प्रकार की विरसता पैदा नहीं होती। अतः यदि ऐसी बात है तो एक आलम्बन के प्रति विरुद्ध रस भी, यदि किसी अविरोधी रसान्तर से व्यवहित होकर उपनिबद्ध हो तो वहाँ विरोध नहीं हो सकता। [यहाँ उदाहरण रूप में अपभ्रंश का एक दोहा है जिसे प्राकृत का अस्पष्ट श्लोक मानकर व्याख्याकारों ने छोड़ दिया है। मूलवृत्ति की टिप्पणी में हमने इसकी व्याख्या का प्रयत्न किया है।]

प्रश्न—हाँ (मैंने) मान लिया कि जहाँ एक तात्पर्य से विरुद्ध और अविरुद्ध भावों को अङ्ग रूप से रखा जाता है उनमें कोई विरोध नहीं होता क्योंकि एक प्रधान रहेगा दूसरा (विरुद्ध और अविरुद्ध) उसका अंग रहेगा, अतः विरोध नहीं होगा पर जहाँ पर दोनों समप्रधान रहेंगे वहाँ पर क्या स्थिति होगी ? जैसे निम्नलिखित श्लोक में—

"एक तरफ प्रिया रो रही है, दूसरी तरफ समर-दुन्दुभि का निर्घोष हो रहा है, अतः प्रेम और रण के आवेग से वीर का मन दोलायित हो रहा है।"

यहाँ रति और उत्साह सम प्रधान हैं। इसी प्रकार नीचे के श्लोक में—

"हे सज्जन लोग, आप कपट को छोड़ निष्पक्ष दृष्टि से विचार करके मर्यादा के साथ निर्णय दें कि पर्वतों की कंदराएँ सेवन के योग्य हैं। अथवा कामदेव के बाणों से विद्ध विलासिनियों के नितम्ब ?"

यहाँ पर रति और शम भाव की समप्रधानता है। ऐसी ही—रावण की यह उक्ति है—"इधर यह (सीता) तो त्रिभुवन की सुन्दरियों में श्रेष्ठ चंचल नेत्रवाली है और उधर यह दुष्टात्मा वही है जिसने मेरी बहन के साथ दुर्व्यवहार

(शूर्पणखा की नाक काटना) किया है। इधर इसको देख काम कीं बलवती लालसा जागृत होती है उधर उसे देख क्रोध के मारे सारा शरीर जल उठता है। और मैंने भी तो अपने वेष की रचना (साधु वेष) भी विचित्र ही कर ली है, क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आ रहा है ?''

यहाँ पर रति और क्रोध इन दोनों स्थायीभावों का समप्राधान्य है। ऐसे ही—

"इन पिशाचिनियों ने अन्तड़ियों का रक्षासूत्र बाँध रखा है। इन्होने स्त्रियों के हाथ रूपी रक्तकमल का शिरोभूषण धारण किया है। और मुण्डों और हृदय-प्रदेश-रूपी कमल से माला गूँथकर अपने को सजाया है। इन्होंने रक्त के कीचड़ से ही कुंकुम का लेप किया है तथा ये कपालरूपी प्याले में भर-भरकर अस्थियों में बची हुई चर्बी को प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने प्रियतम के साथ पी रही हैं।"

यहाँ पर रति और जुगुप्सा का सम प्राधान्य है। और जैसे—

"भगवान् शंकर अपने एक नेत्र को समाधिस्थ किए हुए हैं और दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल और उनके स्तन प्रदेश पर शृंगार-भार से अलसाया हुआ है तथा तीसरा नेत्र दूर से चाप मारने वाले कामदेव के ऊपर क्रोधाग्नि फेंक रहा है। इस प्रकार समाधि के समय भिन्न-भिन्न रसों का आस्वाद लेनेवाले भगवान् शंकर के तीनो नेत्र हमारी रक्षा करें।"

यहाँ पर शम और रति स्थायीभावों का समप्राधान्य है।

ऐसे ही—

"संध्याकाल में प्रियतम के वियोग की आशंकावाली चक्रवाकी अपने एक नेत्र से क्रोध के साथ आकाश में विचरण करनेवाले सूर्य विम्ब को देख रही है तथा अपने दूसरे नेत्र से आँखों में आँसू भरकर अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार दो संकीर्ण रसों की रचना वह (चक्रवाकी) प्रगल्भा नर्तकी के समान सूर्यास्त होने के समय में कर रही है।"

यहाँ पर रति, शोक और क्रोध इन तीन स्थायीभावों का सम प्राधान्य है, तो फिर यहाँ इनका आपस में विरोध कैसे नहीं होगा ?

उत्तर—इन स्थलों में भी एक स्थायीभाव है, क्योंकि 'एक्कत्तो रुअइ पिया' (एक तरफ प्रिया रो रही है········) इस स्थल में उत्साह स्थायीभाव है। यहाँ वितर्क है व्यभिचारी भाव और इस व्यभिचारी भाव का जनक होता है सन्देह तथा उस सन्देह की व्यक्ति के लिए (प्रिया रुदन) करुणा एवं रुदन का ग्रहण है। अतः उत्साह स्थायीभाव होने से यहाँ वीर रस का ही पोष होता है। इस पक्ष में 'भट' पद का उपादान और भी प्रमाण रूप में है। इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं कि करुण एवं उत्साह का समप्राधान्य पारस्परिक अंगांगिभाव का प्रति-

बन्धक हैं। दूसरी बात यह भी है कि जब संग्राम का आरम्भ हो चुका हो उस समय सुभट लोग कार्यान्तर में प्रवृत्त हों, यह तो महान् अनुचित है। अतः भर्त्ता की संग्राम में यह रसिकता शौर्य को ही प्रकाशित करती हैं। और फिर प्रियतमा के करुण विप्रलम्भ से वीर रस का ही पोष होता है। अतः दोनों समप्रधान नहीं, प्रत्युत अंगांगिभावापन्न हैं।

इसी प्रकार 'मात्सर्य·····' इत्यादि श्लोक में चिरकाल से प्रवृत्त रति वासना का हेय बुद्धि से उत्पादन होने के कारण शमभाव के प्रकाशन में तत्परता जान पड़ती है। और इसके पोष में 'आर्या सपर्यादमिदं वदन्तु' में 'वदन्तु' बद्ध परिकर होकर खड़ा है। इसी प्रकार 'इयं सा लोलाक्षी ···आदि' इत्यादि में रावण प्रति-पक्ष नायक है और वह निशाचर होने से माया-प्रधान है। अतः निशाचर प्रकृति के व्यक्ति में रौद्ररस का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ रति एवं क्रोध के व्यंजक का ग्रहण सन्देह का प्रत्यापक है जिससे 'वितर्क' व्याभिचारी भाव का जन्म होगा, और इस वितर्क व्यभिचारी भाव का रौद्ररस के पोष के लिए ग्रहण आवश्यक है।

'अन्नैः कल्पित मंगल प्रतिसराः' इत्यादि श्लोक केवल हास्यरस का ही व्यंजक है। 'एकं ध्यान निमीलनात्' इत्यादि भी एकमात्र 'शम' के प्रत्यायन में तत्पर है। यहाँ 'शम' भाव में स्थिति शम्भु की विलक्षणता है। फिर विलक्षण योगी के 'शम' को भावान्तर स्खलित करें यह असम्भव है। इसी पक्ष का पोष करने वाला 'समधिसमये' यह पद भी है। 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादि में समस्त वाक्य भावी विप्रलम्भपरक ही है।

(यह स्थिति तो अश्लिष्टार्थक श्लोकों में रही) पर श्लिष्ट श्लोकों में जहाँ अनेक रसों के तात्पर्य से पद पदार्थों की संघटना है वहाँ पर भी विरोध की सम्भावना नहीं है। कारण यह है कि विरोध समप्राधान्य रहने पर होता है। श्लिष्ट स्थल में दो स्थितियाँ हो सकती हैं—पहली तो वह जहां, दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव स्थापित हो जाता हो और दूसरी वह जहाँ दोनों अर्थ स्वतन्त्र हों। इस प्रकार प्रथम स्थिति में उपमान वाच्य का अंग बन जाएगा। अतः दोनों वाक्यों में अंगांगिभाव की व्यवस्था सम्भव है। अतः समप्राधान्य नहीं है। दूसरी स्थिति में भी पृथक्-पृथक् वाक्यार्थ दो विभिन्न रसों के प्रतिपादन में तत्पर होंगे। इस स्थिति में भी प्रति वाक्य पीछे एक अर्थ की ही प्रधानता रहेगी। इस तरह से यहाँ अनेक प्राधान्य सम्भव न होने से उक्त प्रकार का विरोध असम्भाव्य ही है। उदाहरणार्थ—

[सुदर्शनकर] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है। [अथवा सुदर्शन चक्र होने से सुदर्शनकर विष्णु] जिन्होंने केवल चरणारविन्द के सौन्दर्य से [अथवा

पाद निक्षेप से] तीनों लोकों को आक्रान्त किया है और जो चन्द्ररूप [से केवल] नेत्र को धारण करते हैं [अर्थात् जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्ररूप है] ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापी सौंदर्यशालिनी, सर्वांग सौंदर्य से त्रैलोक्य विजय करने वाली और सम्पूर्ण चन्द्रसदृश मुख को धारण करनेवाली जिन [रुक्मिणी] को उचित रूप से ही अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा वह रुक्मिणीदेवी तुम सबकी रक्षा करें।

[यहाँ व्यतिरेक की छाया को परिपुष्ट करनेवाला श्लेष वाच्य रूप से प्रतीत होता है।]

इस प्रकार उक्त विधि से रत्यादि स्थायीभावों का उपनिबन्धन करने से सर्वत्र विरोध की स्थिति परिहृत हो जाएगी। जिस प्रकार उन वाच्यों का भी, जिनमें इत्यादि वाचक पद उपनिबद्ध हैं, तात्पर्य एक ही स्थायीभाव में है, इस बात को हम आगे दिखाएँगे। वस्तुतः 'यथावाश्रूयमाण' का खण्ड करना चाहिए—'वा + अश्रूयमाण इत्यादि'—अर्थात् उन वाच्यों का तात्पर्य जिनमें रत्यादि स्ववाचक शब्द से उत्पन्न न हों तभी तो व्यंजन के द्वारा आ सकने पर रसोपयोगी स्थायित्व को प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा वाच्य वृत्ति से आलिंगित रहने पर तो रत्यादि भाव नहीं कहे जा सकेंगे और फिर उनके लिए स्थायित्व की प्राप्ति असम्भव हो जायगी।

और वे [स्थायीभाव निम्नलिखित हैं]—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

'रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, स्मय, भय, शोक, ये आठ स्थायीभाव हैं। कुछ लोग शम को भी स्थायीभाव मानते हैं पर इसकी पुष्टि नाट्य में नहीं होती।: ३५ ॥

इस स्थल में प्रतिवादियों की शान्तरस से अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं। उनमें से एक दल का कहना है कि शान्त नाम का कोई रस नहीं है। इसमें कारण है आचार्य के द्वारा इसके विभावादिकों का वर्णन न करना तथा लक्षण का अभाव।

कुछ का कहना है कि केवल आचार्य भरत ने विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया, इसीलिए शान्तरस नहीं है यह बात नहीं है, प्रत्युत वस्तुतः ही शान्तरस नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है—शम की पुष्टि ही शान्त है और शम की उत्पत्ति राग द्वेष के समूल नष्ट होने पर निर्भर करती है। यह राग-द्वेष जो अनादिकाल से अन्तःकरण में चलता चला आ रहा है, उसका उच्छेद वास्तविकता के बिना व्यावहारिक अवस्था में होना भी असम्भव है।

तीसरा दल यह कहता है कि शान्तरस का अन्तर्भाव वीर, वीभत्स आदि ही में किया जा सकता है। इस प्रकार कहते हुए वे 'शम' भाव का भी खंडन कर देते हैं।

चाहे जो भी हो, पर इतना तो सुनिश्चित है कि रूपकों में शम का स्थायित्व मुझे ग्राह्य नहीं है। कारण यह है कि नाट्य अभिनयात्मक होता है और 'शम' समस्त व्यापारों का प्रविलय रूप है। अतः इन दोनों (शम और अभिनय) का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार इर दोनों का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता।

कुछ लोगों ने नागानन्द में 'शम' को स्थायीभाव माना है। उनके कथन का स्पष्ट विरोध पूरी कथा में वर्णित मलयवती के अनुराग एवं विद्याधर की चक्रवर्तित्व प्राप्ति से है। कहने का भाव यह है कि यदि जीमूतवाहन शम प्रधान होता तो उसे मलयवती में अनुराग ओर चकवर्तित्व की प्राप्ति स्वीकार नहीं होती। एक ही अनुकार्य स्वरूप विभाव का आश्रय करके परस्पर विरोधी शम एवं रति (शान्त एवं शृंगार) की उपलब्धि कहीं भी नहीं देखी गई। अतः वस्तुतः वहाँ दयावीर के स्थायीभाव उत्साह का का ही उपनिवन्धन मानना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ शृंगार का अंगभाव तथा चकवर्तित्व की प्राप्ति का विरोध हट जाता है। कर्तव्यमात्र से इच्छा चिपकी रहती है। अतः परोपकार रूप कर्तव्य में साभिलाष प्रवृत्त विजिगीषु (विजय की इच्छा रखनेवाले) को फल की प्राप्ति अवश्यंभावी है। साभिलाष कर्तव्य और फल का नित्य सम्बन्ध है। इस विषय की चर्चा द्वितीय प्रकाश में ही पर्याप्त रूप से की जा चुकी है। अतः वस्तुतः आठ हो स्थायी (भाव) होते हैं।

प्रश्न—उक्त सिद्धान्त पर कुछ लोगों की यह अरुचि है कि वस्तुतः मधुर शृंगार आदि रसों के समान ही इन निर्वेद आदिकों की रस रूप की प्राप्ति रसन अर्थात् आस्वाद के कारण ही है। क्योकि जिस प्रकार शृंगार आदि आस्वाद्य होने के कारण रस कहे जाते हैं वह आस्वादरूपता जब शम आदि में भी पर्याप्त दिखाई देती है तो क्यों उन्हें रस क्यों न माना जाये ? इन युक्तियों से अन्य रसों की भी कल्पना कर उनके विभिन्न स्थायी भावों की कल्पना की गई है। फिर इस प्रकार जब कई रस हो सकते हैं तो 'अष्टावेव' में रसों की संख्या को आठ ही में बाँधना कहाँ तक युक्ति-संगत है ?

उत्तर—[इसका उत्तर आचार्य निम्नलिखित प्रकार से देते हैं–]

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥ ३६ ॥

निर्वेद आदि भाव अपने विरोधी एवं अविरोधी भावों में उच्छिन्न हो जाते हैं, अतः स्थायित्व के मूल कारण का अभाव होने से ये अस्थायी हैं। फिर इनमें भला रस कोटि का आस्वाद हो कैसे सकता है? इस स्थिति में भी यदि इसे स्थायी मानकर इसकी अन्य रसों की भाँति पोष करने के लिए सामग्रियाँ इकट्ठी की जाएँगी तो उनसे वैरस्य उत्पन्न होने को छोड़ सरसता कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती ॥ ३३ ॥

किसी भी भाव के स्थायी होने का तात्पर्य है, उसका विरोधी एवं अविरोधी भावों से उच्छिन्न न होना, पर निर्वेदादिकों में यह स्थिति न होने के कारण इन्हें हम स्थायी नहीं कहेंगे। उनका स्थायी की भाँति आस्वाद न होने के कारण अपने व्यभिचारी भाव चिन्ता आदि का बीच-बीच में निक्षिप्त होने से परिपुष्ट किया जाता हुआ भी वस्तुतः विरसता ही बनी रहती है। इसकी स्थायिता का कारण इसकी निष्फलता नहीं है अन्यथा हास्यादिकों के भी स्थायीभावों की निष्फलता-वशात् अस्थायित्व हो सकता है। हास्यादिकों में इस दोष (निष्फलता) से मुक्ति पाने के लिए यदि यह कहा जाए कि हास्य के स्थायीभाव की परम्परा सफलता लिए हुए हैं, निष्फल नहीं है, क्योंकि राजा आदि दर्शक सम्भव है प्रसन्न होकर धन-सम्पत्ति का दान नटों को प्रदान कर सकते हैं। अतः हास्य आदि की सफलता उसके स्थायित्व की साधिका ही होंगी, प्राप्ति की बाधिका नहीं।

पर स्थिति यह है कि यदि इस प्रकार परम्परा या फल-कल्पना की चर्चा तो शान्त आदमियों के भी स्थायीभावों को है फिर तो यह (शांत) भी स्थायी भाव की कोटि में आ जाएगा। अतः निष्फलता स्थायीभाव का प्रयोजन नहीं है, प्रत्युत विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावों से उच्छिन्न न होना ही स्थायिता का प्रयोजन है। निर्वेद आदि में इस प्रयोजन के न होने से उनकी स्थायिता नहीं बन सकती। अतः निर्वेद आदि को रसत्व की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसलिए अस्थायी होने के कारण इसकी अरसता है अर्थात् ये रस नहीं हो सकते।

अब विचारणीय यह है कि इन भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? काव्य से भावों का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि भाव भी स्वशब्द से कथित नहीं होते अपितु विभावादिकों द्वारा बोध्य होते हैं। श्रृंगार आदि रसों से युक्त काव्यों में श्रृंगार आदि अथवा रत्यादि शब्द कभी भी श्रुतिगोचर तो होते नहीं जिससे हम इन भावों के अथवा इनके वर्द्धमान स्वरूप को अभिधेय कहते। अथवा मान लिया जाए कहीं रत्यादिकों का स्वशब्दवाचक शब्द (रति या श्रृंगार) से बोध होता भी हो तो वहाँ इसकी आस्वाद्यता का कारण वह अभिधेयक शब्द नहीं होता प्रत्युत विभाव आदि के ही कारण इसकी रसरूपता

सम्भव है, केवल अभिधायक शब्द मात्र से ही वह आस्वाद्य होता हो ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

भावों का काव्य के साथ लक्ष्य-लक्षक भाव-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, क्योंकि विशेष रस की प्रतीति के लिए सामान्य पद (रस) का प्रयोग होता ही नहीं है। रस सामान्यवाचक है और प्रतीति किसी विशेष रस की होती है। सामान्य रस, शृंगार आदि विशेष के वाचक हो नहीं सकते।

यहाँ लक्षित लक्षणा भी नहीं हो सकती है क्योंकि जिस प्रकार 'गंगा में घोष (घर) है' इस स्थल में स्रोत-स्वरूप गंगा में घोष की आधारता (रहना) सम्भव नहीं है, अतः गंगा शब्द विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने में पूर्णतः असफल है। फलतः स्वार्थ स्रोत से नित्य सम्बद्ध तटरूप अर्थ को वही गंगा शब्द लक्षित करता है। इसी प्रकार किसी भी रस की प्रतिपत्ति कराने के लिए प्रयुक्त शब्द विवक्षितार्थ के बोध कराने में स्खलित गति (असमर्थ) नहीं होता है तो फिर भला वे क्यों लक्षणा से रस की प्रतीति कराएँगे ? यदि बलात् इन पदों की लक्षणा की भी जाए तो हम यह पूछते हैं कि भला ऐसा कौन होगा जो रूढ़ि या प्रयोजन के बिना ही अन्यार्थ में अन्यार्थवाचक शब्द का औपचारिक प्रयोग करेगा ? इन कारणों से ही 'सिंहो माणवकः' आदि की भाँति गुणवृत्ति की भी सम्भावना नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि रस वाच्य रूप से प्रतीत होता तो इस स्थिति में वाच्य-वाचक मात्र का ज्ञान रखनेवाले असहृदयजनों को भी काव्य के रस का आस्वाद होने लगता।

यह रस की प्रतीति केवल काल्पनिक नहीं है जो इसे नकारा (अस्वीकार करना) जा सके, क्योंकि सभी सहृदय रस की सत्ता का एक मत हो समर्थन करते हैं। इसलिए इस अर्थ की सिद्धि के लिए परि-कल्पित अभिधा, लक्षणा एवं गौणी से अतिरिक्त व्यंजकत्व लक्षणवाला व्यंजना-व्यापार स्वीकार करते हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के द्वारा अनुभूत होती हुई रसादि की प्रतीति वाच्य कैसे हो सकती है ? जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"पार्वतीजी फूले हुए नये कदम्ब के समान पुलकित अंगों से प्रेम जतलाती हुईं, लजीली आँखों से अपना अत्यन्त सुन्दर मुख कुछ तिरछा करके खड़ी रह गईं।"

इत्यादि में अनुराग से उत्पन्न होनेवाली जो अवस्था-विशेष रूप अनुभाव है उससे युक्त गिरिजारूप विभाव के वर्णन से ही रस की प्रतीति होती है, यद्यपि रत्यादि वाचक शब्द वहाँ नहीं। अन्य रसों के विषय में भी ऐसा ही समझना

चाहिए। केवल रस ही की बात नहीं है, वस्तु मात्र में भी यही स्थिति है। जैसे—

"हे धार्मिकजी, आप आनन्द के साथ विचरण करें, क्योंकि जिस कुत्ते से आप डरा करते थे उसे पास ही में गोदावरी नदी के किनारे रहनेवाले सिंह ने मार डाला।"

[यहाँ पर विधि प्रयुक्त भ्रमण है पर व्यंजन या प्रकरण के परिशीलन से निषेध पक्ष में अर्थ की विश्रान्ति होती है]—इत्यादि में निषेध ज्ञान स्ववाचक पद की अनुपस्थिति में भी व्यंजना के कारण ही होता है।

यह बात अलंकारों में भी पाई जाती है। जैसे—

हे चंचल और विशाल नेत्रोंवाली, लावण्य और कान्ति से दिगन्तर को परिपूरित कर देनेवाली तुम्हारे मुख के मन्द-मुस्कान से युक्त होने पर भी इस समुद्र में जरा भी क्षोभ पैदा नहीं होता है, अतः मालूम होता है कि यह वास्तव में मूढ़ता से भरा हुआ है [जलराशि का जड राशि करना पड़ता है क्योंकि संस्कृत में ल और ड में भेद नहीं माना जाता,] इत्यादि में तन्वी का वदनारबिन्द चन्द्र के तुल्य है इत्यादि उपमा अलंकार की प्रतीति व्यंजना शक्ति के ही कारण है। इस प्रतीति को अर्थापत्ति से आया हुआ नहीं कह सकते क्योंकि अर्थापत्ति के लिए अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा रहती है पर व्यंजना के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रतीति को वाच्यार्थ भी नहीं कह सकते क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ है तृतीय कक्षा का विषय। उदाहरणार्थं, 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इत्यादि स्थल में पहले पदार्थ की प्रतीति होती है जो अभिधा का कार्य है। इस प्रथम कक्षा की पदार्थ प्रतीति के अनन्तर द्वितीय कक्षा में क्रिया कारक संसर्ग स्वरूप वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनन्तर तृतीय कक्षा में 'भ्रमण निषेध' स्वरूप व्यंग्यार्थ, जो व्यंजना-शक्ति के अधीन है, स्पष्ट ही भासित होता है। अतः द्वितीय कक्षा में प्रतीति वाक्यार्थ से तृतीय कक्षा में प्रतीति होनेवाला व्यंग्यार्थ सदैव भिन्न है। अतः व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ कथमपि एक नहीं हो सकता।

यद्यपि 'विष खाओ पर इसके घर मत खाओ' इत्यादि वाक्यों में जहाँ पदार्थ-तात्पर्य शब्दतः श्रूयमाण नहीं है, और तात्पर्य है 'भोजन निषेध' आदि। वहाँ वाक्यार्थ की तृतीय कक्षा है ही। इस स्थल में व्यंजनावादी को भी 'निषेधार्थ प्रतीति' वाक्यार्थ मानना ही पड़ेगा, क्योंकि तात्पर्य से ध्वनि सर्वथा भिन्न है। यहाँ निषेध का ही तात्पर्य है व्यंग्य का नहीं और वह स्पष्टतः तृतीय कक्षा का विषय है। तथापि इस प्रकारतात्पर्यार्थ स्वरूप वाच्यार्थ भी तृतीय कक्षा का विषय हो गया, यह कहना ठीक नहीं है।

वस्तुतः 'विषं भुङ्क्ष्व' जैसे वाक्यों का स्वार्थ द्वितीय कक्षा में अविश्रान्त ही रहता है—उस कक्षा में अभिधा की सहायता प्राप्त पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाच्यार्थ से जो द्वितीय कक्षा में प्रतीति होती है—जिज्ञासा शान्त नहीं होती, अतः जब तक स्वार्थ में वाक्यार्थ विश्रान्त न हो तब तक द्वितीय कक्षा ही चलती रहती है। तृतीय कक्षा तो स्वार्थ-विश्रान्ति के अनन्तर प्रारम्भ होती है और उसे व्यंग्य (कक्षा) कहते हैं। यहाँ द्वितीय कक्षा में क्रिया, कारक, संसर्ग, रूप वाक्यार्थ अनुपपन्न इसलिए हैं कि इस वाच्य का प्रवक्ता पिता अपने पुत्र को विष भक्षण में नियुक्त कैसे करेगा ?

पर सरस वाक्यों में विभाव आदि की प्रतीति द्वितीय कक्षा में होती है, रसों की नहीं। अतः रस रूप व्यंग्यार्थ की तृतीय कक्षा निर्विवाद सिद्ध हुई। कहा भी है—"स्वार्थ में प्रतिष्ठित न होने के कारण अविश्रान्त वाक्य जो तात्पर्य बोधित करना चाहता है उस तात्पर्यार्थ में तात्पर्यवृत्ति का ही मानना उचित है। किन्तु जब वाच्य स्वार्थ में विश्रान्त होकर प्रतिष्ठित हो चुका हो और फिर भी किसी अन्य अभिप्रेत अर्थ को बताने में उन्मुख हो तो उस अर्थ में निश्चय ही ध्वनि की स्थिति है।" इस प्रकार सर्वत्र रस सर्वथा व्यंग्य ही रहेंगे। परन्तु वस्तु और अलंकार तो कहीं व्यंग्य और कहीं वाच्य होंगे। इस स्थिति में सभी व्यंग्य ध्वनि नहीं कहे जा सकते, प्रत्युत वहीं जहाँ प्रधानतया तात्पर्य विषय का हो। जहां व्यंग्यार्थ में प्रधान रूप से तात्पर्य नहीं हो, वहाँ व्यंग्य के प्रधान न होने से गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति होगी। कहा भी है—

"जिस स्थान में अपने अर्थ को गुणीभूत बनाकर शब्द एवं अपने ही को अप्रधान बनाकर अर्थ अन्य अर्थ के द्योतन में तत्पर होता है उसे विद्वानों ने ध्वनि नामक काव्य का एक (उत्तम) भेद माना है।" परन्तु जहाँ द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ ही प्रधान होता है और रस आदि उसके अंग होते हैं ऐसे काव्य में रस आदि प्रधान के उपस्कारक होने के कारण अलंकार ही होते हैं।"

जैसे 'उपोढरागेण' इत्यादि स्थल में रसादि अलंकार हैं।

उस ध्वनि के विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य दो भेद होते हैं। अविवक्षित वाच्य के भी अत्यन्त तिरस्कृत और अर्थान्तर संक्रमित दो भेद होते हैं। विवक्षित वाच्य के भी दो भेद होते हैं—

(१) असंलक्ष्यक्रम और (२) सलंक्ष्यक्रम। इसमें रसादि असंलक्ष्यक्रम में आते हैं। ये रसादि अङ्गीरूप (प्रधान रूप) में रहें तभी ध्वनि कहे जाते हैं और यदि अप्रधान हो जाएँ तो रसवद् अलंकार कहलाने लगते हैं। अप्रधान रहने पर ध्वनि नहीं रह जाते हैं।

इस प्रकार तृतीय कक्षा में ज्ञात अर्थ की व्यंग्यता को पूर्व पक्ष में रखकर उसके तात्पर्यार्थता सिद्धान्तित करने के लिए अब 'वाच्या' इत्यादि से आरम्भ करते हैं।

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा गम्य क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बनता है, उसी प्रकार विभावादिकों से युक्त स्थायीभाव भी वाच्यार्थ की कुक्षि में आ सकता है ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार 'गामभ्याज' इत्यादि लौकिक वाक्यों में स्ववाचक पद से श्रूयमाण तथा 'द्वार द्वारं' इत्यादि में प्रकरण आदि वशात् बुद्धि में उपारूढ़ क्रिया ही कारकों से संसृष्ट होकर वाच्यार्थ बनती है, उसी प्रकार काव्यों में कहीं 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्यादि स्थल में स्ववाचक शब्द (प्रीति वाचक शब्द) के उपादान करने से श्रूयमाण एवं कहीं प्रकरणादि वशात् नियत रूप से अभिधा के द्वारा प्रतिपादित विभाव आदि के साथ नित्य सम्बन्ध होने के कारण भावक के चित्त में साक्षात् स्फुरित होता हुआ रत्यादि स्थायीभाव ही अपने अपने उन विभावादिकों से, जो उनके अभिधायक शब्दों द्वारा आवेदित किए गए हैं, संस्कार परम्परा से पराप्रौढि को प्राप्य कराया जाता हुआ रस पदवी को प्राप्त करता हैं और वह वाच्यार्थं ही है।

हाँ, इस पर यदि आप यह कहें कि वाक्यार्थ पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से अभिनिष्पन्न होता है अतः वाक्यार्थ में पद से अभिहित पदार्थों की ही (संसर्गसहित) प्रतीति होगी, जो पद से अभिधा के द्वारा आवेदित होंगे ऐसे अपदार्थों की प्रतीति वाक्यार्थ में सम्भव नहीं। रति आदि भावों की यही स्थिति है, वे दूसरे के द्वारा कभी भी बोधित नहीं हो सकते अतः अपदार्थ ही होंगे। और अपदार्थ इत्यादि (पुष्ट अथवा अपुष्ट) वाक्यार्थ कैसे बन सकेंगे ?

इस पर हमारा कथन यह है कि तात्पर्यार्थ तो वाक्यार्थ है ही इसे तो आप कथमपि अस्वीकार नहीं करेंगे और तात्पर्य कार्यसिद्धि करने पर पर्यवसित हुआ करता है। कहने का भाव यह है कि सभी वाक्य दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। और ये द्विविध वाक्य किसी-न-किसी उद्देश्य से प्रयुक्त होते हैं। यदि इनका कोई तात्पार्य नहीं—उद्देश्य नहीं तो वे उन्मत्तों के प्रलाप से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकते। काव्य वाक्यों का यदि अन्वय व्यतिरेक से जिस कार्य के प्रति कारणता देखी जाती है वह निरतिशय सुखास्वाद से अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः आनन्दोद्भूति ही कार्य रूप से निर्णीत

किया गया है। इस आनन्द के अतिरिक्त किसी मान्य पदार्थ का न तो काव्य प्रतिपादक हैं, जो प्रतीतिपथ में आएगा और न तो इसके अतिरिक्त प्रतीतिपथ में आनेवाला कोई पदार्थान्तर प्रतिपाद्य ही है। इस आनन्दोद्भूति का निमित्त विभाव आदि से सम्बन्धित स्थायी ही अवगत होता है। अतः वाच्य की अभिधान शक्ति (तात्पर्य) उस स्थल के (वाक्यार्थ रस रुप) स्वार्थ की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अवान्तर विभवादिकों का प्रतिपादन करती हुई पर्यवसन्न होती है। ऐसी स्थिति में आप विभाव आदि को तो पदार्थ-स्थानीय समझें। उन्हीं से संसृष्ट इत्यादि स्थायीभाव वाच्यार्थ पदवी प्राप्त करते हैं, अर्थात् रस इस प्रकार द्वितीय कक्षा में प्रविष्ट होनेवाला वाक्यार्थ ही है। इस प्रकार काव्य ही जिसका अर्थ है, ऐसा पदार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों ही हैं।

इस पूर्वकणित सिद्धान्त पर यह पूर्वपक्ष खड़ा हो सकता है कि जिस प्रकार गीत आदि का उसके द्वारा उत्पन्न सुख से वाच्यवाचक भाव नहीं है, उसी प्रकार काव्य वाक्य से उत्पन्न रसादि का भी काव्य-वाक्यों से वाच्यवाचक का अभाव होना चाहिए।

पर यह कथन निम्नलिखित कारणों से ग्राह्य नहीं हो सकता—

यहाँ तो रसास्वाद उन्हीं को हो सकता है जिन्हें शब्द से निवेदित अलौकिक विभाव आदि सामग्री का ज्ञान है तथा उक्त प्रकार की रत्यादि भावना हो चुकी है, अतः यहाँ गीत आदि की भाँति वाच्य वाचक भाव का उपयोग नहीं है यह कथन ठीक नहीं है। बिना वाच्य-वाचक भाव, ज्ञान एवं सहृदयता के रस के कारणों का ही अन्तःकरण में उपस्थित होना असम्भव है। इस युक्ति से अब यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि गीत आदि से उत्पन्न होनेवाले सुख का आस्वाद लेनेवाला जिस प्रकार वाच्य-वाचक भाव आदि से रहित व्यक्ति भी हो सकता है, उसी प्रकार काव्य से उत्पन्न आस्वाद का भी वह आस्वादक बन सकेगा। वाक्यार्थ का इस प्रकार निरूपण हो जाने पर परिकल्पित अभिधा प्रभृति शक्ति की सहायता से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ का बोध हो जाएगा, अतः व्यंजना जैसो दूसरी शक्ति की कल्पना प्रयास-मात्र ही है जैसा कि हमने काव्य-निर्णय में बताया है—

ध्वनि काव्य की भित्ति है। व्यंजना-व्यापार और उक्त रीति से यह स्पष्ट देख लिया गया। कहा गया है कि व्यंजना-व्यापार तात्पर्य से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है। अतः ध्वनि काव्य भी कोई पदार्थ नहीं है अथवा अन्य पदार्थ है। यदि हमारी उक्त व्यवस्था आपको स्वीकार नहीं हैं—अर्थात् अश्रुत तात्पर्य को आप तृतीय कक्षा का विषय मानकर व्यंग की एक तीसरी कोटि बताते हैं और उसे वाच्यार्थ से भिन्न मानकर ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं तो आपसे पूछते हैं कि जहाँ वाच्य

का तात्पर्य शब्द से निवेदित नहीं है ऐसी अन्योक्ति अलंकृति में आप क्या करेंगे? वहाँ भी तो आप ध्वनि काव्य स्वीकार करेंगे? कदापि नहीं कर सकते। फिर इस अव्यवस्थित व्यवस्था में क्या आस्था?

अथवा इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को तात्पर्यवादी का एवं उत्तरार्द्ध को व्यंजनावादी का मत समझिए। फिर पूर्वार्द्ध की व्याख्या तो ऊपर के अनुसार कीजिए, रही बात उत्तरार्द्ध की, सो उसे यों लगाइए—

'मां विद्धि शाखोटकम्' इत्यादि अन्योक्ति के उदाहरण में जहाँ तात्पर्य शब्दतः श्रूयमाण नहीं है—आप क्या कहेंगे? अर्थात् यहाँ अमुक तात्पर्य है, यह कैसे कह सकेंगे? बात यह है कि—"तात्पर्यं वक्तुरिच्छा" तात्पर्य वक्ता की इच्छा का नाम है। यहाँ पर शाखोटक में इच्छा सम्भव नहीं है, अतः इस स्थल पर तात्पर्य कहाँ सम्भव है? अतः यहाँ निर्वेद जो द्योतित हो रहा है, उसे शाखोटक का तात्पर्य कैसे कहेंगे? इस स्थिति में यह तात्पर्य भी न बन सकेगा। पर व्यंग्यार्थ के होने में क्या हानि है? अतः व्यंग्यार्थ की पृथक् कल्पना करनी ही पड़ेगी, जिसके ऊपर ध्वनि की अट्टालिका सहर्ष खड़ी की जा सकती है ॥ १ ॥

'विषं भक्षय मा चास्य' इत्यादि व्याख्या से प्रतीयमान में प्रधानतः तात्पर्य के होने से प्रसज्यमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है?

ध्वनिवादी व्यंग्य एवं तात्पर्य का भेद दिखाते हुए कहता है कि ध्वनि तब होती है जब स्वार्थ में प्रतिष्ठित होकर वाक्य अर्थान्तर का बोध कराए और यदि स्वार्थ में अविश्रान्त होकर अर्थान्तर की प्रतीति वाक्य कराता हो तो तात्पर्य कहा जाता है ॥ २ ॥

परन्तु ध्वनिवादियों के इस भेद कथन में अरुचि का कारण यह है कि वाच्य की तब तक विश्रान्ति ही नहीं होती जब तक पूर्ण अभिप्रेत अर्थ को न दे लेता हो अथवा यह कह सकते हैं कि यदि अर्थान्तर भी उससे निकालना है तो उसके पूर्व वाच्य की विश्रान्ति ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह उक्त भेद जिस विश्रान्ति के आधार पर किया गया है वही असम्भव है। वस्तुतः यह भेद का कारण नहीं है, अतः तात्पर्य और ध्वनि एक ही चीज़ है, इनमें पार्थक्य नहीं है ॥ ३ ॥

एतावन्मात्र अर्थ में ही विश्रान्ति होती है, यह नियम किसने बनाया है? तात्पर्य तो कार्यपर्यवसायी होता है—जब तक अभिप्रेत अर्थ नहीं मिलता तब तक वाच्य का कार्य समाप्त नहीं होता। तात्पर्य तराजू पर रखकर तोला थोड़े ही गया है जो तात्पर्य एक घेरे के भीतर ही रहेगा। तात्पर्य यहाँ तक होगा और आगे व्यंग्यार्थ होगा इसका कोई माप नहीं है। इस रीति से व्यंग्य और तात्पर्य अभिन्न है।

ध्वनिवादी ध्वनि के लिए फिर दलील पेश करता है—

"भ्रम धार्मिक विश्रब्धः" इत्यादि वाक्य भ्रमण-रूप अर्थ का ही प्रतिपादक हैं। यहाँ पर भ्रमण का निषेधबोधक पद तो है नहीं जिसके वाच्य अर्थ से भ्रमण के निषेध का बोध हो सके। पर हमारे मत से तो वाच्य श्रवणकाल में बिश्रब्ध भ्रमण रूप विध्यात्मक अर्थ का बोध कराकर एक प्रकार से विश्रान्त हो जाता है, उसके बाद कुलटा स्त्री की विशेषता के ज्ञान होने से उसका उद्देश्य भ्रमण के निषेध-रूप अर्थ में ज्ञात होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की पृथक् सत्ता विश्रान्ति के अर्थान्तर प्रतीति से पूर्व ही होने से सम्भव है ॥ ५ ॥

[ध्वनि के खण्डन करनेवाले ग्रन्थकार इसका उत्तर निम्नलिखित प्रकार से देते हैं]—

श्रोता की आकांक्षा निवृत्ति के लिए यदि उक्त वाक्य में विश्रान्ति मान ली जाती है और विश्रान्ति के सम्भव होने से व्यंग्यार्थं की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है तो हम यह कह सकते है कि वक्ता के विवक्षित अर्थ का लाभ जब तक नहीं होता तब तक विनिगमन के अभाव में वाक्य की अविश्रान्ति ही क्यों न मान ली जाए ॥ ६ ॥

पौरुषेय वाक्य किसी-न-किसी सामान्य विवक्षा से उच्चरित होते हैं, अतः वक्ता का सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ काव्य का तात्पर्य ही कहा जाएगा और जब तक अभिप्रेत अर्थ का विवक्षित अर्थ न आ जाए तब तक विश्रान्ति ही नहीं, क्योंकि जब वाक्य विश्रान्त हो जाएगा तो फिर वह अन्य अर्थ का प्रत्यायन क्यों करेगा? और यदि फिर भी करता है तो इसका स्पष्ट अर्थं है कि अभी वह विश्रान्त नहीं हुआ है ॥ ७ ॥

इस रसादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यंजक भाव भी सम्भव नहीं तो क्या फ़िर इनका आपस में भाव्य-भावक सम्बन्ध होगा ?

हाँ, वस्तुतः काव्य है भावक और रस है भाव्य। वे स्वयं होते हुए अलौकिक विभाव का ज्ञान रखने वाले सहृदय से भावना के विषय बनाए जाते हैं। यद्यपि अन्यत्र अर्थात् काव्य से अतिरिक्त वेदादि वाङ्मय की अन्य शाखाओं में शब्द का प्रतिपाद्य के साथ भाव्य भावक सम्बन्ध नहीं देखा गया है अतः यहाँ स्वीकार करने में कुछ व्यंग्य प्रतीत होता होगा तथापि भावना-व्यापार मानने वालों ने ऐसा काव्य ही में होने के कारण स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि अन्यत्र शब्द का रसादि के प्रति अन्वय-व्यतिरेक वशात् कारणता नहीं देखी गई है और यहाँ शतशः सहृदय हृदय से अनुभूत है। इस पक्ष के अनुकूल एक उक्ति भी है।

नाटच-प्रयोक्ताओं ने भाव की संज्ञा इसलिए दी है कि इनसे और अभिनय से अथवा भाव के अभिनय से इसका सम्बन्ध होने के कारण ये रस को भावित करते हैं।

प्रश्न उठता है कि पदों से स्थायी आदि भावों की प्रतिपत्ति कैसे होगी ? पद उन्हीं के प्रत्यायक हो सकते हैं जिन पदों की शक्ति होती है। भावनावादियों का उत्तर यह है कि लोक में जिस प्रकार के भावों की बोधिका चेष्टाएँ होती हैं स्त्री पुरुष में, वैसे ही यदि काव्य में भी उपनिवद्ध हैं तो रत्यादि भावों के नित्यबोधक चेष्टाओं के प्रतिपादक शब्द के सुनने से शब्द-प्रतीति चेष्टा रूप अभि- धेय स्वसम्बन्ध भाव की प्रतीति कराएगा ही। प्रतीति 'अभिधेयाविनाभूत' होने के कारण लाक्षणिकी कही जाएगी। काव्यार्थ की भावकता और भी आगे बताई जाएगी।

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥३८॥

रस पद से काव्य में वर्णित विभाव आदि से पुष्ट स्थायीभाव की ही प्रतीति होती है क्योंकि आस्वाद्य वही है। दूसरा तर्क है उसकी रसिकनिष्ठता का अर्थात् वह रसिक में उक्त स्थायी ही रहता है। उस रस का अनुकार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह रसकाल में वर्तमान ही नहीं रहता और रसवान् काव्य अनु- कार्य के लिए लिखे भी नहीं जाते ॥ ३८ ॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥३९॥

अनुकार्य से सम्बन्ध मानने पर अन्य आपत्ति यह है कि वह अपनी स्त्री से संयुक्त किसी लौकिक नायक का शृंगार आदि का प्रतीति मात्र होगा, उसमें रसता नहीं रहेगी। अथवा देखनेवाले के स्वभाववश व्रीड़ा, ईर्ष्या, राग, द्वेष का भी प्रसंग आ सकता है ॥ ३९ ॥

'स' (वह) इस सर्वनाम से काव्यार्थ से उद्भावित रसिकनिष्ठ रत्यादि स्थायीभाव का परामर्श किया जाता है, वह आनन्दात्मक ज्ञान रूप आस्वादवाला रस रसिकवर्ती इसलिए है कि उस स्थिति में (स्वाद्यत्व प्रतीति काल में) रसिक ही वहाँ वर्तमान है, अनुकार्य राम आदि से उस रस का सम्बन्ध इसलिए नहीं हैं कि वह उस समय है ही नहीं, वह तो अतीत की गोद में चला गया है।

यद्यपि वह अनुकार्य शब्द के माध्यम से अवतमान होता हुआ भी वर्तमान की भाँति जान पड़ता है, फिर भी अनुकार्य का अवभास हम लोगों को स्पष्टतः अनुभूत नहीं होता, अतः वह न होने के ही समान है और जो कुछ थोड़ा-बहुत

अवभासित होता है वह तो आवश्यक ही है, क्योंकि उसके बिना राम आदि की विभावरूपता भी तो नहीं बनेगी। विभाव (राम आदि) यदि किसी रूप से भी नहीं रहेंगे तो रसोत्पत्ति ही नहीं हो सकती। दूसरी बात राम आदि को रसानुभावकों की कोटि में न गिनने का यह भी है कि काव्य का अनुभव अनुकार्य को नहीं प्रत्युत सहृदयों को होता है। अतः रसानुभूति हो, इसलिए इसका निर्माण होता है। यह सत्य समस्त भावकों को स्वयं अनुभूत है।

यदि राम आदि अनुकार्य को शृङ्गार आदि रस अनुभूत होता तो नाटक में उसको देखने से, लौकिक शृङ्गार की भाँति उस शृङ्गारी लौकिक नायक के समान जो अपनी स्त्री से संयुक्त है, केवल यही प्रतीत होता कि अमुक नाम का यह शृङ्गारी है। इसके अतिरिक्त वहाँ रसास्वाद नहीं होता। सत्पुरुषों को तो जिस प्रकार लौकिक शृङ्गार का दर्शन लज्जास्पद है उसी प्रकार यह भी होता। अन्य दुष्टों को ईर्ष्या, असूया, अनुराग, अपहरण इत्यादि की भावनाएँ भी जागृत होतीं। [पर ऐसा नहीं होता अतः शृङ्गार आदि रस अनुकार्य में आश्रित नहीं होते।]

इस प्रकार रस व्यंग्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि व्यंग्य वही कहा जा सकता है जिसकी सत्ता अभिव्यंजक से पूर्व ही स्थित हो। उदाहरणार्थ, जैसे प्रदीप से (व्यंग्य) घट। व्यंजक प्रदीप से घट की सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है, अभिव्यंग्य अभिव्यंजक से अपनी सत्ता प्राप्ति नहीं करता केवल प्रकाशित मात्र होता है। और यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रेक्षकों में रस विभाव आदि से प्रकाशित न होकर अनुभूयमान होते हैं।

अब एक शंका यह होती है कि सामाजिक में होनेवाले रस का विभाव कौन है? और किस प्रकार सीता आदि देवियाँ जो पूज्य हैं उनके भी विभाव बनने में कोई विरोध नहीं होता? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया जाता है।

धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के अभिनायक राम आदि रत्यादि को सामाजिकों के अन्तःकरण में अंकुरित कहते हैं और वे अंकुरित रत्यादि रसिक को आस्वाद्यमान होते हैं।

हाँ ध्यान देने की बात यह है कि कवि कोई योगी तो है नहीं जो अपनी समाधि में ध्यान द्वारा वैयक्तिक रूप से शम आदि अवस्थाओं को इतिहासकार की भाँति काव्य में लिख देगा। फिर होता क्या है?

होता यह है कि कवि अपनी कल्पना से केवल उन अवस्थाओं की सामान्य रूप से सम्भावना कर किसी भी उत्तम पात्र में उनका वर्णन कर देता है।

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते॥ ४०॥

और फिर वही सीता प्रभृति साधारण नायिका के रूप में रस के विभाव बन जाती हैं। और तब सीता आदि शब्द जनक की पुत्री के इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले नहीं रह जाते। इस अर्थ के प्रतिपादन की उनकी (सीता आदि) शक्ति क्षरित हो जाती है ॥ ४० ॥

वे स्त्री मात्र के वाचक रहकर अनिष्ट उत्पादन से रहित हो जाते हैं। फिर प्रश्न यह हो सकता है कि यदि उनकी प्रतीति सामान्य रूप से ही उपयोगी होती है तो उनका विशेष रूप से काव्य में वर्णन करने की क्या आवश्यता है ? भाव यह है कि यदि सीता को सीता रूप से जान लेने से कोई लाभ नहीं तो उन्हें काव्य का विषय बनाया ही क्यों जाता है ?

ता एव च परित्यक्तविशेषां रसहेतवः।
क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥ ४१ ॥

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के बने असत्य हाथी आदि से खेलते हुए बालकों को उत्साह और आनन्द मिलता है, उसी प्रकार असत्य अर्जुन आदि से श्रोताओं को अपना उत्साह भी अनुभूत होने लगता है ॥ ४१ ॥

कहने का भाव यह है जिस प्रकार लौकिक श्रृंगार में स्त्री आदि का उपयोग होता है उसी प्रकार यहाँ भी होता हो सो बात नहीं है। वस्तुतः उक्त रीति से लौकिक रस से नाटच रसों की विलक्षणता है। कहा भी है—

'नाटच में आठ ही रस होते हैं।'

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः।
काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४२ ॥

यदि काव्यार्थ की भावना वशात् नर्तक को भी आस्वाद हो जाए तो हम उसे अस्वीकार नहीं करते ॥ ४२ ॥

अभिनय-काल में जो नर्तक को रस का आस्वाद होता है वह लौकिक रस की की भाँति नहीं होता है, कारण यह है कि वह अभिनय-काल में अभिनेत्री को अपनी स्त्री के रूप में नहीं समझता। काव्यार्थ की भावना से वशीभूत होकर यदि वह भी सामाजिकों के समान ही रस का अनुभव करे तो उसे रोका नहीं जा सकता।

काव्य से किस प्रकार स्वानन्द की उद्भूति होती है और उसका स्वरूप क्या है, अब यह बताया जाएगा—

स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥

ज्ञायमान काव्यार्थ से जो अनुभूयमान आत्मानन्द है वही रस पद का अर्थ है।

नह स्वाद, शृंगार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र में क्रमशः मन के विकास, विस्तार, धिक्षोभ और विक्षेप अवस्था वशात् चार प्रकार का होता है ॥ ४३ ॥

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षंकरुणानां त एव हि ॥ ४४ ॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय एवं करुण में भी मन की वही अवस्थाएँ होती हैं। यही कारण है कि पूर्व के चारों को (शृंगार-वीर-बीभत्स-रौद्र का) अनन्तर चतुष्टय (हास्य-अद्भूत-भयानक-करुण का) का जनक कहा गया है। और यही रहस्य 'अष्टावेव' (केवल आठ ही) में अवधारण (ही) का भी है ॥ ४४ ॥

काव्यार्थ विभाव अदि से सम्बन्धित स्थायी स्वरूप हैं। इस प्रकार के काव्यार्थ से भावक का चित्त अनुकार्य की चित्तावस्था की समता प्राप्त कर लेता है; जहाँ राग-द्वेष का मूल मैं-तुम का भाव विगलित हो जाता है—इस अवस्था के अनन्तर जो प्रवलतर स्वानन्द की अनुभूति होती है वही स्वाद है। यद्यपि यह स्वादरूपता सकल रसों में एकरूप है तथापि नियत विभाव आदि के कारण चित्त की चार अवस्थाएँ होती हैं। चित्त की अवस्था को ही लक्ष्य में रखकर हास्य आदि का शृंगार आदि के साथ जन्य-जनक भाव कहा गया है। कार्य-कारण को दृष्टि में रखकर नहीं कहा गया है।

श्लोकार्थ—'शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।

इस उत्पत्ति का रहस्य उसी चित्तवृत्ति की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। शृंगार से हास्य उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत अपने ही विभवादिकों से होता है—'शृंगारानुकृतिर्या तु' इत्यादि श्लोक से शृंगार एवं हास्य की एक ही प्रकार की चित्तवृत्ति की अवस्था का स्फुटीकरण होता है। और अवधारण भी इसीलिए उपपन्न हो जाता है—चित्तवृत्ति की चार अवस्था दुगुनी होकर आठ ही होती है, अतः तदनुकूल रसों की भी नियत संख्या ८ ही हैं। भेदान्तर के अभव से ९वाँ रस नहीं हो सकता।

सभी रसों की सुखरूपता—(शंका) लोक में शृंगार, वीर, हास्य प्रभृति के प्रमोदात्मक होने से सुखस्वरूप होने में किसी बात की शंका नहीं होती, पर दुःखात्मक करुण आदि से सुखात्मकता का अमुभव होना कैसे सम्भव है? कारण यह कि दुःखात्मक करुण-काव्यों के श्रवण से दुःख का आविर्भाव एवं अश्रुपात आदि रसिकों को भी अनुभूत है। यदि वे सुखात्मक होते तो ऐसा क्यों होता?

समाधान—बात तो ठीक है, परन्तु यह सुख वैसा ही सुख-दुःखात्मक है जैसा

कि सम्भोगावस्था के कुट्टमित में प्रहरण आदि करने पर स्त्रियों को होता है। दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करुण से काव्य का करुण कुछ विलक्षण होता है। यहाँ उत्तरोत्तर रसिकों की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यदि लौकिक करुण के समान यहाँ का भी करुण, दुख देनेवाला होता तो दर्शकों और (पाठकों) की कभी प्रवृत्ति ही (नाटक देखने और काव्य-श्रवण में) नहीं होती। फलस्वरूप करुण रस के निधान रामायण आदि में किसी की प्रवृत्ति न होने से इनका उच्छेद ही हो जाता। रही अश्रुपात की बात, सो वह लोकवृत्त के आकर्षण से लौकिक विकलता के समान विकलतावश यदि हो ही जाए तो उसका हमारे पक्ष से कोई विरोध नहीं है। अतः रसान्तर के समान करुण रस को भी आनन्दात्मक ही मानना चाहिए।

शान्त रस के अभिनेय न होने के कारण यद्यपि नाटच में उसका अनुप्रवेश असम्भव है, तथापि श्रव्य काव्य में उसका निवेश इसलिए नहीं अस्वीकार किया जा सकता, क्योंकि वहाँ तो शब्द का राज्य है। शब्द से जब असम्भाव्य बातें भी बाँधी जा सकती हैं तो फिर शान्त का वर्णन क्यों नहीं हो सकता ?

कहा जाता है—

शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥ ४५ ॥

'शम का प्रकर्ष (शान्त) अकथनीय है, मुदिता प्रभृति वृत्तियों से उसे प्राप्त किया जा सकता है ॥ ४५ ॥

यदि शान्त रस का स्वरूप—

"जहाँ सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग या इच्छा आदि का अभाव हो वही शान्त रस का स्वरूप है ऐसा मुनीन्द्रों का कहना है, पर सभी भावों में यह शम भाव प्रधान है।"—

यही है तो उसकी प्राप्ति मोक्षावस्था ही में स्वरूप-प्राप्ति पर होती है। स्वरूपतः उसकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन श्रुति भी 'नेति' 'नेति' कहकर अन्यापोह रूप से ही करती है। इस प्रकार के शान्त रस का आस्वाद सहृदयों को नहीं होता। फिर उसके आस्वाद के उपायभूत मुदिता आदि वृत्तियाँ हैं और वे क्रमशः विकास, विस्तर, क्षोभ, विक्षोभ रूप हैं, अतः इस उक्ति से ही शान्त रस के आस्वाद का निरूपण होता है।

इस समय विभावादि से सम्बन्धित जो अवान्तर काव्य-व्यापार हैं उनके प्रदर्शन के साथ-साथ प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।

काव्याद्विभावसंचार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥ ४६ ॥

भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

काव्य व्यापार के द्वारा खुब अच्छी तरह से वर्णन किया हुआ जो चन्द्रमा आदि उद्दीपन विभाव और प्रमदा आदि रूप आलम्बन विभाव, रोमाञ्च, अश्रु-पात, भ्रू और कटाक्ष विक्षेप आदि अनुभाव तथा निर्वेद आदि संचारीभाव जो पदार्थ स्थानीय हैं इनसे अवान्तर व्यापार के द्वारा पोष को प्राप्त होनेवाला स्थायीभाव रस नाम से पुकारा जाता है। इतना ही पहले प्रकरण में किए गए वर्णन का तात्पर्य रहा है ॥ ४६ ॥

अब इनके विशेष लक्षणों को बताया जा रहा है। आचार्य (भरत) ने स्थायीभावों, रत्यादिकों और शृङ्गार आदि रसों का पृथक्-पृथक् लक्षण न देकर विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही दे दिया है। [अतः मैं भी वैसा ही कर रहा हूँ।]

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥ ४७ ॥

शृंगार आदि रसों और रत्यादि स्थायीभावों के लक्षण एक ही हैं, शृंगार आदि रस और रत्यादि भावों में कोई अन्तर नहीं है ॥ ४७ ॥

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

एक चित्त के दो व्यक्तियों (युवक और युवती) में आनन्दस्वरूप रति का सुन्दर स्थान (बाग-बगीचे, एकान्त स्थान आदि) सुन्दर कलाओं (चित्रकला आदि में निपुणता), सुन्दर समय (सन्ध्या आदि) और सुन्दर भोग-विलासों तथा मधुर आंगिक चेष्टाओं (कटाक्ष विक्षेप आदि) के द्वारा परिपोष के प्राप्त होने को शृंगार (रस) कहते हैं ॥ ४८ ॥

इस प्रकार का वर्णन युक्त काव्य शृंगार के आस्वाद की योग्यता धारण करता है, अतः कवियों को अपने वर्णन में इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

देश (स्थान) के विभाव का वर्णन, जैसे 'उत्तर रामचरित' में राम की यह उक्ति—

"हे सुन्दरि, उस पर्वत में लक्ष्मण द्वारा की गई शुश्रूषा से स्वस्थ हम दोनों के उन दिनों की याद करती हो ? अथवा वहाँ स्वादु जलवाली गोदावरी की याद करती हो ? तथा गोदावरी के तट पर हम दोनों के रहने की याद करती हो ?"

कला का विभाव, जैसे—"अन्तर्निहित हैं वचन जिनमें—ऐसे हाथों द्वारा अच्छी तरह से अर्थ की सूचना मिल जाती है। पाद विक्षेप से रस में तन्मयता

के साथ लय प्राप्त हो जाती है। मृदु अभिनय छहों प्रकार के अभिनयों का उत्पत्ति स्थान है। और प्रत्येक भाव में रागबन्ध विषयों को व्यक्त करते हैं।"

अथवा जैसे—जीमूतवाहन कह रहे हैं—"इसकी वीणा की तन्त्रियों से दसों प्रकार के व्यंजन धातुओं (वीणा वाद्य के स्वर के १० भेदों) का प्राकट्य हो रहा है। द्रुत, मध्य और लम्बित, ये तीनों प्रकार के लय भी बिलकुल स्पष्ट सुनाई पड़ रहे हैं। इसने गोपुच्छ आदि प्रमुख यतियों का भी सुन्दर सम्पादन किया है, इसी प्रकार वाद्य के विषय में तीनों प्रकार के तत्त्वों का जो समूह है वे भी अच्छी तरह से दिखाए गए हैं।

काल के विभाव का वर्णन, जैसे 'कुमार सम्भव' में—

"अशोक का वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तों से लद गया और उसने झनझनाते बिछुओंवाली सुन्दरियों के चरण के प्रहार की वाट तक भी नहीं जोही।" यहाँ से आरम्भ कर—

"भौंरा अपनी प्यारी भौंरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी उस हरिणी को सींग से खुजलाने ऊगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँद बैठी थी।"

वेष का विभाव, जैसे वहीं पर—

"उस समय पार्वतीजी के शरीर पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के, सोने की चमक को घटाने वाले कर्णिकार के फूलों के और मोतियों की माला के समान उजले सिन्दुवार के वासन्ती फूलों के आभूषण सजे हुए थे।"

उपभोग के विभाव का वर्णन जैसे—कोई अपनी सखी से कहती है कि ऐ मान करनेवाली! ऐसा लगता है कि तेरे प्रणयी ने किसी प्रकार से तेरे मान को तोड़ डाला है और इसीसे तेरा कुछ मन भी बढ़ा हुआ-सा लग रहा है। तेरा मान भंग हुआ है इसमें ये चीज़ें प्रमाण रूप में प्रस्तुत हैं—१. तेरी आँख का काजल साफ हो गया है। २. अधर भाग में लगी हुई पान की ललाई चाट डाली गई है। ३. कपोल-फलक पर केशपाश बिखरे पड़े हैं और ४. तेरे शरीर की कान्ति भी ओझल हो गई है।

आनन्दस्वरूप रति का उदाहरण, जैसे 'मालती माधव' में—

"नव इन्दु कलादि विभाव सबै जग से बिरही मन जीतत हाल।
हिय औरनु के लहरावत हैं उलटे इत वेही लगावत ज्वाल॥
कहुँ जो यह लोचन चन्द्रिका चारु बसै इन नैननि रूप रसाल।
बस मेरे तो जन्म में सोही महोच्छव
एकहि बार में होहुँ निहाल॥"

युवति का विभव जैसे, 'मालविकाग्निमित्र' में—

राजा मन-ही-मन सोच रहा है—'वाह ! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है ! क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा-जैसा मुख, कंधों पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनों से जकड़ी हुई छाती, पुँछे हुए-से पार्श्व-प्रदेश, मुट्ठी-भर की कमर, मोटी-मोटी जाँघें और थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरों की उँगलियाँ बस ऐसी जान पड़ती हैं मानो इसका शरीर इसके नाटचगुरु (गणदासजी) के कहने पर ही गढ़ा गया हो ।'

युवक और युवती, दोनों के विभाव जैसे, 'मालती माधव' (१।१८) में—

नगरी की गलीन में बारहि वार भ्रमै वह माधव आठहूँ जाम ।
निज ऊँची अटारी पै बैठि कै बारहिं वार विलोकति मालती बाम ।।
वह काम-सो रूप निहारि निहारि थकी विथकी रति-सी अभिराम ।
ललकैं, पुलकैं, हुलसैं, झुलसैं, अरु काँपैं सुकोमल अंग ललाम ।।

दोनों का पारस्परिक अनुराग जैसे, वहीं (मा० मा० में १।३२)—

बहु वार मरोरि कै ग्रीवा निहारति कुंचित कुंजमुखी वह बाल ।
घने कारे बड़े दृग कोर तैं वेधि गई कोउ तीखी कटाच्छ कराल ।
नहिं जानि परै कि सुधा सों सनी किधौं बोरी भई है हलाहल काल ।
जौ हिये में धँसी सो गँसी कसिकै य कटाच्छ की कील नुकीली कसाल ।।

अंगों की प्रचुर चेष्टाएँ, जैसे, वहीं (मा० मा० १।३०)—

कबहूँ सकुचैं कबहूँ विकसैं, कबहूँ उठैं भौंह, तरंगित गात ।
कबहूँ चिकनाइ सनेह सों मुद्रित, कानन लौ कबहूँ चलि जात ।
वहि चंद्रमुखी की चितौनि कबौं सकुचै, झिककै, उलझै रसमाति ।
मनभावनी ऐसी विलोकनि को मैं निसानौ बन्यौ नितही बहु भाँति ।।

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ त्रिंशत्त्रयो ते व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति ।
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ।।४९।।

पहले जिन आठ सात्त्विक भावों, आठ स्थायीभावों और तैंतीस व्यभिचारी भावों को बता आए हैं वे सभी शृंगाररस की पुष्टि के लिए उपयोग में आते हैं । पर हाँ, एक बात अवश्य है कि वे युक्ति के साथ उपनिबद्ध किए जाएँ, नहीं तो रस-विरोध होने के कारण आस्वादन में व्यवधान ही पड़ेगा ।

आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा इनको आश्रय-भेद से अथवा एक ही आलंबन विभाव के सम्बन्ध में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए अन्यथा रस की चर्वणा में बाधा पड़ेगी ।। ४९ ।।

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा ।

शृंगाररस के भेद—शृंगाररस तीन प्रकार का होता है—१. अयोग, २. विप्रयोग और ३. संयोग ॥ ५० ॥

अयोग और विप्रयोग, विप्रलम्भ के भेद हैं। विप्रलम्भ शब्द सामान्य-वाचक है।

[प्रश्न]—विप्रयोग का जो शाब्दिक अर्थ है वही विप्रलम्भ का भी है फिर विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ ही क्यों नहीं रखते ?

[उत्तर]—विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ के रखने से विप्रलम्भ में लक्षणा करके विप्रयोग अर्थ लाना पड़ेगा। ऐसी दशा में लक्षणा के बिना काम नहीं चल सकता, क्योंकि सामान्यवाचक शब्दों के विशेष अर्थाभिधायी शब्दों में लक्षणा हुआ करती है। पर यहाँ लक्षणा करना अभीष्ट नहीं है। यदि अभिधा से ही अर्थात् सीधे-सादे ही अर्थ निकल आए तो लक्षणा अर्थात् घुमा-फिराकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से जाने की क्या आवश्यकता ? इसी बात को ध्यान में रखकर विप्र-योग के स्थान पर विप्रलम्भ शब्द के बारे में बताते हैं कि यह केवल तीन ही जगह मुख्य अर्थ में व्यवहृत होता है। इन तीनों स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र लक्षणा करनी पड़ती है। जैसे—

१. आने का संकेत देकर नायक का न आना, २. नायक के द्वारा अपने आने की अवधि का अतिक्रमण कर जाना और ३. नायक का अन्य नायिका में आसक्त हो जाना।

केवल इन तीन स्थलों पर विप्रलम्भ शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् वंचना देने के अर्थ में व्यवहृत होता है।

तत्रायोगोऽनुरागोऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ५० ॥

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः ।

अयोगशृङ्गार—जहाँ पर नई अवस्थावाले नायक-नायिकाओं का एकचित्त होते हुए भी परतन्त्रतावश अथवा भाग्यवश या दूर रहने आदि के कारण संयोग न हो सके, इसको अयोग कहते हैं ॥ ५० ॥

एक का दूसरे के द्वारा स्वीकार कर लेने का नाम योग है और इसके अभाव का नाम अयोग है। [इसमें नायक और नायिका का आपस में संयोग हुआ ही नहीं रहता।]

परतन्त्रत के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण सागरिका का वत्सराज से और मालती का माधव से संयोग न हो सकना है।

दैवात् अर्थात् भाग्य आदि के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण पार्वती-

जी का भगवान् शंकर से (विवाह के पूर्व तपस्याकाल तक) समागम का न हो सकना है ।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१ ॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मदसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥ ५२ ॥

अयोग की दस अवस्थाएँ होती हैं । पहले दोवों के हृदय में अभिलाष, फिर चिंतन, उसके बाद स्मृति, फिर गुणकथन, तदुपरान्त उद्वेग फिर प्रलाप, उन्माद सज्वर (हाप का बढ़ जाना), जड़ता और मरण ये क्रमशः पैदा होते हैं । पहले की अपेक्षा दूसरा, दूसरे को अतेक्षा तीसरा, इस प्रकार से क्रमशः उत्तरोत्तर होनेवाली अवस्थाएँ पहले की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक दुःखदायिनी होती हैं ॥ ५१-५२ ॥

अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वांगसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

अभिलाष—सर्वाङ्ग सुन्दर प्रियतम के देखने अथवा उसके गुणों के श्रवण के द्वारा उसको प्राप्त करने की इच्छा को अभिलाष कहते हैं । इसके उत्पन्न होने पर नायिका में विस्मय, आनन्द और भीति, ये तीन अनुभाव होते हैं । नायिका को निम्नलिखित प्रकारों में से किसी भी प्रकार से नायक को देख लेने से अभिलाषा उत्पन्न होती है । नायक नायिका के द्वारा निम्नलिखित प्रकार से देखा जाता है—१. साक्षात्कार के द्वारा, २. चित्र देखकर, ३. स्वप्न में, ४. छाया और ५. माया के द्वारा । इसी प्रकार नायक के गुण का श्रवण भी नायिका को निम्नलिखित प्रकार से होता है—१. सखी के द्वारा, २. वंदीजन आदि के द्वारा तथा नायक विषयक श्लाघनीय गुण-वर्णन से। [इससे भी नायिका के हृदय में नायक के प्रति अभिलाषा जागृत होती है । नल के प्रति दमयन्ती का अनुराग वंदीजनों के वर्णन से भी जागृत होता रहा ।] ॥ ५३-५४ ॥

अभिलाष का उदाहरण जैसे, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त शकुन्तला को देख सोच रहे हैं—जब मेरा पवित्र मन भी इस पर रीझ उठा तब निश्चय ही क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हो सकता है, क्योंकि संदेह-स्थल में सत् पुरुषों का अन्तःकरण ही उचित और अनुचित का निर्णय देता है ।

विस्मययुक्त अभिलाष, जैसे—

"पतले शरीरवाली नायिका के बड़े-बड़े स्तनों को देख युवक का सिर काँप रहा है, मानों वह दोनों स्तनों के बीच गड़ी हुई दृष्टि को उखाड़ रहा है ।"

आनंदयुक्त अभिलाष, जैसे 'विद्धशालभंजिका' में—

कोई नायिका राजमहल के घेरे के ऊपर टहल रही है। उसको उसका नायक अपने मित्र से दिखाकर वता रहा है—

"सुधा-सेवन में तत्पर उपवन के चकोरों से आस्वादित, सफ़ेद पके हुए लवली फल के समान और अपनी स्वच्छ किरणों को विखेरता हुआ, यह कौनसा मृगरहित निष्कलंक चन्द्रमा आकाश छोड़कर चहारदीवारी के ऊपरी भाग को अलंकृत कर रहा है ! मित्र, जरा अपनी आखों को वहाँ ले जाओ तो सही और थोड़ा विचारो तो सही, कैसी आश्चर्यजनक घटना है !"

साध्वस (भय) का उदहरण, जैसे 'कुमारसंभव' में—

"भगवान् शंकर को देख पार्वतीजी के शरीर में कँपकँपी छूट गई और वे पसीने-पसीने हो गई। इसके अलावा आगे चलने को उठाए हुए अपने पैरों को उन्होंने जहाँ-का-तहाँ रोक लिया जैसे धारा के बीच में पहाड़ पड़ जाने से नदी न आगे न पीछे बढ़ पाती है, वैसे ही हिमालय की कन्या भी न तो आगे ही बढ़ पाई और न पीछे ही हट पाई, जहाँ-की तहाँ खड़ी हो रह गई।"

अथवा जैसे—

"पार्वतीजी इतनी लजाती थीं कि शंकरजी के कुछ पूछने पर भी बोलती न थीं और वे यदि इनका आँचल पकड़ लेते थे तो भागने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार शयनकाल में भी ये दूसरी ही तरफ मुँह करके सोती थीं। पर पार्वतीजी द्वारा इस प्रकार का व्यवहार भी शंकरजी के लिए कम आनन्दप्रद नहीं होता था।"

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः।

अनुभाव और विभावों के साथ चिन्ता आदि का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। [अतः यहाँ उनको पुनः अंकित करने की आवश्यकता नहीं।]

गुण-कीर्तन के बारे में लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायो वृत्त्या निर्दशितम् ॥ ५५ ॥
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

अयोग में प्रायः दस अवस्थाएँ रहती हैं, अतएव आचार्यों ने दस ही भेद गिनाए हैं। पर महाकवियों की रचनाओं की छानबीन से इसके अनन्त भेद दीख पड़ते हैं ॥ ५५ ॥

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥ ५६ ॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात्।

उदाहरणार्थ संक्षेप में उनका दिग्दर्शन किया जाता है। नायक को देख अथवा उसके गुणों के श्रवण-मात्र से यदि नायिका के अन्दर अभिलाषा जागृत होती है तो क्या उसके अन्दर प्रियतम समागम के लिए उत्सुकता नहीं हो सकती ? और उत्सुकता और अभिलाषा के होते हुए भी यदि वह उसे नहीं मिला तो क्या उसके अन्दर निर्वेद पैदा नहीं हो सकता है ? इसी प्रकार यदि वह अत्यधिक चिन्ता करे तो क्या उसके भीतर ग्लानि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता ? ॥ ५६ ॥

इसी प्रकार की, छिप-छिपकर समागम करना इत्यादि बातों की जानकारी कामसूत्र से की जा सकती है।

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढ़विस्रम्भयोर्द्विधा ॥ ५७ ॥
मानप्रवासभेदेन मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

विप्रयोग—एक-दूसरे के प्रेम में आबद्ध (आसक्त) अतएव विश्वसित और संयुक्त रहनेवाले नायक-नायिकाओं के वियुक्त हो जाने का नाम विप्रयोग है। यह दो प्रकार का होता है—मान-जनित और प्रवास-जनित। मान भी दो प्रकार का होता है। एक प्रणय मान, दूसरा ईर्ष्या मान ॥ ५७ ॥

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

प्रेम से वशीभूत होने का नाम प्रणय है। इसके भंग होने से जो कलह होता है उसे प्रणयमान कहते हैं। यह नायक-नायिका दोनों में हो सकता है ॥ ५८ ॥

नायक में होनेवाले प्रणयमान का उदाहरण, जैसे 'उत्तररामचरित' में—इसी लतागृह में आप सीता के आगमन-मार्ग में दृष्टि लगाए हुए थे और सीता हंसों से कौतुक कर गोदावरी के तट में वहुत काल तक रुकी रहीं। इसके पश्चात् वहाँ से लौटकर आती हुई सीता ने आपको चिन्तित-चित्त की तरह देखकर कातरता से कमल के मुकुल की तरह सुन्दर प्रणामाञ्जलित बाँध ली।

नायिकागत प्रणयमान का उदाहरण जैसे, वाक्यतिराजदेव का यह पद्य—

"प्रणयकुपित जगज्जननी पार्वती को देख आश्चर्यचकित हो वेग के साथ त्रिभुवनगुरु भगवान् शंकर भय से तत्क्षण उनके चरणों पर अवनत हो गए। भगवान् शंकर के अवनत होने पर गंगाजी को देख और प्रकुपित हो पार्वतीजी ने उन्हें चरणों से ठुकरा दिया। इस प्रकार ठुकराए जाने आदि के कारण विरूपता को प्राप्त भगवान् शंकर की दयनीय दशा आप लोगों की रक्षा करे।"

दोनों (नायक और नायिक) में रहनेवाले प्रणयमान का उदाहरण, जैसे—

प्रणय-कलह के कारण झूठमूठ का बहाना करके, मान कर "नायक और नायिका दोनों एक साथ सोए हुए हैं। दोनों प्रणय-कलह से कुपित हो सोए तो

अवश्य हैं पर उनके मन में एक-दूसरे के प्रति इस प्रश्न पर संकल्प-विकल्प चल रहा है कि यह सचमुच सो तो नहीं गया ? और वे दोनों अपने श्वास को रोक-रोककर एक-दूसरे के सोने की परीक्षा कर रहे हैं । इस स्थिति को देख उनकी सखियाँ आपस में बातचीत कर रही हैं कि देखो इस होड़ में कौन विजयी होता है ।"

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासंगिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे श्रुतिरतत्र सखीमुखात् ।। ५९ ।।
उत्स्वप्नायितभोगांकगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधानुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ।। ६० ।।

नायक किसी दूसरी स्त्री में अनुरक्त हैं इस बात को सुनने, देखने अथवा अनुमान के द्वारा नायिका के भीतर प्रकुपित होने से जो ईर्ष्या पैदा होती है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं ।

सुनना सखियों के द्वारा ही हुआ करता है क्योंकि नायिका का उन (सखियों) पर विश्वास जमा रहता है । अनुमान से होनेवाला ईर्ष्यामान भी तीन प्रकार का होता है—१. स्वप्न में कहे गए वचनों के द्वारा । २. नायक के शरीर में अन्य नायिकाकृत भोग-चिह्नों को देखकर तथा ३. अनजाने बातचीत के प्रसंग में अन्य स्त्री का नाम मुख से निकल आने से ।। ५९-६०।।

आँख से प्रत्यक्ष कर लेने ही को देखना कहते हैं ।

सखियों के कहने से नायक पर सन्देह कर इर्ष्यामान वाली नायिका का उदाहरण हमारे (धनिक के) ही इस पद्य में देखिए—

नायक नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हुए कहता है कि "हे सुन्दर भौंहोंवाली प्यारी ! तेरा हृदय तो मक्खन के समान कोमल ठहरा, पता नहीं तुझे कौन-सा ऐसा दुष्ट मंत्रणा देनेवाला मिल गया जो ऊपर से तेरा हितैषी मधु के समान मीठा वचन बोलकर तेरे अन्दर मेरे प्रति प्रकोप पैदा करवा दिया । पर हे मृगनयनी ! मेरे कहने से एक क्षण के लिए भी ज़रा इस विषय पर विचार तो करो कि वास्तव में तेरा हितैषी आखिर कौन है ? क्या वह धाई की लड़की जिसने तेरे कानों में मेरे विषय में सन्देह भरा है ? अथवा तेरी सखियाँ ? या मेरे मित्र ? अथवा स्वयं मैं ?"

स्वप्न में अन्य नायिका का नाम मुख से आ जाने के कारण अनुमानतः ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"राधा से आकर सखियों ने कहा कि कृष्णचन्द्र जिस समय जलक्रीड़ा कर रहे थे, उस समय उन्होंने कामदेव के शरों से प्रेरित हो, किसी नायिका का आलिंगन किया । इन बातों को सुनकर राधा प्रकुपित हो गई । इसके बाद जब

कृष्णचन्द्र घर आये तो किसी प्रकार राधा के कोप को शान्त किया। उसी दिन रात को जब राधा और कृष्ण एक-दूसरे के कण्ठ में भुजा डालकर सोए तो कृष्ण चन्द्र को नींद आ गई और नींद में ही वे दिन के समान राधा को मनाने लगे। राधा को इस सिलसिले में उसी सखी का नाम कृष्णचन्द्र के मुख से सुनकर ईर्ष्या हो आई, सो उन्होंने किसी प्रकार कृष्णचन्द्र की गले में पड़ी हुई अपनी भुजाएँ शिथिल कर लीं। कवि कहता है कि राधा की वे शिथिल भुजाएँ आपको कल्याण प्रदान करें। कृष्णचन्द्र ने स्वप्न में जो शब्द कहे वे ये थे—हे राधा, तुम्हें किसी ने झूठमूठ आकर यह बतला दिया कि मैंने जलक्रीड़ा करते समय जल में डूबे हुए कामदेव के शर से संतप्त किसी सखी का आलम्बन किया है। तुम व्यर्थ में ऐसी बातों पर विश्वास कर दुखित हो रही हो।"

भोग के चिह्नों को देखकर अनुमान के द्वारा ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका तथा गोत्रस्खलन से ईर्ष्याभाववाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"अन्य स्त्री द्वारा किये हुए ताज़े नखक्षत को तो तुमने कपड़े से ढँक लिया है और उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी हाथों से ढँक लिया है, पर यह तो बताओ कि परस्त्री के संभोग को व्यक्त करनेवाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द-गिर्द फैल रहा है, भला उसको कैसे रोक सकोगे?"

गोत्रस्खलन से ईर्ष्याभाववली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"अनजान में बातचीत के प्रसंग में अपने नायक के मुख से किसी नायिका के नाम को सुनकर प्रकुपित हुई नायिका की सखी नायक को फटकार रही है—"अरे दुष्ट! कुटिलता से अनभिज्ञ मेरी भोली-भाली प्रिय सखी से तूने परिहास में किसी अन्य नायिका का गुण-कथन कर दिया, फिर क्या था, वह भोली-भाली तेरे कथन को सत्य मानकर रो रही है।"

नायक के अपराध आदि को देख ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका का उदाहरण, जैसे वाक्पतिराज का 'प्रणय कुपितां०।'

(इससे पूर्व ही नायिकागत प्रणयमान का उदाहरण देते समय इस पद्य का अर्थ आ चुका है, दे० पृ० २२७)

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत्।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः॥ ६१॥
तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम्।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः॥ ६२॥
सामादौ तु परीक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम्॥ ६३॥

कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

ऊपर बताए हुए तीनों कारणों में अर्थात् (१) सुनकर, (२) अनुमानकर, और (३) देखकर, इनसे होनेवाले ईर्ष्यामान उत्तरोत्तर अधिक क्लेशकर होते हैं। इनको उपाय से शान्त करना चाहिए। शान्त करने के छः उपाय हैं—१. साम, २. भेद, ३. दान, ४. नति, ५. उपेक्षा और ६. रसान्तर।

१. साम—प्रियवचन बोलने का नाम साम है।

२. भेद—नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेने का नाम भेद है।

३. दान—आभूषण, साड़ी आदि देकर प्रसन्न करने की कोशिश करने को दान कहते हैं।

४. नति—पाँवों में पड़ने का नाम नति हैं।

५. उपेक्षा—साम आदि उपायों के विफल हो जाने पर नायिका की उपेक्षा करने को उपेक्षा कहते हैं।

६. रसान्तर—डराना, धमकाना, हर्ष आदि के द्वारा भी कोप-भंग किया जा सकता है। यह अन्तिम उपाय है जिसे रसान्तर कहते हैं। स्त्रियों की कोप-चेष्टा का वर्णन पहले किया जा चुका है अतः उनके बारे में फिर बताने की आवश्यकता नहीं है ॥ ६१-६३ ॥

प्रिय वचन के द्वारा प्रसन्न करने के प्रयत्न को साम कहते हैं, जैसे, मेरा ही पद्य—कोई नायक मान की हुई अपनी नायिका से कहता है—"तुम्हारा मुख-चन्द्र स्मितरूपी ज्योत्स्ना से सारे विश्व को धवलित कर रहा है तेरी आँखें चारों तरफ मानों अमृत बरसा रही हैं, पर पता नहीं तेरे हृदय में कठोरता ने कहाँ से स्थान कर लिया है!"

अथवा जैसे—कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है—'हे प्रिये, ब्रह्मा ने तेरे नेत्रों को नीलकमल से, मुख को लाल कमल से, तेरे दाँतों को कुन्द के श्वेत पुष्पों से, अधरों को नए-नए लाल पल्लवों से, तथा अवशिष्ट अंगों को चम्पक के पुष्पों से बनाया है, पर पता नहीं तेरे चित्त को पत्थर से क्यों बनाया?

नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेनेवाले भेद नामक उपाय का उदाहरण, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"नायक अपनी प्रेयसी से कहता है कि आज के तुम्हारे कोप को तो मैं असीम और अपूर्व ही समझ बैठा था, क्योंकि इसके दूर करने के लिए सखियों द्वारा की गयी मधुर वाणी का प्रयास भी व्यर्थ हो गया था। पर मुझे अपनी सफलता पर आश्चर्य हो रहा है कि तूने देवि, मेरे द्वारा आज्ञा-भंग किए जाने पर भी अपने चरणों पर नत होते देख, हँसकर हाथों से मुझे उठा लिया। साथ ही तू अपने क्रोध को छोड़ने में भी प्रयत्नशील दीख रही है।"

आभूषण आदि देकर प्रसन्न किए जानेवाले दान नामक उपाय का उदाहरण, जैसे 'माघ' में—कोई नायिका अपने नायक से कहती है—"बार-बार भ्रमरों से उपहसित इस मंजरी को मुझे काहे को दे रहे हो ! रे दुष्ट, तूने तो आज रात को उसके पास जाकर मुझे बहुत बड़ी मंजरी प्रदान कर ही दी है।"

पांवों के पड़ने को नति कहते हैं, जैसे—"नायिका के चरणों पर गिरे हुए नायक के केशपाश उसके नूपुरों में ऐसे लग गए हैं मानों वे उससे कह रहें हैं कि सम्मान प्रदानार्थ उन्मुक्त हृदय तेरे पास आया हुआ है।"

उपेक्षा नामक उपाय का उदाहरण, जैसे—"नायक मनाकर नाराज़ हो चला गया। उसके जाने के बाद नायिका अपने किये हुए पर पश्चात्ताप कर रही है। सखी से कहती है—अब उसके पास (मनाने के लिए) जाने से क्या लाभ ? पर हे सखि, वहाँ न जाना भी ठीक नहीं है क्योंकि सामर्थ्यवान् से कठोरता का बरताव भी ठीक नहीं होता, सो तुम उनके पास जाकर अनुनय-विनय करके जिस प्रकार से हो सके उस प्रकार से लाओ। नायिका थोड़ी देर रुककर फिर कहती है—अच्छा जाने दो, उसको बुलाने की आवश्यकता नहीं है। और जिसने मेरे साथ ऐसा अप्रिय कार्य किया है उसकी प्रार्थना करना उचित नहीं है।"

रसान्तर नामक उपाय का उदाहरण,

[शृङ्गारान्तर्गत भयनर्म के उदाहरण में पहले दिया जा चुका है।]

कार्यतः संभ्रामाच्छापात् प्रवासो भिन्नदेशता ॥ ६४ ॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता ।
स च भावी भवन्भूतस्त्रिधाऽऽद्योबुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

नायक और नायिका का अलग-अलग देशों में रहने का नाम प्रवास है। वह तीन कारणों से हो सकता है—१. कार्यवशात्, २. संभ्रम से, और ३. शाप से।

प्रवास की दशा में नायक और नायिका की निम्नलिखित दशाएँ होती हैं—एक का दूसरे को याद कर-कर रोना-धोना, निःश्वास, कृशता और केशों का बढ़ जाना आदि।

प्रवास तीन प्रकार का होता है—१. भविष्यत्, अर्थात् आगे आने वाला, २. वर्तमान और ३. भूत।

१. इसमें का पहला अर्थात् कार्यवशात् होनेवाला प्रवास समुद्रयात्रा, सेवा आदि कार्यों के लिए होता है। यह प्रवास तीन प्रकार का होता है—१. भविष्यत् वर्तमान और भूत ॥ ६४-६५ ॥

भविष्मत् प्रवास जैसे—प्रियतमा प्रिय-विरह के विषय में सशंकित लजाती

हुई पड़ोसियों के घर पूछती फिरती है कि—"जिसका पति परदेस जाने वाला होता है उसकी स्त्रियाँ कैसे जीती हैं ?"

वर्तमान प्रवास का उदाहरण, जैसे 'अमरुशतक' में—

कोई पुरुष सैकड़ों देशों, अनेक नदियों, पर्वतों और जंगलों से अन्तरित किसी दूर प्रदेश में स्थित अपनी कान्ता से वियुक्त है। वह यद्यपि इस बात को जानता है कि कितने ही प्रयत्नों के बावजूद भी यहाँ से मैं अपनी प्रिया को देख नहीं सकता फिर भी अपनी प्रिया के स्मरण में इतना विभोर हो उठता है कि अपने पंजे के बल खड़ा होकर, आँखों में आसू भरकर उसी दिशा में, जिधर उसकी प्रेयसी का स्थान है, कुछ सोचता हुआ बहुत देर से देख रहा है।"

गत प्रवास अर्थात् भूतकालीन प्रवास का उदाहरण, जैसे 'मेघदूत' में—

"हे मित्र, जब तुम मेरी प्रिया के पास पहुँच जाओगे तो देखोगे कि वह अपने शरीर पर मलिन वस्त्रों को धारण किये हुए अपनी गोद में वीणा को लेकर मेरे नामों से सम्बिन्धित गाने योग्य बनाते बहु पदों को गाने की चैष्टा करती होगी, पर इतने ही में मेरी स्मृति उद्बुद्ध हो जाने के कारण नेत्रों के आँसुओं से भीगी हुई अपनी वीणा को किसी प्रकार पोंछ लेने पर भी अपने सधे हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव को बार-बार भूल रही होगी।"

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

द्वितीय अर्थात् संभ्रम (घबराहट) से होनेवाला प्रवास दिव्य अथवा मनुष्य आदि के द्वारा किए गए विप्लव से सहसा उत्पन्न होता है।

दिव्य के द्वारा होने वाले विप्लव के भीतर उत्पात, निर्घात, आंधी आदि का प्रकोप कारण होता है। [ज़ोर से आँधी आना, घनघोर वृष्टि के बीच बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की चकाचौंध, हाथी अथवा जंगली अन्य किसी पशु द्वारा उत्पात आदि बातें दिव्य के द्वारा होने वाले उत्पात में पाई जाती हैं।]

और मनुष्य के द्वारा होनेवाले संभ्रम के भीतर शत्रु आदि के द्वारा घिर जाना आदि बातें पाई जाती हैं।

संभ्रम से होने वाला प्रवास चाहे दिव्य कारणों से हो अथवा अदिव्य कारणों से, पर बुद्धि पूर्वक होने के कारण वह एक ही प्रकार का होता है। दिव्य के द्वारा होनेवाला संभ्रम प्रवास का उदाहरण, जैसे 'विक्रमोवंशी' नाटक में गंधर्वों आदि के द्वारा राजा का उर्वशी से वियुक्त होना। अदिव्य (मानुषजन्य) उत्पात से होने वाले संभ्रम प्रवास का उदाहरण है—

'मालती माधव' प्रकरण में कपालकुण्डला द्वारा मालती के अपहरण हो जाने से दोनों का प्रवासित होना।

स्वरूपान्यत्वकरणच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

शाप प्रवास—शापवश अन्य शरीर धारण कर लेने पर यदि नायक (प्रेमी) या नायिका (प्रेमिका) पास में भी हों फिर भी प्रवास ही है ॥ ६६ ॥

जैसे 'कादम्बरी' में वैशम्पायन का।

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७ ॥

नायक और नायिका में यदि कोई एक मर गया और उसके वियोग में दूसरा जीता हो, ऐसी हालत में वह शोक है अर्थात् वहाँ पर करुण रस है। आलंबनहीन होने के कारण वह शृङ्गार नहीं है। और यदि उसके जीने की आशा अर्थात् संयोग की आशा दैवयोग से उत्पन्न हो जाए तब तो वह करुणरस कदापि नहीं हो सकता बल्कि वह विप्रलंभ शृङ्गार हो जाएगा ॥ ६७ ॥

करुणरस का उदाहरण 'रघुवंश' में इन्दुमती के मर जाने पर महाराज की कारुणिक अवस्था का होना है। संयोग की आशा उत्पन्न हो जाने से करुण का विप्रलम्भ शृंगार कहे जाने या हो जाने का उदाहरण भी मिलता है। 'कादम्बरी' में पहले करुण फिर आकाशवाणी द्वारा 'यह जी जाएगा' इसके श्रवण से प्रवास-शृङ्गार हो जाता है।

अब नायिका के विषय में नियम बताते हैं—

प्रणयायोगयोरुत्का प्रवासे प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥ ६८ ॥

प्रणय के रहते अयोग हो तो ऐसी नायिका को उत्का या उत्कण्ठित कहते हैं। प्रिय से वियुक्त रहने पर अर्थात् प्रियतम के प्रवासकाल में उसे प्रोषितप्रिया कहते हैं। नायक के प्रति ईर्ष्या रखने से वह कलहन्तरिता, विप्रलब्धा और खण्डिता कही जाती है ॥ ६८ ॥

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६९ ॥

सम्भोग शृङ्गार—उस अवस्था-विशेष का नाम सम्भोग है जिसमें युवक और युवती दोनों एक-दूसरे केप्रति सेवन, दर्शन स्पर्शन (चूमना आदि) आदि क्रियाओं के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक बेरोकटोक स्वतन्त्रता के साथ आनन्दसागर में गोते लगाते रहते हैं ॥ ६९ ॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में—

राम सीता से कह रहे हैं—"अनुराग के सम्बन्ध से गाल सटाकर कुछ-कुछ

धीरे-धीरे, बिना तरतीब की बातें करते हुए और एक दूसरे को बाँहों से आलिंगन में कसते हुए हम दोनों को, बीते हुए प्रहरों का भी पता नहीं लगता था और रातें यों ही बीत जाया करती थीं।

अथवा जैसे 'उत्तररामचरित' का यह पद्य—

रामचन्द्र सीता से कहते हैं—"प्रिये, यह क्या है ? तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय-समूह को मूढ़ करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है वा दुःख, मूर्छा हैं वा निद्रा, विष का प्रसरण है वा मादक द्रव्य से उत्पन्न मद है ? यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है कि हे प्रिये, लावण्य रूपी अमृत की वर्षा करनेवाला, काले अगुरु के समान कृष्ण वर्ण का चौतरफा (चारों तरफ से) ऊँचा उठा हुआ तेरा स्तनमण्डल काले-काले अगुरु की आभावाले तथा चारों दिशाओं में जमीन तक लटके हुए मेघमण्डल के सयान सुशोभित हो रहा है।" [वर्षाऋतु में केतकी का पुष्प वर्षा की वृष्टि से विकसित होता है और इधर नायक के शरीर के अवयव स्तनमण्डल-रूपी मेघमण्डल के लावण्य रूपी जलवृष्टि से विकसित हो रहे हैं।] हे प्रिये, तेरी नासिका सुन्दर केतकी पुष्प की तना है, सुन्दर भौंहों की बनावट ही उसके पत्ते हैं, माथे पर लगा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हेलायुक्त तेरा अलक हो पुष्प रस के पान करने वाले भ्रमर हैं।"

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम्।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति॥ ७०॥

युवतियों के अन्दर लीला आदि दस चेष्टाएँ होती हैं। ये दसों चेष्टाएँ प्रिय के प्रति दाक्षिण्य, मृदुता और प्रेम के अनुरूप होती हैं॥ ७०॥

इनको द्वितीय प्रकाश में नायिकाओं के बारे में बताते समय कह आए हैं।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम्।
न ग्राम्यमाचरेत्किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च॥ ७१॥

नायक नायिका के साथ चाटुकारितायुक्त मधुर वचनों से और कला, क्रीड़ा आदि के साथ रमण करे अथवा कराए। पर इन क्रियाओं के साथ ग्राम्य (निन्दनीय) कार्य नहीं होना चाहिए। और न नर्म का भ्रंश करनेवाले ही कार्य होने चाहिए। रंगमंच पर ग्राम्य सम्भोग का दिखाना तो निषिद्ध ही है, फिर यहाँ ग्राम्य के निषेध करने का तात्पर्य यह है कि श्रव्यकाव्य में भी इसका वर्णन नहीं हो सकता है॥ ७१॥

राजा वत्सराज वासदत्ता से कह रहे हैं कि प्रिये, कामदेव की पूजा की समाप्ति के बाद तेरे हाथ का स्पर्श किया हुआ अशोक ऐसा लग रहा है मानो इसके अन्दर इसके और किसलयों से भी मृदुतर किसलय निकल आए हैं। यहाँ पर वासदत्ता के हाथों की अँगुलियों पर उत्प्रेक्षा की गई है।

नायक, नायिका, कैशिकी वृत्ति, नाटक और नाटिका आदि के लक्षणों को जानकर और कवि-परम्परा से अवगत होकर तथा स्वयमपि औचित्य की सम्भावना के अनुकूल कल्पना करते हुए नई-नई सूझों को दिखलाता हुआ प्रतिभाशाली कवि श्रृंगार रस की रचना करे।

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा-
त्त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः॥ ७२॥

वीररस—प्रताप. विनय, अध्यवसाय, सत्व (पराक्रम), अविषाद (हर्ष), नय, विस्मय, विक्रम आदि से विभावित होकर करुणा, युद्ध, दान आदि से अनुभावित और गर्व, घृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति वितर्क आदि से भावित होता हुआ उत्साह नाम का स्थायीभाव वीररस की संज्ञा प्राप्त करता है॥ ७२॥

यही अपनी भावना करनेवाले के मन को विस्तृत करनेवाला तथा आनन्द का कारण होता है। यह तीन प्रकार का होता है—१. दयावीर, ९. युद्धवीर और ३ दानवीर।

दयावीर के उदाहरण 'नागानन्द' के प्रधान नायक जीमूतवाहन हैं। युद्धवीर का उदाहरण 'महावीरचरित' में वर्णित मर्यादापुरुषोत्तम राम हैं। दानवीर का उदाहरण परशुरामजी और और राजा बलि आदि हैं। द्वितीय प्रकाश मे 'त्यागः समुद्र०' आदि श्लोक के द्वारा इसका उदाहरण दिया जा चुका है। राजा बलि के विषय में उदाहरण दिया जा रहा है—

राजा बलि की परीक्षा लेते समय भगवान् ने जब अपना वामन रूप त्याग कर अपना विराट् रूप धारण किया उसी समय का यह वर्णन है। "भगवान् के शरीर की छोटी-छोटी गाँठों ने जब सन्धि के बन्धन से मुक्ति पाई अर्थात् जब भगवान् का शरीर बढ़ने लगा तो उनके विकसित वक्षस्थल पर कौस्तुम मणि चमकमे लगी, निकलते हुए नाभिकमल के कुड्मल कुटीर से गम्भीर सामध्वनि होने लगी। अपने याचक को इस प्रकार पा उत्सुकता पूर्वक और आनन्द के साथ राजा वलि उन्हें देखने लगे। कवि कहता है कि क्रमशः बढ़ने की महिमावाला अतएव आश्चर्यकारी भगवान् विष्णु का शरीर आपलोंगों की रक्षा करे।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

'ये वे ही राजा बलि हैं जिनके द्वारा लक्ष्मी के स्तनमण्डल में लगे हुए कुंकुम-से अरुण वर्णवाले भगवान् विष्णु भिक्षुक बनाए गए।'

वीररस के ऊपर बताए हुए तीनों भेदों को कुछ लोग मानते हैं और कुछ नहीं भी मानते।

युद्धवीर में प्रस्वेद (पसीना) होना, मुँह का लाल हो जाना, नेत्रादिकों में क्रोध आदि अनुभावों का होना आदि बातें नहीं होतीं। यदि ये सब बातें रहें तो फिर रौद्र कहलाएगा।

बीभत्स रस—इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। यह तीन प्रकार का होता है— १. उद्वेग-जन्य, २. क्षोभ-जन्य, और ३. शुद्ध।

बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।
वैराग्याज्जवनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशंकादयः॥ ७३॥

१. हृदय को बिलकुल ही अच्छे न लगनेवाले कीड़े, सड़न, पीब, कै आदि विभावों से पैदा हुआ जुगुप्सा नामक स्थायीभाव को पुष्ट करनेवाले लक्षणों से युक्त उद्वेगी बीभत्स होता है।

२. रुधिर, अंतड़ी, हड्डी और मज्जा, मांस आदि के देखने अर्थात् इन विभावों से होनेवाले क्षोभ से उत्पन्न होनेवाला बीभत्स होता है।

३. वैराग्य के द्वारा स्त्रियों की सुन्दर जंघाओं तथा स्तन आदि अंगों में भयानक विकृति को देखकर होनेवाली जुगुप्सा को शुद्ध बीभत्स कहते हैं।

बीभत्स रस में नाक का सिकोड़ना और मुख मोड़ना आदि अनुभाव और आवेग, व्याधि तथा शंका, ये संचारीभाव होते हैं॥ ७३॥

उद्वेग से होनेवाला बीभत्सरस का उदाहरण 'मालतीमाधव' का यह पद्य—

उतिन उतिन चाम फेरि ताहि काढ़त हैं,
लोथि को उठाइ भखें ऐसे वे अतंक हैं।
सर्‌यो मांस कंधो जाँघ पीठ औ नितम्बनु कौ,
सुलभ पवाइ लेत रुचि सों निसंक हैं।
रौथि डारें नाड़ी नेत्र आँत औ निकारें दाँत,
लिथरे सरीर जिन सोनित की पंक हैं।
अस्थिन पै ऊँचौ नीचौ और तिनपीच हू कौ,
धीरे-धीरे कसे मांस खात प्रेत रंक हैं।

क्षोभ से होनेवाले बीभत्स का उदाहरण, जैसे 'महावीरचरित' में—

"आँतों में बड़े-बड़े मुण्डों के गुँथे हुए आभूणों से सुसज्जित ताड़का राम-लक्ष्मण पर बड़े वेग के साथ झपट रही है। वेग के साथ दौड़ने से मुर्दों की वे नसें, जिनको उसने कंकण के रूप में पहन रखा है, आपस में लगकर भयानक झनझनाहट पैदा कर रहे हैं। मुण्डों की मालारूपी आभूषण की ध्वनि आकाश-भर में व्याप्त हो रही है। शरीर का ऊपरी भाग विशेषतः स्तनमण्डल बड़ा ही भयानक लग रहा है।"

शुद्ध बीभत्स, जैसे—

किसी विरक्त पुरुष की उक्ति है—"काम के वशीभूत पुरुष युवतियों की लार को मुखमदिरा, मांसपिण्डों को कुच और हाड़-मांस को जघन समझते हैं।"

[यहाँ पर शान्तरस नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह किसी विरक्त के द्वारा घृणा के साथ कहा हुआ है।]

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभृकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदो स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः॥ ७४॥

रौद्ररस—रौद्ररस का दिभाव शत्रु के प्रति मत्सरता और घृणा आदि हैं। इसके अनुभाव, क्षोभ, अपने ओंठों को दबाना, कम्प होना, भृकुटि का टेढ़ा करना, पसीना आना, मुख का लाल हो जाना, शस्त्रास्त्रों को चमकाना, गर्वोक्ति के साथ कन्धों को फैलाना, पृथ्वी को ज़ोर के साथ पैरों से चाँपना, प्रहार करना आदि हैं॥ ७४॥

और इसके संचारीभाव—अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता और आवेग आदि हैं।

ऊपर कहे हुए विभाव, अनुभाव, और संचारीभावों से पुष्ट होता हुआ क्रोध नामक स्थायीभाव रौद्ररस की संज्ञा प्राप्त करता है।

मात्सर्य नामक विभाववाला रौद्ररस, जैसे—

प्रकुपित परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—"तुम इस समय तपस्या के बल से ब्रह्मर्षि हो, पर जन्मना क्षत्रिय हो। अतः यदि तुम्हें अपनी तपस्या का घमण्ड है तो मेरे अन्दर तपस्या का वह बल है कि मैं अपने तपोबल से तुम्हारी तपस्या को नष्ट कर सकता हूँ और यदि तुम्हें क्षत्रिय होने का गर्व है तो फिर शस्त्रास्त्रों के साथ आ जाओ, उसका भी मुँहतोड़ उत्तर देनेवाला फरसा मेरे पास ही विद्यमान है।"

वैरीकृत रौद्र, का उदाहरण, जैसे—

"भीमसेन मंगलपाठ करनेवालों को डाँटते हुए कह रहे हैं—जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाखनिर्मित महल, विषमिश्रित आहार तथा द्यूत क्रीड़ार्थ सभागृह प्रवेश आदि के द्वारा हम लोगों के प्राण और धन के अपहरण की चेष्टा की, द्रौपदी के केशपाशों को खींचा, वे मेरे रहते स्वस्थ हों, ऐसा कदापि नहीं हो सकता।"

'महावीरचरित' और 'वेणीसंहार' में वर्णित परशुराम, भीमसेन और दुर्योधन के व्यवहार रौद्ररस के उदाहरण हैं।

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ ७५ ॥

हास्यरस—अपने या अन्य के विकृत आकृति, वाणी और वेष के द्वारा पैदा हुए हास के परिपुष्ट होने का नाम हास्यरस है। इस रस के दो आश्रय होते हैं—१, आत्मस्थ और २. परस्थ ॥ ७५ ॥

आत्मस्थ का उदाहरण है—रावण द्वारा कथित यह पद्य—

"मेरे शरीर में लगी विभूति ही चन्दन की धूलि का लेप है, यज्ञोपवीत ही सुन्दर हार है, इधर-उधर बिखरी हुई, क्लिष्ट जटाएँ ही शिरोभूषण हैं। गले में पड़ी हुई रुद्राक्ष की माला ही रत्नजटित आभूषण है। वल्कल ही चित्रांशुक है, इस प्रकार से मैंने सीता को लुभाने लायक (योग्य) कामीजनोचित सुन्दर वेश-विन्यास किया है।"

परस्थ हास्य, जैसे—किसी दाता ने किसी भिक्षुक से पूछा—'क्यों तुम मांस भी खाते हो?' उधर से उत्तर मिला—'मद्य के विना मांस का सेवन कैसा?' दाताजी ने फिर पूछा—'तुम्हें क्या मद्य भी प्रिय है?' उधर से उत्तर आया—'वेश्याओं के साथ ही मुझे तो मद्यपान में मज़ा आता है।' दाता ने पुनः प्रश्न किया—'वेश्याएँ तो रुपये की लालची होती हैं, तेरे पास धन कहाँ से आता है?' उत्तर मिला—'जुआ खेलकर तथा चोरी से।' दाता ने फिर पूछा—'अरे तुम चोरी भी करते हो और जुआ भी खेलते हो?' उत्तर मिला—'जो अपने को नष्ट कर चुका है उसकी इसके अलावा और क्या गति हो सकती है।'

स्मितमिह विकासिनयनं किंचिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्।
मधुरस्वरं विहसितं सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

हास्य के आत्मस्थ और परस्थ भेदों को बता चुके। ये दोनों भी—उत्तम मध्यम और अधम के प्रकृति-भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार हास्य छः प्रकार का होता है। ये हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित।

जिस हास्य में केवल नेत्र विकसित हों उसे स्मित कहते हैं।

जिस हास्म में कुछ-कुछ दाँत भी दिखाई दें उसे हसित कहते हैं।

जिस हास्य में हँसते समय मधुर स्वर भी होता है उसे विहसित कहते हैं।

जिस हास्य में सिर भी हिलने लगता है उसे उपहसित कहते हैं।

जिस हास्य में हँसते-हँसते आँखों में आँसू तक आ लाए उसे अपहसित कहते हैं।

जिस हास्य में सारा शरीर काँपने लग जाए उसे अतिहसित कहते हैं।

क्रमशः शुरू के दो उत्तम पुरुष में, उसके बाद के क्रमशः दो मध्यम पुरुष में और शेष अधम पुरुष में होते हैं॥ ७६-७७॥

निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिणः
अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः॥ ७८॥
कर्माऽस्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः॥ ७९॥

इनके उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिए। निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि, मूर्च्छा, ये इसके व्यभिचारीभाव होते हैं।

अद्भुत रस—लौकिक सीमा को अतिक्रमण करनेवाले आश्चर्यजनज पदार्थों से विभावित (ये जिसके विभाव हैं) साधुवाद, अश्रु, नेपथु, स्वेद, गद्गद वाणी आदि से अनुभावित (ये जिसके अनुभाव होते हैं) हर्ष, आवेग, धृति, आदि से व्यभिचारित (अर्थात् ये जिसके व्यभिचारी भाव होते हैं) विस्मय नामक स्थायीभाव परिपुष्ट हो अद्भुत रस कहलाता है॥ ७८-७९॥

जैसे लक्ष्मण की यह उक्ति—

"भुजाओं के द्वारा चढ़ाए गए भगवान् शंकर के धनुष की टंकार की ध्वनि नहीं है, अपितु बड़े भाई रामचन्द्र के बालचरित्र का नगाड़ा बज रहा है।"

"अति शीघ्रता से भरा हुआ साथ ही मिला हुआ कपाट सम्पुटरूपी ब्रह्माण्ड भाण्ड के अन्दर घूमती हुई पिण्डीभूत हुई शब्द-ध्वनि की चण्डिमा क्या अभी तक शान्त न हो सकी ?"

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैचित्त्यलक्षणः।
दैन्यसंभ्रमसंमोहत्रासादिस्तत्सहोदरः॥ ८०॥

भयानक रस—विकृत स्वर, (भयानक, डरावने) व्याघ्र सिंह आदि जीवों के देखने-सुनने आदि विभावों से उत्पन्न, भय स्थायी भाव से भयानक रस की उत्पत्ति है। इसमें सब अंगों में डर के मारे कँपकँपी, पसीने का आना, शोक से चेहरे का फीका पड़ जाना, आदि अनुभाव तथा दैन्य, संभ्रम, सम्मोह त्रास आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ॥ ८० ॥

जैसे—'शास्त्र को छोड़कर कुबड़े की तरह नम्र होकर धीरे-धीरे येन-केन-प्रकारेण (जैसे-तैसे) जा सकते हो।'

इसी प्रकार से पहले बताए हुए 'रत्नावली नाटिका' के 'नष्टंवर्ष वरैः' इस श्लोक को भी इसका उदाहरण समझना चाहिए। इत्यादि

और भी जैसे—

"कोई कवि किसी राजा से कहता है कि महाराज, आपकी विजययात्रा की खबर सुन आपके शत्रुओं की बुद्धि चकराई और वे डर के मारे घर से भाग खड़े हुए। फिर उनके मन में यह शंका आई कि कहीं पकड़ न लिए जाएँ, अतः जंगल में चले गए। फिर वहाँ से पर्वत पर और जब वहाँ भी भय से छुटकारा नहीं मिला तब घने वृक्षोंवाली पर्वतों की चोटियों पर और उसके बाद उसकी कन्दराओं में चले गए। कन्दराओं में रहते हुए भी उन्होंने अपने सारे अंगों को ऐसा सिकोड़ लिया है मानो उनका एक अंग दूसरे में प्रविष्ट होता जा रहा है। सो हे महाराज, आपके शत्रुओं की यह दशा है, वे कहाँ रहें, कहाँ जाएँ, इस विषय में उनकी बुद्धि काम नहीं दे रही है।"

इष्टानाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम्।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥ ८१ ॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसंभ्रमाः।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ ८२ ॥

करुण रस—यह शोक नामक स्थायीभाव से पैदा होता है। इष्ट का नाश, अनिष्ट की प्राप्ति आदि इसके विभाव और निःश्वास, उद्भास, रुदन, स्तम्भ, प्रलाप आदि अनुभाव तथा निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि मरण, आलस्य, आवेग, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि संचारी भाव होते हैं ॥ ८१-८२ ॥

इष्टनाश से उत्पन्न करुण, जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"हे प्राणनाथ, क्या तुम जीते हो यह कहती हुई वह ज्यों ही खड़ी हुई तो देखती क्या है कि शंकर के क्रोध से जला हुआ, पुरुष के आकार का राख का एक ढेर सामने पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।"

इत्यादि रति का प्रलाप]

अनिष्ट-प्राप्ति का उदाहरण 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका का कैद किया जाना है।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ८३ ॥

प्रीति और भक्ति आदि भावों को और मृगया, द्यूत, से होनेवाले रसों का हर्ष और उत्साह के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या नहीं की गई ॥ ८३ ॥

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः।
लक्ष्यसंध्यन्तराङ्गानि सालंकारेषु तेषु च ॥ ८४ ॥

३६ अलंकार आदि का उपमा आदि अलंकारों में और २१ साम आदि का हर्ष, उत्साह आदि के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। यह बात स्पष्ट है, अतः इसको अलग से बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई ॥ ८४ ॥

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥ ८५ ॥

रमणीय हो अथवा घृणित, अच्छी हो या बुरी, उग्र अथवा आह्लादकारी, गहन हो अथवा विकृत, [किसी भी प्रकार की क्यों न हो] विश्व में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, वस्तु ही क्यों अवस्तु भी, जो कवि और भावक की भावना के विषयीभूत होने पर रस और भाव को पैदा न करे ॥ ८५ ॥

विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥ ८६ ॥

विष्णु के पुत्र धनंजय जिनके पाण्डित्य की धाक महाराज मुंज के पण्डित परिषद में जमी हुई है उन्होंने विद्वानों के मनबहलाव के लिए दशरूपक नामक इस ग्रन्थ की रचना की ॥ ८६ ॥

[दशरूपक समाप्त]

विष्णु के पुप धनिक द्वारा दशरूपक के ऊपर लिखी गई 'दशरूपकावलोक' नाम की व्याख्या का रस-विचार नामक चतुर्थ प्रकाश समाप्त।

परिशिष्ट

धनिक की संस्कृत वृत्ति

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमतदेवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन ।

नमस्तस्मै.........भरताय च ॥ १-२ ॥

यस्य कण्ठः पुष्करायते मृदङ्गवदाचरति मदाभोगेन घनध्वनो निविडध्वनिः नीलकण्ठस्य शिवस्य ताण्डवे उद्धते नृत्ते तस्मै गणेशाय नमः । अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कारः । नीलकण्ठस्य मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनिः पुस्करायत इति प्रतीतेः ।

दशरूपानुकारेणेति । एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेनान्यत्राऽनुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावकाः ध्यातारो रसिकाश्च माद्यन्ति हृष्यन्ति तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नमः ।

श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते ।

कस्यचिदेव.........येन वैदग्धीम् ॥ ३ ॥

तं कञ्चिद् विषयं प्रकरणादिरूपं कदाचिदेव कस्यचिदेव कवेः सरस्वती योजयति येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति ।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति ।

उद्धृत्योद्धृत्य.........सङ्क्षिपामि ॥ ४ ॥

यं नाट्यवेदं वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान् यत्सम्बद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत् हरस्ताण्डवमुद्धतं लास्यं सुकुमारं नृत्यं पार्वती कृतवती तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य संक्षेपः क्रियत इत्यर्थः ।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति ।

व्याकीर्णे.........क्रियतेऽञ्जसा ॥ ५ ॥

व्याकीर्णे विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदेनैव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति ।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम् । दशरूपं किम्फलमित्याह ।

आनन्द०....पराङ्मुखाय ॥ ६ ॥

तत्र केचित् ।

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वं नेच्छन्ति तन्निरासेन स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ।

नाट्यानां लक्षणं संक्षिपामीत्युक्तम । किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह ।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् ।

रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत् ।

रूपकं तत् सामरोपाद्

इति । नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वात् रूपकं मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य इन्द्रः पुरन्दरः शक्र इतिवत् प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः ।

दशधैव रसाश्रयम् ॥ ७ ॥

इति । रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम् । एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण नाटिकायाः सङ्कीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

तानेव दशभेदानुद्दिशति ।

नाटकं........वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥८॥

ननु ।

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह ।

अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं

इति । रसाश्रयान् नाट्याद् भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान् नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाऽऽङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु ज नर्तकव्यपदेशाल् लोकेऽपि चाऽत्र प्रेक्षणीयकमिति व्यवहारान् नाटकादेरन्यन् नृत्यम् । तद्भेदत्वात् श्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः । नाटकादि च रसविषयम् । रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद् वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च नट अवस्कन्दन इति नटेः किञ्चिच् चलनार्थत्वात् सात्त्विकबाहुल्यम् । अतएव तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन् नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान् नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गान् नृत्तं व्युत्पादयति ।

नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

इति । तालश्चञ्चत्पुटादिः लयो द्रुतादिः तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।

अनन्तरोक्तं द्वितयं व्याचष्टे ।

आद्यं········तथा परम् ॥ ९ ॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम् । नृत्तं च देशीति । द्विविधस्याऽपि द्वैविध्यं दर्शयति ।

मधुरोद्धतभेदेन·······नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

सुकुमारं द्वयमपि लास्यमुद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति । तत् च नाटकाद्युपकारकमिति । नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति ।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात् किङ्कृतो भेद इत्याशङ्कयाऽऽह ।

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको

इति । वस्तुभेदान् नायकभेदाद् रसभेदात् रूपाणामन्योऽन्यं भेद इति । वस्तुभेदमाह ।

वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह ।

तत्राऽऽधिकारिकं·······विदुः ॥ ११ ॥

इति । प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तम् । तदङ्गकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति ।

अधिकारः······ स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

इति । फलेन स्वस्वामिसम्बन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाऽधिकारी तेनाऽधिकारेणाऽधिकारिणा वा निर्वृत्तं फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम् ।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे ।

प्रासङ्गिकं····प्रसङ्गतः ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सतस्तत्प्रसङ्गात् स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत् प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः ।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीविभेदाद् द्विविधमित्याह ।

सानुबन्धंप्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत् । पताकेवाऽसाधारणनायकचिह्नवत् तदुपकारित्वात् । यदल्पं सा प्रकरी श्रवणादिवृत्तान्तवत् ।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति ।

प्रस्तुतागन्तुभावस्य······संविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद् भवतीति पताका स्थानकम्। तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्य-विशेषणतया च द्विप्रकारमन्योक्तिसमासोक्तिभेदात्। यथा रत्नावल्याम्।

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति॥

यथा च तुल्यविशेषणतया।

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणाद्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवाऽन्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपाविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्याऽपि त्रैविध्यमाह।

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्.......दिव्यमर्त्यादिभेदतः ॥१५, १६–॥

इति निगदव्याख्यातम्।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह।

कार्यं त्रिवर्गस्तत् शुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥–१६॥

धर्मार्थकामाः फलम्। तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा। तत्साधनं व्युत्पादयति।

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायण-व्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः। यौगन्धरायणः। कः सन्देहः। द्वीपादन्यस्मादिति पठति इत्यादिना।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ।

इत्यन्तेन। यथा च बेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो वीजमिति। तच् च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति।

अवान्तरबीजस्य सञ्ज्ञान्तरमाह।

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥१७॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्त-रकार्यहेतुरुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते। सागरिका। श्रुत्वा। [1]कहं एसो सो उदयणण-रिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णेत्यादि। बिन्दुर्जले तैलविन्दुवत् प्रसारित्वात्।

१. कथं एष स उदयननरेन्द्रः यस्याऽहं तातेन दत्तेत्यादि।

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गाद् व्युत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह ।

बीजबिन्दुपताकाख्य:........परिकीर्तिता: ॥१८॥

अर्थप्रकृतय: प्रयोजनसिद्धिहेतव: ।

अन्यदवस्थापञ्चकमाह ।

अवस्था:पञ्च........फलागमा: ॥१९॥

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

औत्सुक्यमात्रमारम्भ: फललाभाय भूयसे ।

इदमहं सम्पादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते । यथा रत्नावल्याम् ।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ
दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।

इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शित: ।

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित: ॥२०॥

तस्य फलस्याऽप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेष: प्रयत्न: । यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपाय: । [1]तहावि णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा तहा आलिहिअ जधा समीहिअं करिस्सम् इत्यादिना प्रतिपादित: ।

प्राप्त्याशामाह ।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भव: ।

उपायस्याऽपायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्ति: प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्काया [2]एवं जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह ।

अपायाभावत: प्राप्तिर्नियताप्ति: सुनिश्चिता ।

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्यां विदूषक: । [3]सागरिका दुक्करं जीविस्सदि इत्युपक्रम्य किं ण उपायं चिन्तेसि । इत्यनन्तरे राजा । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नाऽन्यमत्रोपायं पश्यामीत्यनन्तशङ्कार्थबिन्दुनाऽनेन देवीलक्षणापायस्य प्रासादनेन निवारणान् नियता फलप्राप्ति: सूचिता ।

---

१. विदू० । तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यदा तथा आलिख्य यथा समीहितं करिष्यामि ।

२. एवं यदि अकालवातालीव आगम्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता ।

३. सागरिका दुष्कुरं जीविष्यति इत्युपक्रम्य किं न उपायं चिन्तयसि ।

फलयोगमाह ।

सम फलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः ॥२२॥

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

सन्धिलक्षणमाह ।

अर्थप्रकृतयः········पञ्च सन्धयः ॥२२–२३॥

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनाऽवस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च सन्धयो जायन्ते ।

सन्धिसामान्यलक्षणमाह ।

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ॥२३॥

एकेन प्रयोजनेनाऽन्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः ।

के पुनस्ते सन्धयः ।

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ॥२४–२५॥

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

मुखं······वीजारम्भसमन्वयात् ॥२५॥

वीजानामुत्पत्तिरनेकप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येयम् । तेनाऽत्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव वीजत्वमिति । अस्य च वीजारम्भार्थ युक्तानि द्वादशाऽङ्गानि भवन्ति । तान्याह ।

उपक्षेप········लक्षणम् ॥२५–२६॥

एतेषां स्वसञ्ज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते ।

वीजन्यास उपक्षेपः ।

यथा रत्नावल्यां नेपथ्ये ।

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः ।

परिकरमाह ।

तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।

यथा तत्रैव । अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनमित्यादिना सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदया इत्यन्तेन वीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात् परिकरः ।

परिन्यासमाह ।

तन्निष्पत्तिः परिन्यासो

यथा तत्रैव ।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ
दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नाऽस्ति सत्यं तथाऽपि
स्वेच्छाकारी भीत एवाऽस्मि भर्तुः ॥

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ।

विलोभनमाह ।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥ २७ ॥

यथा रत्नावल्याम् ।

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन् ।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवाऽऽसेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुराग-वीजानुगुण्येनैव विलोभनाद् विलोभनमिति । यथा च वेणीसंहारे ।

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनाऽस्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

इत्यादिना यशोदुन्दुभिरित्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद् विलोभनमिति ।

अथ युक्तिः ।

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः

यथा रत्नावल्यां मयाऽपि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवाऽनुष्ठितं कथितं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटित इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्यसिंहलेश्व-रामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतु प्रयोजनत्वेनाऽवधारणाद् युक्तिरिति ।

अथ प्राप्तिः ।

प्राप्तिः सुखागमः ।

इति । यथा वेणीसंहारे । चेटी । [1]भट्टिणि परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीय-दीत्युपक्रमे । भीमः ।

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

द्रौपदी श्रुत्वा सहर्षं [2]नाध अस्सुदपुब्बं खु एदं वअणं ता पुणो पुणो भण इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति । यथा च रत्नावल्यां सागरिका श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती । [3]कधं अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं एदस्स दंसणेण बहुमदं संजादमिति । सागरिकायाः सुखागमात् प्राप्तिरिति ।

अथ समाधानम् ।

बीजागमः समाधानं

यथा रत्नावल्यां वासवदत्ता । [4]तेण हि उअणेहि मे उवअरणाइं । सागरिका । भट्टिणि एदं सव्वं सज्जम् । वासवदत्ता । निरूप्याऽऽत्मगतं अहो पमादो परिअणस्स जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेय कहं दिट्ठिगोअरं आअदा भोदु एव्वं दाव । प्रकाशं । हंजे साअरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणसवे सारिअं मोत्तूण इहागदा ता तहिं ज्जेव गच्छ इत्युपक्रमे सागरिका स्वगतं सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं च मे कुदूहलं ता अलक्खिआ पेक्खिस्समित्यनेन वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात् सारिकायाः सुसङ्गतार्पणेन अलक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात् समाधानमिति । यथा च वेणीसंहारे । भीमः । भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन ।

---

१. भर्तृदारिके परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते ।
२. नाथ अश्रुतपूर्वमेमद्वचनं तत्पुनः पुनर्भण ।
३. कथमयं स राजा उदयनो यस्याऽहं तातेन दत्ता तत् परप्रेषणदूषितं मे जीवितुम् एतस्य दर्शनेन बहुमतं सञ्जातम् ।
४. तेन हि मे उपकरणानि उपनय । सागरिका । भर्तृदारिके ! एतत् सर्वं सज्जम् । वासवदत्ता निरूप्यात्मगतं, अहो प्रमादः, परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथात् प्रयत्नेन रक्ष्यते कथं दृष्टिगोचरम् आगता भवेत् । एवं तावत् । प्रकाशं । चेटि सागरिके कथं त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वाहागता, तस्मात्तत्रैव गच्छ, इत्युपक्रमे सागरिका स्वगतं सारिका तावन्मया सुसंगताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितुं च मे कुतूहलं तत् अलक्षितं प्रेक्षिष्ये ।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

इत्यतेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम् ।

अथ विधानम् ।

विधानं सुखदुःखकृत् ॥ २८ ॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के । माधवः ।

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
आवृत्तवृत्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥
यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाऽभूत् ।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयम्
अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्याऽनुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुख-दुःखकारित्वाद् विधानमिति । यथा च वेणीसंहारे । द्रौपदी । [1]णाध पुणोवि तुम्मेम्हि अहं आअच्छिअ समासासिदव्वा । भीमः । ननु पाञ्चालराजतनये

किमद्याऽप्यलीकाश्वासनया ।
भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद् विधानमिति ।

अथ परिभावना ।

परिभावोद्भुतावेश—

इति । यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । दृष्ट्वा सबिस्मयम् । [2]कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो यूयं पडिच्छेदिता अहंपि इधट्ठिद ज्जेव्व णं पूजइस्सं । इत्यनेन वत्सराजस्य अनङ्गरूपतया अपह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसाःवेशः परिभावना । यथा च वेणीसंहारे । द्रौपदी । [3]किं दाणिं एसो पलअजलधर-

---

१. नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या ।
२. कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गं यूयं प्रतिच्छेदिता अहमपि इह स्थितैवैनं पूजयिष्यामीति ।
३. किमिदानीमेव प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते ।

त्थणिदमंसलो खणं खणे समरदुन्दुभी ताडीयदित्ति । इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वने-र्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्या. परिभावना ।

अथोद्भेदः ।

उद्भेदो गूढभेदनम् ।

इति । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा अस्ता-पास्तेत्यादिनोदयनस्येत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनाद्गुद्भेदः । यथा च वेणीसंहारे । आर्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरुरित्युपक्रमे नेपथ्ये ।

यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद् विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्ति कुलस्येच्छता ।
तद् द्यूतारणिसम्भृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥

भीमः । सहर्षम् । जृम्भतां सम्प्रत्यप्रतिहतमार्यय क्रोधस्योद्भेदनादुद्भेदः ।

अथ करणम् ।

करणं प्रकृतारम्भो

यथा रत्नावल्याम् । [१]णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविससि त्ति दिट्ठं जं पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि मं पेक्खइ ता गमिस्सं इत्यनेनाऽनन्तराङ्कप्र-कृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात् करणम् । यथां च वेणीसंहारे । तत् पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयायेति । सहदेवः । आर्य गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुमित्यनेनाऽनन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात् । सर्वत्र चेहोद्दे-शप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याऽविवक्षितत्वादिति ।

अथ भेदः ।

भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २९ ॥

इति । यथा वेणीसंहारे । [२]णाध मा क्खु जणसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणवेक्खिद-सरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसञ्चरणीयाइं सुणीयन्ति रिउवलाइं । भीमः । अयि सुक्षत्रिये ।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्र मस्तिष्कङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥

---

१. नमस्ते कुसुमायुध तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति, दृष्टं यत् प्रेक्षितव्यं तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तद् गमिष्यामीति ।

२. नाथ मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्च-रणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।

इत्यनेन विषण्णाया; द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात् पारम्पर्येण वा विधेयानि । एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यंभावितेति ।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह ।

लक्ष्यालक्ष्य.......त्रयोदश ॥ ३० ॥

तस्य बीजस्य किञ्चिल् लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः प्रकाशनं तत् प्रतिमुखम् । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल् लक्ष्यस्यवासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति । वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल् लक्ष्यस्य कर्णाद्यवधाच् चाऽलक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः ।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥

इत्यादिभिः ।

दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विनां समरमूर्द्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति । अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयप्नार्थानुगतानि त्रयोदशाऽङ्गानि भवन्ति ।

तान्याह ।

बिलास.......पर्युपःसनम् । ३१-३२ ॥

वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

रत्यर्थेहा.......शमः ॥ ३१ ॥

परिहासवचो.......निरोधनम् ॥ ३२ ॥३४-

पर्युपास्तिरनुनयः.......इष्यते ॥ ३४-३५ ॥

रत्यर्थेहेति । यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । [1]हिअअ पसीद पसीद किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेणेत्यु पक्रमे तहावि आलेखगदं तं जणं कदुअ जधा समीहिदं करिस्सं । तहावि तस्स णत्थि अणो दंसणोवाउत्ति

---

१. हृदय प्रसीद प्रसीद किमनेन आयासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन । तथापि आलेखगतं तं जनं कृत्वा यथा समीहितं करिष्यामि । तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति ।

इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति ।

अथ परिसर्पः । दृष्टेति । यथा वेणीसंहारे । कञ्चुकी । योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु अथवा किं बलवत्सु वासुदेवसहायेषु अरिषु अद्याऽप्यन्तःपुरसुखमनुभवति । इदमपरमयथायथं स्वामिनः ।

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायाऽस्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्याऽयमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ।।

इत्येनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याऽभिमन्युवधान् नष्टस्य बलवतां पाण्डवानां वासुदेवसहायानां सङ्ग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति । यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य क्वाऽसौक्वाऽसावित्यादिना वत्सराजेनाऽनुसरणात् परिसर्प इति ।

अथ विधूतम् । विधूतमिति । यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । [1]सहि अहिअं मे संतावो बाधेदि । सुसङ्गता । दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयाऽस्या अङ्के ददाति । सागरिका । तानि क्षिपन्ती । [2]सहि अवणेहि एदाइं किं अआरणे अत्ताणं आयासेसि णं भणामि ।

[3]दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कं ।।

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद् विधूतम् । यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्याऽनिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति ।

अथ शमः । तच्छम इति । तस्या अरतेरुपशमः शमः । यथा रत्नावल्याम् । राजा । वयस्याऽनया लिखितोऽहमिति यत् सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत् कथं न पश्यामीति प्रक्रमे । सागरिका । आत्मगतम् । [4]हिअअ समस्सस मणोरहो वि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो इति किंचिदरत्युपशमात् शम इति ।

---

१. सखि अधिकं मे सन्तापो बाधते ।
२. सखि अपनयैतानि कथमकारणमात्मानमायासयसि, ननु भणामि ।
३. दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं केवलमेकम् ।
४. हृदय समाश्वसिहि. मनोरथोऽपि ते एतावतीं भूमिं न गत इति ।

अथ नर्म । परिहासवच इति । यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता । [1]सहि जस्स कए तुमं आअदा सो अअं पुरदो चिट्ठदि । सागरिका । सासूयम् सुसङ्गदे कस्स कए अहं आअदा । सुसङ्गता । अइ अप्पसङ्किदे णं चित्तफलअस्स ता गेण्ह एद-मित्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म । यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनः । चेटी-हस्तादर्घपात्रमादाय देव्याः समर्पयति । पुनर्भानुमती अर्घं दत्वा । [2]हला उवणेहि मे कसुमाइं जाव अवराणं पि देवाणं सवरिअं णिवत्तेमि हस्तौ प्रसारयति । दुर्यो-धनः । पुष्पाण्युपनयति । भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात् पुष्पाणि पतन्ती-त्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात् परि-हास्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति ।

अथ नर्मद्युतिः । धृतिरिति । यदा रत्नावल्याम् । सुसंगता ।[3] सहि अदिणि-ट्ठुरा दाणि सि तुमं जा एवं पि भट्टिणा हत्थावलंविदा कोवं ण मुञ्चसि । सागरिका । सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य । सुसङ्गदे दाणि पि ण विरमसीत्यनेनाऽनुरागबीजोद्घाट-नान्येन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ।

अथ प्रगयणम् । उत्तरेति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । [4]भो वअस्स दिठ्ठिआ वड्ढसे । राजा । सकौतुकम । वयस्य किमेतत् । विदूषकः । [5]भो एवं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व अलिहिदो को अणो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिणुहवी-अदीत्यादिना ।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्
किं शोषमायासि मृणालहार !
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य
तत्राऽवकाशो भवतः किमु स्यात् ॥

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाट-नात् प्रगयणमिति ।

अथ निरोधः । हितरोधः इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा धिङ्मूर्ख ।

---

१. सखि यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति । सागरिका (सासूयं) सुसङ्गते कस्य कृतेऽहमा-गता ? अयि आत्मशङ्किते ननु चित्रफलकस्य तद्गृहाणैतदिति ।

२. हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि ।

३. सखि अतिनिष्ठुरासीदानीं त्वं या एवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता। कोपं न मुञ्चसि । साग-रिका (सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसंगते इदानीमपि न विरमसि ।

४. भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे ।

५. भो एतद् खलु तत् यन्मया भणितं त्वमेव आलिगितः । कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निन्हू-यते ।

प्राप्ता कथमपि दैवात् कण्ठमनीतैव सा प्रथटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्तप्रवेशसूचकेन विदूषक वचसा निरोधान् निरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम् । पर्युपास्तिरिति । यथा रत्नावल्याम् राजा ।

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायिकयोर्दर्शनात् कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटान्वयेन पर्युपासनमिति ।

अथ पुष्पम् । पुष्पमिति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । सागरिका हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति । विदूषकः । [1]भो एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । राजा । बयस्य ! सत्यम् ।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात् पुष्पम् ।

अथोपन्यासः । उपन्यास इति । यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता ।[2] भट्टा अलं सङ्काए भएवि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता किं कणाभरणकेण अदोवि मे गरुओ पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ ता पसादीआदु इत्यनेन सुसंगतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन थीजोद्भेदादुपन्यास इति ।

अथ पज्रम् । वज्रमिति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता । फलकं निर्दिश्य ।[3] अज्जउत्त एसाबि जा तुह समीवे एदं किं वसन्त अस्य विणाणं । पुनः अज्जउत्त ममावि एदं चित्तकम्प पेक्खन्तीए सीसवेअणासमुप्पण्णा इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात् प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति ।

अथ वर्णसंहारः । चातुर्वर्ण्येति । यथा वीरचरिते तृतीयोऽङ्के ।

---

१. भो एषा अपूर्वा श्रीः त्वया समासादिता ।

२. भर्तरलं शङ्कया मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत् किं कर्णाभरणेन । असावपि मे गुरुः प्रसादः यत् कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत् प्रसाद्यताम् ।

३. आर्यपुत्र एषापि या तव समीपे । एतत् किं वसन्तकस्य विज्ञानम् । आर्यपुत्र ममापि एतत् चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याऽद्रोहयाञ्चाहारेणोद्भेदनाद् वर्णसंहार इति।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसन्ध्युपक्षिप्त बिन्दुलक्षणावान्तरबीज-महाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि। एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यास-पुष्पाणां प्राधान्यम्। इतरेषां यथासम्भवं प्रयोग इति।

अथ गर्भसन्धिमाह।

गर्भस्तु····प्राप्तिसम्भवः ॥ ३६ ॥

प्रतिमुखसन्धौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवाऽन्वेषणं वारंवारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति। तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकायाः अनियमं दर्शयति। पताका स्यान् नवेत्यनेन। प्राप्तिसम्भवस्तु स्यादेवेति दयर्शति। स्यादिति। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासव-दत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिका-प्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तयाविच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवा-रणोपायान्वेषणं नाऽस्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वाऽन्य उपाय इत्यनेन दर्शितमिति। स च द्वादशाङ्गो भवति।

तान्युद्दिशति।

अभूताहरणं·········तथा ॥ ३७ ॥

उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते ॥ ३८ ॥

इति। यथोद्देशं लक्षणमाह।

अभूताहरणं छद्म

इति। यथा रत्नावल्याम्। [1]साधु रे अमच्च वसन्तअ साधु। अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीत-वासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताक्लृम-काञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम्।

---

१. साधु रे अमात्य वसन्तक! साधु। अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रह-चिन्तया।

अथ मार्गः ।

मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । [१]दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए । राजा । वयस्य कुशलं प्रियायाः । विदूषकः । [२]अइरेण सअं ज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि । राजा । दर्शनमपि भविष्यति । विदूषकः । सगर्वम् । [३]कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्छो । राजा । तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि । विदूषकः । कर्णे कथयत्येवमित्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान् मार्ग इति ।

अथ रूपम् ।

रूपं वितर्कवद् वाक्यं

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातः । तथाहि ।

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान् न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताऽप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥

कथं चिरयति वसन्तकः । किन्तु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद् रूपमिति ।

अथोदाहरणम् ।

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । सहर्षम् । ही ही[४] भो कोसंवीरज्जलहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो आसि यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमीत्यनेन रत्नवलीप्राप्तिवार्ताऽपि कोशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिदानादुदाहृतिरिति ।

अथ क्रमः ।

क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः

---

१. दिष्टया वर्धसे समोहिताम्यधिकया कार्यसिद्ध्या ।

२. अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि ।

३. कथं न भविष्यति यस्य ते उपहसितवृस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः ।

४. भो कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीद्यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । उपनतप्रियासमागमोत्सवस्याऽपि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः । अथवा ।

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथाऽऽदौ बाधते यथाऽऽसन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः

इति विदूषकः । आकर्ण्य । भोदि सागरिए एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि ता निवेदेमि से[1] दृगमणमित्यनेन वत्सराजस्य सागरिका-समागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः ।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन ।

भावज्ञानमथापरे ॥३९॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । उपसृत्य । प्रिये सागरिके ॥

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान् निःशङ्कमालिङ्ग्य माम् ।
अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥

इत्यादिना इह तदप्यस्त्येव विम्बाधर इत्यन्तेन वासववत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात् क्रमान्तरमिति ।

अथ सङ्ग्रहः ।

सङ्ग्रहः सामदानोक्तिर्

इति । यथा रत्नावल्याम् । साधु वयस्य साधु इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामीत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः सङ्ग्रहात् सङ्ग्रह इति ।

अथाऽनुमानम् ।

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम् । राजा । धिङ् मूर्ख ! त्वत्कृत एवाऽयमापतितोऽस्माकमनर्थः । कुतः ।

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात् प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहनाजीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥

विदूषकः । भो[2] वअस्स वासवदत्ता किं करइस्सदि त्ति ण जाणामि । सागरिआ

---

१. भवति सागरिके एव प्रियवयस्यः त्वामेवोद्दिश्य उत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामितस्मै तत्रागमनम् ।

२. भो वयस्य वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि । सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि ।

उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमीत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति ।

अथाऽधिबलम् ।

अधिबलमभिसन्धिः

इति । यथा रत्नावल्याम् । काञ्चनमाला । [1]भट्टिणि इअं सा चित्तसालिआ ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि छोटिकां ददाति इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसन्धीयमानत्वादधिबलमिति ।

अथ तोटकम् ।

संरब्धं तोटकं वचः ॥ ४० ॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता । उपसृत्य । [2]अज्जउत्त जुत्तमिणं सरिसमिणं । पुनः सरोषम् । [3]अज्जउत्त उट्ठेहि किं अज्जवि आहिजाईए सेवादुःखमणुभवीअदि कञ्चणमाले एदेण ज्जेव पासेण बन्धिअ आणेहि एणं दुट्ठबम्हणम् । एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि इत्यनेन वासवदत्ता संरब्धवचसा सागरिका समागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् । तथा च वेणीसंहारे ।

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम् ।

इत्यादिना ।

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।

इत्यन्तेनाऽन्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति । ग्रन्थान्तरे तु ।

तोटकस्याऽन्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ॥४१॥

यथा रत्नावल्याम् । राजा । देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि ।

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि ! मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥

संरब्धवचनं यत् तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥४१॥

यथा रत्नावल्याम् । राजा । प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता ।

---

१. हे भर्तृदारिके इयं चित्रशालिका तत् वसन्तकस्य संज्ञां करोमि ।
२. आर्यपुत्र युक्तमिदं सदृशमिदम् ।
३. आर्यपुत्रोत्तिष्ठ किमद्यापि आभिजात्याः सेवादुःखमनुभूयते काञ्चनमाले एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम् । एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः कुरु ।

अश्रूणि धारयन्ति। [1]अज्जउत्त ! मा एवं भण अण्णसङ्कन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं त्ति। यथा च वेणीसंहारे। राजा। अये सुन्दरक ! कच्चित् कुशलमङ्गराजस्य। पुरुषः। कुसलं [2]सरीरमेत्तकेण। राजा। किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः। क्षतः सारथिः। भग्नो वा रथः। पुरुषः। [3]देव ! ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो। राजा। ससम्भ्रमम्। कथमित्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति।

अथोद्वेगः।

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः

यथा रत्नावल्याम्। सागरिका। आत्मगतम्। [4]कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि। इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमित्युद्वेगः। यो हि यस्याऽपकारी स तस्याऽरिः। यथा च वेणीसहारे। सूतः। श्रुत्वा सभयम्। कथमासन्न एवाऽसौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसञ्ज्ञश्च महाराजः। भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम्। कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवाऽस्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यतीति अरिकृता भीतिरुद्वेगः।

अथ सम्भ्रमः।

शङ्कात्रासौ च सम्भ्रमः।

यथा रत्नावल्याम्। विदूषकः। पश्यन्। [5]का उण एसा। ससम्भ्रमम्। कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि। राजा। ससम्भ्रममुपसर्पन्। क्वाऽसौ क्वासावित्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणशङ्कया सम्भ्रम इति। यथा च वेणीसंहारे। नेपथ्ये कलकलः। अश्वत्थामा। ससम्भ्रमम्। मातुल ! मातुल ! कष्टम् एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी समं शरवर्षैर्दुर्योधनराधेयावभिद्रवति। सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेनेत्याशङ्का। तथा प्रविश्य सम्भ्रान्तः सप्रहारः सूतः। त्रायतां त्रायतां कुमार इति त्रासः। इत्येताभ्यां त्रासशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः सम्भ्रम इति।

अथाऽऽक्षेपः।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२॥

यथा रत्नावल्याम्। राजा। वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नाऽन्यमत्रोपायं पश्यामि। पुनः क्रमान्तरे सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः। पुनस्तत्

---

१. आर्य्यपुत्र ! मैवं भण अन्यसंक्रातानि खलु एतात्यक्षराणीति।
२. कुशलं शरीरमात्रकेण।
३. देव न भग्नो रथः, भग्नोऽस्य मनोरथः।
४. कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न शक्यते।
५. का पुनरेषा। कथं देवी वासवदत्तात्मनं व्यापादयति।

किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामीत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः । यथा च वेणीसंहारे । सुन्दरकः ।[1]अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिदविदुरवअणवीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूडमूलस्स कूडविसासाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि । इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाऽऽक्षिप्यत इत्यप्याक्षेपः ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयान्येषां च मध्ये अभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासम्भवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसन्धिरुक्तः ।

अथाऽवमर्शः ।

क्रोधेनाऽवमृशेद्…… सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः ॥४३॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनम् । तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद् वा विलोभनेन वा भवितव्यमनेनाऽर्थेनेत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसन्ध्युद्भिन्नबीजार्थसम्बन्धो विमर्शोऽवमर्शः । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के । अग्निविद्रपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरुपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः । यथा च वेणीसंहारे । दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः ।

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृत्ते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥

इत्यत्र स्वल्पावशेषे जय इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसन्धिः ।

तस्याऽङ्गसंग्रहमाह ।

तत्रा०……… त्रयोदश ॥४४॥४५-

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्

---

१. अथवा किमत्र दैवमुपालभामि तस्य खल्वेतत् निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनो पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति ।

२. सा खलु तपस्विनी भट्टारिकया उज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वा उपस्थितेऽर्द्धरात्रे नानीयते कुत्रापि नीतेति ।

३. अतिनिर्घृणं खलु कथं देव्या । भो वयस्य मा खलु अन्यथा सम्भावय । सा खलु देव्या उज्जयिन्यां प्रेषिता । अतोऽप्रियमिति कथितम् ।

यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता ।[1] सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणि णोअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण आणीअदि कहिंपि णीदेत्ति । विदूषकः । सोद्वेगम् ![2] अदिणिग्घिणं क्खु कयं देवीए । पुनः । भो वअस्स मा खु अण्णधा सम्भावेहि । सा खु देवीए उज्जइणीए पेसिदा ! अदो अप्पिअं त्ति कहिदं । राजा । अहो निरनुरोधा

अथाऽवमर्शः ।

मयि देवीत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः । यथा च वेणीसंहारे । युधिष्ठिरः । पाञ्चालकः न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातक-प्रधानहेतुरुपलब्ध इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

अथ सम्फेटः ।

सम्फेटो रोषभाषणम् ।

इति । यथा वेणीसंहारे । भो कौरवराज कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना मैवं विषादं कृथाः । पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाहमसहाय इति ।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुबोधं सुयोधन ।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां विक्षिप्य कुमारयोर्दिष्टिमुक्तवान् धार्तराष्ट्रः ।

कर्णदुःशासनवधात् तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं स्वमेव प्रियसाहसः ॥

इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामावित्यनेन भीष्मदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसम्भाषणाद् विजयबीजान्वयेन सम्फेट इति ।

अथ विद्रवः ।

विद्रवो वधबन्धादिर् ।

यथा छलितरामे ।

येनाऽऽवृत्य मुखानि सामपठतामत्यन्तमायासितं
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बध्वा लवो नीयते ॥

---

१. सा खलु तपस्विनी भट्टारिकया उज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वा उपस्थितेऽर्द्धरात्रे नानीयते कुत्रापि नीतेति ।

२. अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या । भो वयस्य मा खलु अन्यथा सम्भावय । सा खलु देव्या उज्जयिन्यां प्रेषिता । अतोऽप्रियमिति कथितम् ।

यथा च रत्नावल्याम् ।

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्च्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातैर्
एष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥

इत्यादि । पुनर्वासवदत्ता ।[1] अज्जउत्त न क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि । एसा मए णिग्घिणाहिअआए सञ्जदा सागरिआ विवज्जदि इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रवः ।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥४५॥

इति । यथोत्तररामचरिते ।

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद् वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राऽप्यभिज्ञो जनः ॥

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः । यथा च वेणीसंहारे । युधिष्ठिरः । भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नाऽनुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पंथा यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ।

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

अथ शक्तिः ।

विरोधशमनं शक्तिस्

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा ।

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याऽधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यापत्तिमुपागता न हि तथा देवो रुदन्त्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव वाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥

१. आर्यपुत्र न खलु अहमात्मनः कारणाद् भणामि । एषा मया निर्घृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते ।

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनात् शक्तिः। यथा चोत्तररामचरिते लवः प्राह।

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनम्।
तदौद्धत्यं क्वाऽपि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम्।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः॥

अथ द्युतिः।

तर्जनोद्वेजने द्युतिः।

यथा वेणीसंहारे। एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्जपूरिताशातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसङ्कुलं त्रासोदवृत्तनक्रग्राहमालोडय सरः सलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाऽभिहितम्।

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्याऽपि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णाशोणितसुराक्षीवं रिपुं भाषसे।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान् नृपशो विहाय समरं पंकेऽधुना लीयसे॥

इत्यादिना त्यक्तोत्थितः सरभसमित्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता।

अथ प्रसंगः।

गुरुकीर्तनं प्रसंगश्

इति। यथा रत्ना ल्याम्। देव याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामाऽऽयुष्मतीं वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्तेत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसंगाद् गुरुकीर्तनेन प्रसंगः। तथा मृच्छकटिकायाम्। चाण्डालकः।[1] एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविणदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदुं वञ्झट्ठाणं णीअदि। एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुवणलोभेंण वावादिदत्ति। चारुदत्तः!

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापैस्
तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥

---

१. एष सागरदत्तस्य सुत आर्य्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं बध्यस्थानं नीयते। एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति।

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसंगाद् गुरुवृत्तकीर्तनमितिप्रसंगः ।

अथ छलनम् ।

छलनं चाऽवमाननम् ॥४६॥

यथा रत्नावल्याम् । राजा । अहो निरनुरोधा मयि देवीत्यनेन वासवदत्तया इष्टासम्पादनाद् वत्सराजस्याऽवमाननाच् छलनम् । यथा च रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनाऽवमाननाच् छलनमिति ।

अथ व्यवसायः ।

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः

यथा रत्नावल्याम् । ऐन्द्रिजालिकः ।

[२]किं धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्ह्म्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्ति ॥

अहवा किं वहुणा जम्पिएण ।

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुं ।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसम्भ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिकादर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

नूनं तेनाऽद्य वीरेण प्रतिज्ञाभंगभीरुणा ।
बध्यते केशपाशस्ते स चाऽस्याऽऽकर्षणे क्षमा ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनम् ।

सरब्धानां विरोधनम् ।

इति । यथा वेणीसंहारे । राजा । रे रे मरुत्तनय किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे । अपि च ।

---

२. किं धरण्यां मृगाङ्कः, आकाशे महीधरो, जले ज्वलनः ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देहि आज्ञप्तिम् ॥
अथवा किं बहुना जल्पितेन ।
मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद् वाञ्छसि द्रष्टुं ।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
अस्मिन् वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्राः
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

भीमः क्रोधं नाटयति । अर्जुनः । आर्य प्रसीद किमत्र क्रोधेन ।

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥

भीमः । अरे भरतकुलकलङ्क !

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र-
निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ॥

अन्यच्च मूढ़ !

शोकं स्त्रीवन् नयनसलिलैर्यत् परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत् तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥

राजा । दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो माऽहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु ।

द्रक्ष्यन्ति न चिरात् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभंगभीषणम् ॥

इत्यादिना संरधयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ।

अथ प्ररोचना ।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना ॥४७॥

यथा वेणीसंहारे । पाञ्चालकः । अहं च देवेन चक्रपाणिनेत्युपक्रम्य कृतं सन्देहेन ।

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते ।
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥

इत्यादिना मंगलानि कर्तुमाज्ञापयति। देवो युधिष्ठिर इत्यन्तेन द्रौपदीकेश-संयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति।

अथ विचलनम्।

विकत्थना विचलनम्

यथा वेणीसंहारे। भीमः। तात अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम्॥

अपि च। तात !

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीवो दुःशासनासृजा।
भङ्क्त्वा सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति॥

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद् विचलनमिति। यथा च रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः।

देव्या मद्वचनाद् यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया॥

इत्यनेनाऽन्यपरेणाऽपि योगन्धरायणेन मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृत इति स्वगुणानुकीर्तनाद् विचलनमिति।

अथाऽऽदानम्।

आदानं कार्यसंग्रहः॥४८॥

इति। यथा वेणीसंहारे। भीमः। ननु भो समन्तपञ्चकसञ्चारिणः।

रक्षो नाऽहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं
विस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि।
भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं वस्
त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत्॥

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम्। यथा च रत्नावल्याम्। सागरिका। दिशोऽवलोक्य।[1] दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज

---

१. दिष्ट्या समन्तात् प्रज्वलितो भगवान् हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्।

करिस्सदि दुक्खावसाणमित्यनेनाऽन्यपरेणापि दुःक्खावसानकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोरिति दर्शितमेवमित्येतानि त्रयोदशाऽवमर्शाङ्गानि । तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

अथ निर्वहणसन्धिः ।

बीजवन्तो........तत् ॥४८–४९–

यथा वेणीसंहारे । कञ्चुकी । उपसृत्य सहर्षम् । महाराज वर्धसे वर्धसे अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्षव्यक्तिरित्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसन्ध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थित्वम् । वसुभूतिः । सागरिकां निर्वर्ण्याऽपवार्य । बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसन्धिः ।

अथ तदङ्गानि ।

सन्धिर्विबोधो........चतुर्दश ॥४९–५०॥

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

सन्धिर्बीजोपगमनम्

इति । यथा रत्नावल्याम् । वसुभूतिः । बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्यः । ममाऽप्येवमेव प्रतिभातीत्येन नायिकाबीजोपगमात् सन्धिरिति । यथा च वेणीसंहारे । भीमः । भवति यज्ञवेदिसम्भवे स्मरति भवती यत् तन् मयोक्तम् ।

चञ्चद्भुजभ्रमित-दण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावबद्धधनशोणितशोणपाणिर्
उत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति ।

अथ विबोधः ।

विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम् । वसुभूतिः । निरूप्य । देव कुत इयं कन्यका । राजा । देवी जानाति । वासवदत्ता । [1]अज्जउत्त एसा सगरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्च जोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा । अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि । राजा । आत्मगतम् । यौगन्धरायणेन न्यस्ता । कथमसौ ममाऽनिवेद्य करिष्यतीत्यनेन रत्ना-

---

१. आर्य्यपुत्र एषा सागरात् प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता, अत एव सागरिकेति शब्द्यते ।

वलीलक्षणकार्यान्वेषणाद् विबोधः । यथा च वेणीसंहारे । भीमः । मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् । युधिष्ठिरः । किमपरमवशिष्टम् । भीमः । सुमहदवशिष्टम् । संयमयामि तावननेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्याः दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् । युधिष्ठिरः । गच्छतु भवान् । अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारमित्यनेन केशसंयमनकार्यस्यास्यान्वेषणाद् विबोध इति ।

अथ ग्रथनम् ।

ग्रथनं तदुपक्षेपो

यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । देव क्षम्यतां यद् देवस्याऽनिवेद्य मयैतत् कृतमित्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम् । यथा च वेणीसंहारे । भीमः । पाञ्चालि न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठतु तिष्ठतु । स्वयमेवाऽलं संहरामीत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपात् ग्रथनम् ।

अथ निर्णयः ।

ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥५१॥

यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । कृताञ्जलिः । देव श्रूयतामियं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति । तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानाऽपि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहित इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः । यथा च वेणीसंहारे भीमः । देव देव अजातशत्रो क्वाऽद्याऽपि दुर्योधनहतकः । मया हि तस्य दुरात्मनः ।

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजांगे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान् निर्णय इति ।

अथ परिभाषणम् ।

परिभाषा मिथो जल्पः

यथा रत्नावल्याम् । रत्नावली । आत्मगतम् । [1]कआवराहा देवीए ण सक्कु-

१. कृतापराधा देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम् ।

णोमि मुहं दंसिदुं । वासवदत्ता । सास्रम् । पुनर्बाहू प्रसार्य । [1]एहि अयि णिट्ठुरे इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि । अपवार्य । अज्जउत्त लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहुं अवणेहि से बन्धणं । राजा । यथाऽऽह देवी बन्धनमपनयति । वासवदत्ता । वसुभूतिं निर्दिश्य । [2]अज्ज अमच्चयोगन्धरायणेण दुज्जणीकदम्हि जेण जाणन्तेण वि णाचक्खिदमित्यनेनाऽन्योन्यवचनात् परिभाषणम् । यथा च वेणी-संहारे । भीमः ।

क्रुष्टा येनाऽसि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन । इत्यादिना क्वाऽसौ भानुमती नोपहसति पाण्डवदारानित्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम् ।

अथ प्रसादः ।

प्रसादः पर्युपासनम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । देव क्षम्यतामित्यादि दर्शितम् । यथा च वेणीसंहारे । भीमः । द्रौपदीमुपसृत्य । देवि पाञ्चालराजतनये दिष्ट्या वर्धते रिपुकुलक्षयेणेत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाऽऽराधितत्वात् प्रसाद इति ।

अथाऽऽनन्दः ।

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । यथाऽऽह देवी । रत्नावलीं गृह्णाति । यथा च वेणीसंहारे । द्रौपदी । [3]णाध विसुमरिदम्हि एवं वावारं णाधस्स पसादेण पुणो सिक्खिस्सं । केशान् बध्नाति । इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्स-राजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः ।

अथ समयः ।

समयो दुःखनिर्गमः ॥५२॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता । रत्नावलीमालिङ्ग्य । [3]समस्सस समस्सस वहिणिए इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात् समयः । यथा च वेणी-संहारे । भगवन् कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान् पुराण-पुरुषः स्वयमेव नारायणो मंगलान्याशास्ते ।

---

१. एहि अयि निष्ठुर इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय । आर्य्यपुत्र लज्जे खलु अहमनेन नृशंसत्वेन तल्लघु अपनयास्या बन्धनम् ।

२. आर्य्य अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृताऽस्मि येन जानताऽपि नाचक्षितमिति ।

३. समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके इति ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसम्भूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

अथ कृतिः ।

कृतिर्लब्धार्थशमनं

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते । वासवदत्ता । [1]अज्जउत्त दूरे से मादुउलं ता तथा करेसु जधा बन्धु अणं न सुमरेदीत्यन्योन्य-वचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः सुश्लिष्टये उपशमनात् कृतिरिति । यथा च वेणी-संहारे । कृष्णः । एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकीरयादिनाऽभिषेकमारब्धवन्त-स्तिष्ठन्तीत्यनेन प्राप्तराज्यस्याऽभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

अथ भाषणम् ।

मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । अतः परमपि प्रियमस्ति ।

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज् जिताः कोशलाः
किं नाऽस्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद् भाषणमिति ।

अथ पूर्वभावोपगूहने ।

कार्यदृष्ट्य०·········पगूहने ॥५३॥

इति । कार्यदर्शनं पूर्वभावः । यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासवदत्ता । [2]फुडं ज्जेव किं ण भणेसि पडिवाएहि से रअणमालं त्ति इत्यनेन वत्सराजाय रत्नावली दीयतामिति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात् पूर्वभाव इति । अद्भुतप्राप्ति-रुपगूहनम् । यथा वेणीसंहारे । नेपथ्ये । महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

---

१. आर्य्यपुत्रदूरे अस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति ।
२. स्फुटमेव किं न भणसि प्रतिपादयास्यै रत्नमालामिति ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्टया बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ।।

युधिष्ठिरः । देवि एष ते मूर्द्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेत्येतेनाऽद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहमिति । लब्धार्थशमनात् कृतिरपि भवति ।

अथ काव्यसंहारः ।

वराप्तिः काव्यसंहारः

इति । यथा । किं ते भूयः प्रियमुपकरोमीत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्तिः ।

प्रशस्तिः शुभशंसनम ।।४८।।

इति । यथा वेणीसंहारे । प्रीततरश्चेद् भवान् तदिदमेवमस्तु ।

अकृपणमतिः कामं जीव्याज् जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवन् भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे ।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः ।।

इति शुभशंसनात् प्रशस्तिः ।

इत्येतानि चतुर्दश निर्वहणाङ्गानि ।
एवं चतुःषष्टयङ्गसमन्विताः पञ्चसन्धयः प्रतिपादिताः ।
षट्प्रकारं चाऽङ्गानां प्रयोजनमित्याह ।

उक्तांगानां........प्रयोजनम् ।।५४।।

इति । कानि पुनस्तानि षट्प्रयोजनानि ।

इष्टस्या०........०नुपक्षयः ।।५५।।

इति । विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयरागवृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्प्रयोजनानि सम्पाद्यन्त इति ।

पुनर्वस्तुविभागमाह ।

द्वेधा........०परम् ।।५६।।

इति । कीदृक् सूच्यं कीदृक् दृश्यश्रव्यमित्याह ।

नीरसो········०निरन्तरः ॥५७॥

इति सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह ।

अर्थोप०········प्रवेशकैः ॥५८॥

इति । तत्र विष्कम्भः ।

वृत्तवर्ति०·······०प्रयोजितः ॥५९॥

इति । अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविधः शुद्धः सङ्कीर्णश्चेत्याह ।

एका०········नीचमध्यमैः ॥६०॥

इति । एकेन द्वाभ्यां व मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति । मध्यमाधयमपात्रैर्युगपत् प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ।

अथ प्रवेशकः ।

तद्वदेवा०········०सूचकः ॥६१–

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते । अनुदात्तोक्तया नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः । अङ्कद्वयस्याऽन्ते इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

अथ चूलिका ।

अन्तर्यवनिका········सूचना ॥६१॥

नेपथ्यपात्रेणाऽर्थसूचनं चूलिका । यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्याऽऽदौ । नेपथ्ये । स्वागतं तपोधनायाः । ततः प्रविशति तपोधना इति । नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकया आत्रेयीसूचनाच् चूलिका । यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्याऽऽदौ । नेपथ्ये । भो भो वैमानिकाः । प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि ।

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान् कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवै रामेण परशुरामो जित इति सूचनाच् चूलिका ।

अथाऽङ्कास्यम् ।

अंकान्त०·······०र्थसूचनात् ॥६२–

अङ्कान्ते एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति। यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते। प्रविश्य सुमन्त्रः। भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाहूयतः। इतरे। क्व भगवन्तौ। सुमन्त्रः। महाराजदशरथस्याऽन्तिके। इतरे। तदनुरोधात् तत्रैव गच्छाम इत्यसमान्तौ। ततः प्रतिशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामा इत्यत्र पूर्वाङ्कास्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेद उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति।

अथाऽङ्कावतारः।

अङ्का०·········०प्रदर्शयेत् ॥५६॥

अत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाऽङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः। यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते। विदूषकः। [1]तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जेध। अधवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदीतमुपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसङ्क्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति। प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कावतार इति।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह।

नाट्य०·········त्रिधेष्यते ॥६३॥

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह।

सर्वेषा···· · श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥६४॥

तत्र।

सर्वश्राव्यं·········स्वगतं मतम्।

इति। सर्वश्राव्यं यद् वस्तु तत् प्रकाशमित्युच्यते। यत् तु सर्वस्याऽश्राव्यं तत् स्वगतमितिशब्दाभिधेयम्।

नियतश्राव्यमाह।

द्विधाऽन्यन्·······०पवारितम् ॥६५-

इति। अन्यत् तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन।

तत्र जनान्तिकमाह।

त्रिपताकाकरेणा०·········तज्जनान्तिकम् ॥-६५, ६६-

इति। यस्य न श्राव्यं तस्याऽन्तर ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलं वक्रानामिकत्रिपताकालक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन् मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति।

अथाऽपवारितम्।

---

१. तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं संगीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतं। अथवा मृदंग शब्द मवैनमुत्था पयिष्यति।

रहस्यं··· ····परावर्त्यापवारितम् ॥६६॥

परावृत्याऽन्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह ।

किं ब्रवीष्ये०···· ···भाषितम् ॥६७॥

इति । स्पष्टार्थः ।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पाददीनि कैश्चिदुदाहृतानि । तेषामभारतीयत्वान् नाममालाप्रसिद्धानां केषाञ्चिद् देशभाषात्मकत्वान् नाट्यधर्मत्वाभावाल् लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति ।

इत्याद्०········प्रपञ्चैः ॥६८॥

इति । वस्तुविभेदजातं वस्तु वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नामभेदाः । रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य आलोच्य । तदनु एतदुत्तरम् । नेत्रिति । नेता वक्ष्यमाणलक्षणः रसाश्च तेषामानुगुण्याच् चित्रां चित्ररूपां कथामाख्यायिकाम् । चारूणि यानि वचांसि तेषां प्रपञ्चैर्विस्तारैः आसूत्रयेत् अनुग्रथयेत् । तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसं चाणक्यनाम्ना तेनाथ सकटालगृहेरहः कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ।

योगानन्दयशः शेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः ।

चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ॥

इति बृहत्कथायां सूचितं श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम् । इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथमप्रकाशः समाप्तः ।

द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते ।

नेता०.........०युवा ॥१॥

बुद्धयुत्साहस्मृ०.........०धार्मिकः ॥२॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतः । यथा वीरचरिते ।

यद् ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे
विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात् कृतस्त्वयि मया विनयापचार-
स्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥

मधुरः प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव ।

राम राम नयनाभिरामताम्
आशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः
सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥

त्यागी सर्वस्वदायकः । यथा ।

त्वचं कर्णः शिविर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नाऽस्त्यदेयं महात्मनाम् ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते ।

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद् दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डकस्
तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ।

प्रियंवदः प्रियभाषी । यथा तत्रैव ।

उत्पत्तिर्जमदग्नितः सः भगवान् देवः पिनाकी गुरु
वीर्यं यत् तु न तद् गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः ।

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किंवा न लोकोत्तरम् ।।

रक्तलोकः । यथा तत्रैव ।

त्रय्यास्त्राता यस्तवाऽयं तनूज-
स्तेनाऽद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादाद् ।
राजन्वत्यो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमाः पूर्णकामाश्चरामः ।

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्य्यम् । [तत्र शौचं नाम मनोनैर्म्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम् । यथा रघौ ।

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा
किंवा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वाशिनां रघूणां
मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ।

वाङ्मी । यथा हनुमन्नाटके ।

बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्रैतम्बरस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच् चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ।।

रूढवंशो यथा ।

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रथन्तानमल्ली-
मालाम्लानस्तवकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ।।]

स्थिरो वाङ्मनःक्रियाभिरचञ्चलः । यथा वीरचरिते ।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ।।

यथा वा भर्तृहरिशतके ।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ।।

युवा प्रसिद्धः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे ।

यद् यत् प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत् तद् विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह ।

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ॥३–

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

निश्चिन्तो ......सुखी मृदुः ॥३॥

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वात् चिन्तारहितः । अतएव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वात् च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः । यथा रत्नावल्याम् ।

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ।

अथ शान्तः ।

सामान्यगुण० ....द्विजादिकः ॥४ –

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणम् । विवक्षितं चैतत् । तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसम्भवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव न लालित्यम् । यथा मालतीमाधवमृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादिः ।

तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान् ।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः ॥

इत्यादि । यथा वा ।

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥

अथ धीरोदात्तः ।

महासत्त्वो० ·······धीरोदात्तो दृढव्रत ॥४॥५–

महासत्त्वः शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः । अविकत्थनोऽनात्मश्लाधनः । निगूढाहङ्कारो विनयच्छन्नावलेपः दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः धीरोदात्तः । यथा नागानन्दे । जीमूतवाहनः ।

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्याऽपि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

यथा च रामं प्रति ।

आहूतस्याऽभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ।

यच्च केषाञ्चित् स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित् सङ्कीर्तनं तत्तेषां तत्राऽऽधिक्यप्रतिपादनार्थम् । ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते । औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः । तच् च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते । जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा ।

तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत् संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तन् नाऽस्ति कश्चिद् गुणः ॥
इत्यनेन ।

पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥

इत्यनेन च । अतोऽस्याऽत्यन्तशमप्रधानत्वात् परमकारुणिकत्वाच् च वीतरागवत् शान्तता । अन्यच् चाऽत्राऽयुक्तं यत् तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायाऽन्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच् चोक्तं सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्त इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्धयुधिष्ठिरजीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति । अत्रोच्यते । यद् तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्यमिति । न तज् जीमूतवाहनादौ परिहीयते ।

न ह्येकरूपैव विजीगीषुता यः केनाऽपि शौर्यत्यागदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषुर्न यः परापकारेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः। तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः। रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादिलाभः। जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद् विश्वमप्यतिशेत इत्युदात्ततमः। यथोक्तम्। तिष्ठन् भातीत्यादिना विषयसुखपराङ्मुखतेति। तत् सत्यम्। कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः। यदुक्तम्।

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायपोपाश्रितानाम्॥

इत्यादिना मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वशान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति। शान्तत्वं चाऽनहङ्कृतत्वं तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण। बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद् भेदः। अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति।

अथ धीरोद्धतः।

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो·······विकत्थनः॥५॥६—

दर्पः शौर्यादिमदः मात्सर्यमसहनता। मन्त्रबलेनाऽविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया। छद्म वञ्चनामात्रम्। चलोऽनवस्थितः चण्डो रौद्रः स्वगुणशंसी विकत्थनः धीरोद्धतो भवति।

यथा जामदग्न्यः।

कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय इत्यादि।

यथा च रावणः।

त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनो वत्सवृषभमहोक्षादिवन् न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति। तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्याज् जातेरनपायित्वात्। तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः।

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते॥

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन कैलासोद्धारसारेत्यादिभिश्च रामादीन् प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन पुनः पुण्या ब्राह्मणजातिरित्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः।

न चाऽवस्थान्तराभिधानमनुचितमङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया जहासत्त्वादेश्व्यवस्थितत्वादङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यम् । यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया स्वावस्थापरित्याग इति । वक्ष्यमाणानां च दक्षिणाद्यवस्थानां पूर्वां प्रत्यन्ययाहृत इति नित्यसापेक्षत्वेनाऽऽविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोरप्यविरुद्धम् ।

अथ शृङ्गारनेत्रवस्थाः ।

स दक्षिणः··········हृतः ॥६॥

नायकप्रकरणात् पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः ।

तत्र ।

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः । यथा ममैव ।

प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः ।
सविश्रम्भः कश्चित् कथयति च किञ्चित् परिजनो
न चाऽहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥

यथा वा ।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं
बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां
ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥

अथ शठः ।

गूढविप्रियकृच्छठः ॥७–

दक्षिणस्याऽपि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद् विशेषः । यथा ।

शठाऽन्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाऽऽश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत् क्वाऽऽचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-

विषेणाऽऽघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ।

अथ धृष्टः ।

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो

यथाऽमरुशतके ।

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसी
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥

भेदान्तरमाह ।

ऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥७॥

यथा ।

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः
कालेनाऽऽवरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यादित्युच्यते । पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः । परतस्तु दक्षिणः । ननु च गूढविप्रियकारित्वाद् व्यक्ततरविप्रियत्वाच् च शाठ्यधाष्ट्र्येऽपिकस्मात् न भवतः । न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद् दक्षिणतैव । न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यमविरोधात् । महाकविप्रबन्धेषु च ।

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवीप्रसाद्याऽद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाऽप्रतिवत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाड़िकाः ॥

इप्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् । तथा च भरतः ।

मधुरस्त्यागो रागं न याति मदनस्य नाऽपि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज् ज्येष्ठः ॥

इत्यत्र न रागं याति न मदनस्य वशमेतीत्यनेनाऽसाधारणं एकस्यां स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति । अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति । षोडशाना-

मपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाऽष्टाचत्वारिंशन् नायकभेदा भवन्ति ।

सहायानाह ।

पताकानायकस्त्वन्यः ··· ···तद् गुणैः ॥८॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहायः । यथा मालतीमाधवे मकरन्दः रामायणे सुग्रीवः ।

सहायान्तरमाह ।

एकविद्यो·······विदूषकः ॥९–

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः । हास्यकारी विदूषकः । अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शेखरको नागानन्दे विटः । विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

अथ प्रतिनायकः ।

लुब्धोव्यसनी रिपुः ॥९॥

तस्य नायकस्येत्थम्भूतः प्रतिपक्षनायको भवति । यथा रामयुधिष्ठिरयोः रावणदुर्योधनौ ।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः ।

शोभा········गुणाः ॥१०॥

तत्र ।

नीचे········शौर्यदक्षते ॥११–

नीचे घृणा । यथा वीरचरिते ।

> उत्तालताड़कोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः ।
> नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥

गुणाधिकैः स्पर्धा यथा ।

> एतां पश्य पुरःस्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
> कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
> इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
> र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥

शौर्यशोभा यथा । ममैव ।

> अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
> स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।

भग्नानुद्वलयन् निजान् परभटान् सन्तर्जयन् निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥

दक्षशोभा । यथा वीरचरिते ।

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद् दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥

अथ विलासः ।

गतिः सधैर्या·······सस्मितं वचः ॥११॥

यथा ।

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥

अथ माधुर्यम् ।

श्लक्ष्णो·······सुमहत्यपि ।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम् । यथा ।

कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यन् शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघुणां परिवृढः ॥

अथ गाम्भीर्यम् ।

गाम्भीर्यं·······नोपलक्ष्यते ॥१२॥

मृदुविकारोपलम्भाद् विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम् । यथा ।

आहूतस्माऽभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

अथ स्थैर्यम् ।

व्यवसायाद०····· ··०कुलादपि ॥१३–

यथा वीरचरिते ।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमाद् ।
न त्वयं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ।

अथ तेजः ।

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥१३॥

यथा ।

ब्रूत नूतनकुष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी ।
अङ्गुलीदर्शनाद् येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥

अथ ललितम् ।

शृंगाराकार········ललितं मृदुः ॥१४॥

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः । तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम् । यथा ममैव ।

लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किंवा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥

प्रियोक्त्या०········०सदुपग्रहः ॥१४॥

अथौदार्यम् ।

प्रियवचनेन सहाऽऽजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च । यथा नागानन्दे ।

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्याऽपि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् ।
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

सदुपग्रहो यथा ।

एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनाऽत्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥

अथ नायिका ।

स्वाऽन्या········नायिका त्रिधा ॥१५–

तद्गुणेति यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति । स्वस्त्री परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह ।

मुग्धा.........शीलार्जवादियुक् ॥१५॥

शीलं सुवृत्तम् । पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका ।

तत्र शीलवती यथा ।

> [1]कुलवालिआए पेच्छह जोव्वणलाअणविब्भमविलासा ।
> पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एन्ते ॥

आर्जवादियोगिनी यथा ।

> [2]हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलासमुच्छाअं ।
> भणिअं सहावसरलं धणाणा घरे कलत्ताणं ॥

लज्जावती यथा ।

> [3]लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिवासाइं ।
> अविणअदुम्मेहाइं धणाण घरे कलत्ताइं ॥

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धामध्याप्रगल्भाभेदात् त्रिविधा ।

तत्र ।

मुग्धा नववयः.........मृदुः क्रुधि ॥१६–

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथारमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा ।

> विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
> रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
> मध्येऽस्या ऋजुरायताऽर्धकपिशा रोमावली निर्मिता
> रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥

यथा च ममैव ।

---

१. कुलवालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते ॥

२. हसितमविचारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलासच्छायम् ।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणां ॥

३. लज्जापर्याप्तप्राधनानि परतृप्तिनिष्पिपाशनि ।
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥

उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरोवृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥

काममुग्धा यया ।

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नाऽऽरोहति प्राग् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकराऽवष्टभ्यमाना शनैः ।

रतवामा यथा ।

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे
गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ् मुखी
सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

मृदुः कोपे यथा ।

प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरिते नासज्याङ्के विनम्रभुजैव सा ।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठै रुदन्त्यपि चुम्बिता ॥

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धा व्यवहारा निबन्धनीयाः । यथा ।

न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
न निश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्त्तुः प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ॥

अथ मध्या ।

मध्योद्यद्या०............०सुरतक्षमा ॥१६॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या ।

तत्र यौवनवती यथा ।

आलापान् भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं ।
नीवीग्रन्थिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ् मध्यनिम्नो नितम्बः ।
उत्पुष्पत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्रीः ॥

कामवती यथा ।

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः ।

मध्यासम्भोगो यथा ।

[1]ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलयदलमच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं ॥

एवं धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

अथाऽस्या मानवृत्तिः ।

धीरा सोत्प्रासव०·········०परुषाक्षरम् ॥१७॥

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्तया खेदयेत् । यथा माघे ।

न खलु वयममुष्य दानयोग्याः
पिबति च पाति च याऽसकौरहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत् । यथा अमरुशतके ।

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान् मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत् किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याऽग्रतो रुद्यते
नन्वेतन् मम का तवाऽस्मि दयिता नाऽस्मीत्यतो रुद्यते ॥

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम् । यथा ।

यातु यातु किमनेन तिष्ठता
मुञ्च मुञ्च सखि माऽऽदरं कृथाः ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं
शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति । यथा ।

स्वेदाम्भःकणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धिं गते ।

---

१. तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदलस्वच्छभानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥

दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाऽभियुक्तः प्रिय-
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया ॥

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः ।

अथ प्रगल्भा ।

यौवनान्धा········रतारम्भेऽप्यचेतना ॥१८॥

गाढयौवना । यथा ममैव ।

अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि ।
मध्योऽधिकं तनुरतीवगुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाऽद्भुतयौवनायाः ॥

यथा च ।

स्तनतटमिदमुत्तुङ्ग' निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम् ।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥

भावप्रगल्भा यथा ।

न धाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यंगानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥

रतप्रगल्भा यथा ।

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनात्
वासः प्रश्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन् नितम्बे स्थितम् ।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याऽङ्गसंगे पुनः
कोऽसौ काऽस्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पाऽपि मे न स्मृतिः ॥

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणावैदग्ध्यप्रायाः प्रगल्भाव्यवहारा वेदितव्यः ।
यथा ।

क्वचित् ताम्बूलाक्तः क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥

अथाऽस्याः कोपचेष्टा ।

सावहित्थादरोदास्ते········तं वदेत् ॥१९–

सहाऽवहित्थेनाऽऽकारसंवरणेनाऽऽदरेण चोपचाराधिक्येन वर्तते सा सावहित्था-
दरा । रतावुदासीना क्रुद्धा कोपेन भवति ।

सावहित्थादरा । यथाऽमरुशतके ।

एकत्राऽऽसनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाऽऽश्लेषोऽपि संविघ्नितः ।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥

रतानुदासीना यथा ।

आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्रंसने वाससो
भग्नभ्रूगतिखण्ड्यमानमधरं धत्ते न केशग्रहे ।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः ॥

इतरात्वधीरप्रगल्भा कुपिता सति सन्तर्ज्य ताडयति । यथाऽमरुशतके ।

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्धा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्या हसन् ॥

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या । यथा तत्रैव ।

कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्राऽन्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः ।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः ।

पुनश्च ।

द्वेधा ज्येष्ठा·········द्वादशोदिताः ॥१९॥२०–

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा त्वेकरूपैव । ज्येष्ठाकनिष्ठे । यथाऽमरुशतके ।

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्याऽऽदराद्
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

न चाऽनयोर्दाक्षिण्यप्रेमस्यामेव व्यवहारः । अपितु प्रेम्णाऽपि । यथा चैतत् तथोक्तं दक्षिणलक्षणावसरे । (एषां च धीरमध्याधीरमध्याधीराधीरमध्याधीरप्रग-

ल्भाधीरप्रगल्भाधीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदात् द्वादशानां वासवदत्तारत्नावलीवद् प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसर्तव्यानि ।)

यथाऽन्यस्त्री ।

अन्यस्त्री.........कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ॥२०॥२१–

नायकान्तरसम्बन्धिनी अन्योढा । यथा ।

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाऽप्यस्मिन् गृहे दास्यसि
प्रायेणाऽस्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद् वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थयः ॥

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन् निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता । कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताऽप्यन्यस्त्रीत्युच्यते । तस्यां पित्रादिभ्यो लभ्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात् प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते । यथा मालत्यां माधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्येति । तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीयः । यथा रत्नावलीनागानन्दयोः सागरिकामलयवत्यनुराग इति ।

साधारणस्त्री.........०प्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥२१॥

तद्व्यवहारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निर्दशितः । दिङ्मात्रं तु ।

छन्नकाम०.........०पण्डकान् ॥२२–

रक्तेव.........मात्राविवासयेत् ॥२३॥

छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः श्रोत्रियवणिक्लिङ्गिप्रभृतयः । सुखार्थोऽप्रयासावाप्तधनः सुखप्रयोजनो वा । अज्ञो मूर्खः । स्वतन्त्रो निरङ्कुशः । अहंयुरहङ्कृतः । पण्डको वातपण्डादिः । एतान् । बहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम् । तत्प्रधानत्वात् तद्वृत्तेः । गृहीतार्थान् कुट्टन्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय । इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम् ।

रूपकेषु तु ।

रक्तैव.........दिव्यनृपाश्रये ॥२३–

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया । यथा मृच्छकटिकायां वसन्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरक्ताऽपि हास्यहेतुत्वात् । नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया ।

अथ भेदान्तराणि

आसामष्टा०·········पतिकादिकाः ॥२३॥

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रियाऽभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः। नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यन्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धार्मित्वप्रतिपादनायाऽष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः। न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकावन्तर्भावः। अनासन्नप्रियत्वाद् वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चेष्यत्प्रियाऽपि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियाऽपि न पृथग् वाच्या। न चेयता व्यवधानेनाऽऽसत्तिरिति नियन्तुं शक्यम्। न चाऽविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वं नाऽपि प्रवृत्तरतिभोगेच्छायाः प्रोषितप्रियात्वं स्वयमगमनान् नायकं प्रत्यप्रयोजकत्वान् नाऽभिसारिकात्वम्। एवमुत्कण्ठिताऽप्यन्यैव पूर्वाभ्यः। औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा। तथा विप्रलब्धाऽहि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः। उक्त्वा नायात इति प्रतारणाधिक्याच् च वासकसज्जोत्कण्ठितयोः पृथक्। कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाऽप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः। तत् स्थितमेतदष्टाववस्था इति।

तत्र।

आसन्नायत्त०·······०स्वाधीनभर्तृका ॥२४–

यथा।

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां
वैरी न चेद् भवति वेपथुरन्तरायः॥

अथ वासकसज्जा।

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥२४॥

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये। वासकसज्जा यथा।

निजपाणिपल्लवतटस्खलनाद्
अभिनासिकाविवरमुत्पतितैः।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे
मुखवासमास्यकमलश्वसनैः॥

अथ विरहोत्कण्ठिता।

चिरयत्य०·······०विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ॥२५–

यथा।

सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाऽप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत् ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा सेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्बयते ॥

अथ खण्डिता ।

ज्ञातेऽन्या०········०कषायिता ॥२५॥

यथा ।

नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥

अथ कलहान्तरिता ।

कलहान्तरिता०········०ऽनुशयार्तियुक् ॥२६–

यथा ।

निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तन्दिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः ॥

अथ विप्रलब्धा ।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥२६॥

यथा ।

उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नाऽऽयातः ।
याऽतः परमपि जीवेज् जीवितनाथो भवेत् तस्याः ॥

अथ प्रोषितप्रिया ।

दूरदेशान्तरस्थे········प्रोषितप्रिया ॥२७–

यथाऽमरुशतके ।

आदृष्टिप्रसरात् प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियाऽस्मिन् क्षणे
माऽभूदागत, इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ॥

अथाऽभिसारिका ।

कामार्ताऽ०········०ऽभिसारिका ॥२७॥

यथाऽमरुशतके ।

उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घने
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे ॥

यथा च ।

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां
करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैवमुपगम्य वदे-
रभिदूति काचिदिति सन्दिदिशे ॥

तत्र ।

चिन्तानिःश्वास ····क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥२८॥

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे । संकेतात् पूर्वं विरहोत्कंठिते पश्चाद् विदूषकादिना सहाऽभिसरन्त्याभिसारिके । कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति व्यवस्थितैवाऽनयोरिति । अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ! यत् तु मालविकाग्निमित्रादौ योऽप्येवं धीरः सोऽपि दृष्टो देव्याः पुरत इति मालविकावचनानन्तरम् । राजा

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन् मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥

इत्यादि तन् न खण्डितानुनयाभिप्रायेणाऽपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा माभूदिति कन्याविश्रम्भणायेति । तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कंठितात्वमेवेति न प्रोषिकेप्रियात्वमनायत्तप्रियात्वादेवेति ॥

अथाऽऽसां सहायिन्यः ।

दूत्यो ·······नेतृमित्रगुणान्विताः ॥२९॥

दासी परिचारिका । सखी स्नेहनिबद्धा । कारुः रजकीप्रभृतिः । धात्रेयी उपमातृसुता । प्रतिवेशिका प्रतिगृहिणी । लिंगिनी भिक्षुक्यादिका । शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री । स्वयं चेति दूतीविशेषाः । नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ताः । तथा च मालतीमाधवे कामन्दकीं प्रति ।

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघा क्रियासु ॥

तत्र सखी । यथा ।

मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्त्तिर्मया न हि वैधवी ।
इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते ।

यथा च ।

[1]सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से ॥

स्वयं दूती । यथा ।

[2]महु एहि किं णिवालअ हरसि णिअं वाउ जइ वि मे सिचअं ।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एक्का ॥

इत्याद्यूह्यम् ।

अथ योषिदलंकाराः ।

यौवने·······विंशतिः ॥३०–

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलंकाराः स्त्रीणां भवन्ति ।

तत्र ।

भावो·······शरीरजाः ॥३०॥

शोभा·······अयत्नजाः ॥३१॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽगंजाः । शोभा कान्तिर्दीप्तिमाधुर्यप्रागल्भ्यमौदार्य-धैर्यमित्यत्नजाः सप्त ।

लीला·······स्वभावजाः ॥३२॥३३–

तानेव निर्दिशति ।

निर्विकारात्मकात्०·······०ऽऽद्यविक्रिया ॥३३॥

तत्र विकारहेतौ सत्यपि अविकारकं सत्त्वम् । यथा कुमारसम्भवे ।

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्

---

१. सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
क्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः ।।

२. मधुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयं।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका ।।

हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः
समाधिभेदप्रभवा भवन्ति ।।

तस्मादविकाररूपात् तत्त्वाद् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भावः । यथा ।

दृष्टिः सालसतां बिर्भति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्त्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नाऽऽरोहति प्राक् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ।।

यथा वा कुमारसम्भवे ।

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्य—
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाऽम्बुराशिः ।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि ।।

यथा वा ममैव ।

[1]तं च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ ।
अण्णा अणंगलच्छो अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ ।

अथ हावः ।

हेवाकसस्तु········विकारकृत् ।।३४–

प्रति नयताङ्गविकारी श्रृंगारः स्वभावविशेषो हावः ।

यथा ममैव ।

[2]जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहा तह च्चेअ ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेहि ।।

अथ हेला ।

स एव हेला ·······सूचिका ।।३४।।

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात् सुव्यक्तश्रृङ्गाररससूचको हेला । यथा ममैव ।

---

१. तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ।।

२. यत् किमपि प्रेक्षमाणां भणमानां रे यथा तथैव ।
निर्ध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य ।।

[1]तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्गं विब्भमा थणुब्भेए ।
संसइअवालभावा होइ चिरं जह सहीणं पि ॥

अथाऽयत्नजाः सप्त । तत्र शोभा ।

रूपोपभोग०········०विभूषणम् ॥३५–

यथा कुमारसम्भवे ।

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य बालां
क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः
प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले ।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

अथ कान्तिः ।

मन्मथावापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥३५॥

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः । यथा ।

उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम् ।
एतस्याः कलविङ्क कण्टकदलीकल्पं मिलत्कौतुकाद्
अप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य ।

अथ माधुर्यम् ।

अनुल्बणत्वं माधुर्यं

यथा शाकुन्तले ।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनाऽपि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।

---

१. तथा झटित्यस्याः प्रवृत्ताः सर्वाङ्गं विभ्रमाः स्तनोद्भेदे
संशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि ।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनाऽपि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाऽऽकृतीनाम् ॥

अथ दीप्तिः ।

दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ॥३६–

यथा ।

[1]देआ पसिअ णिअन्तसुमुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआण विग्घं करेसि अण्णाणं विहआसे ॥

अथ प्रागल्भ्यम् ।

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यं

मनःक्षोभपूर्वकोऽङ्गवादः साध्वसं तदभावः प्रागल्भ्यम् । यथा ममैव ।

यथा व्रीडा विधेयाऽपि तथा मुग्धाऽपि सुन्दरी ।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता ॥

अथौदार्यम्

औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥३६॥

यथा ।

[2]दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारं ।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥

यथा वा । भ्रूभंगे सहसोद्गतेत्यादि ।

अथ धैर्यम् ।

चापलाऽविहता०·········०विकत्थना ॥३७॥

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति । यथा मालती-माधवे ।

ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवाऽयं जनो न च जीवितम् ॥

---

१. दैवात् दृष्टा नितान्तसुमुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोषि अन्यासां विहताशे ॥

२. दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृहव्यापारं ।
गुरूण्यपि मन्युदुःखे भरामि पादान्ते सुप्तस्य ॥

अथ स्वाभाविका दश । तत्र

प्रियानुकरणं०........विचेष्टितैः ॥३७॥

प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला । यथा ममैव ।

[१]तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहा सीणं ।
अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहि ।

यथा वा ।

तेनोदितं वदति याति तथा यथासौ ।

इत्यादि ।

अथ विलासः ।

तात्कालिको०.......०क्रियादिषु ॥३८—

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः । यथा मालतीमाधवे ।

अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद् भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्यम्
आचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥

अथ विच्छित्तिः ।

आकल्परचना०........०पोषकृत् ॥३८॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः । यथा कुमारसम्भवे ।

कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे
गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्
बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥

अथ विभ्रमः

विभ्रमस्त्वरया.......विपर्ययः ॥३९—

यथा ।

अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।

---

१. तथा दृष्टं तथा भणितं तया नियतं तथा तथा शोणं ।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः ॥

अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥

यथा वा ममैव ।

श्रुत्वाऽऽयातं वहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः॥

अथ किलकिञ्चितम् ।

क्रोधाश्रु........किञ्चितम् ॥३९॥

यथा ममैव ।

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गाऽसौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित-
स्मितक्रोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान् मयि मुखम् ॥

अथ मोट्टायितम् ।

मोट्टायितं.......कथादिषु ॥४०–

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम् । यथा पद्मगुप्तस्य ।

चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥

यथा वा ।

मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-
र्जृम्भामन्थरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम् ।
सुप्तेवाऽऽलिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव-
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः ॥

यथा वा ममैव ।

स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥

अथ कुट्टमितम् ।

सानन्दाऽन्तः.......केशाधरग्रहे ॥४०॥

यथा ।

नान्दीपदानि रतिनाटकविभ्रमाणाम्
आज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥

अथ बिब्बोकः ।

गर्वाभिमाना०········०ऽनादरक्रिया ॥४१–

यथा ममैव ।

सव्याजं तिलकालकान् विरलयन् लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्
वारंवारमुदञ्चयन् कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम् ।
यद् भ्रूभङ्गतरंगिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितम्
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृतः ॥

अथ ललितम् ।

सुकुमारांग······भवेत् ॥४१॥

यथा ममैव ।

सभ्रूभङ्गं करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याऽञ्चलेन ।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
र्निःसङ्गीतं प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी ॥

अथ विहृतम् ।

प्राप्तकालं न·······हि तत् ॥४२–

प्राप्तावसरस्याऽपि वाक्यस्य लज्जया यद्वचनं तद् विहृतम् । यथा ।

पादांगुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिना सापदेशं लिखन्ती
भूयो भूयः क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन् मां नोवाच किञ्चित् स्थितमपि हृदये मानसं तद्दुनोति ॥

अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह ।

मन्त्री०·······०तस्याऽर्थचिन्तने ॥४२॥

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा वोभयं वा सहायः ।

तत्र विभागमाह ।

मन्त्रिणा……सिद्धयः ॥४३–

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः । शेषा धीरोदात्तादयः । अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वांऽगीकृतसिद्धय इति ।

धर्मसहायास्तु ।

ऋत्विक्०…………०ब्रह्मवादिनः ॥४३॥

ब्रह्म वेदस्तं वदंति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः । आत्मज्ञानिनो वा । शेषाः प्रतीताः ।

दुष्टदमनं दण्डस्तत्सहायास्तु ।

सुहृत्कुमारा०………०सैनिकाः ॥४४–

स्पष्टम् । एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि ।

यदाह ।

अन्तःपुरे………स्वस्वकार्योपयोगिनः ॥४४॥४५–

शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः ।

विशेषान्तरमाह ।

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन………चोत्तमादिता ॥४५॥४६–

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतामन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता । उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ॥४६॥

उक्तो नायकस्तद्व्यापारस्तूच्यते ।

तद्व्यापारात्मिका………शृङ्गारचेष्टितैः । ४७॥

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः । सा च कैशिकी सात्त्वत्यारभटीभारतीभेदाच् चतुर्विधा । तासां गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मृदुः शृंगारी कामफलावच्छिन्नो व्यापारः कैशिकी ।

सा तु ।

नर्मतत्स्फञ्ज०………०चतुरंगिका ॥४८॥

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते ।

तत्र

वैदग्ध्यक्रीडितं………विहितं त्रिधा ॥४८॥ ॥४९–

आत्मोपक्षेप सम्भोगमानैः………नर्माख्यात्पार्श्वोदितम् ॥४९॥

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म । तच्च शुद्धहास्येन स शृंगारहास्येन सभयहास्येन च रचितं त्रिविधम् । शृंगारवदपि स्वानुरागनिवेदनसम्भोगेच्छाप्रकाशनसापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव । भयनर्माऽपि शुद्ध रसान्तरांगभावाद् द्विविधम् । एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टा व्यतिकरेणाऽष्टादशविधत्वम् ।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा ।

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन
स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशी-
र्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।।

वेषनर्म यथा नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे । क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्रे उत्स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम् ।

शृंगारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा ।
मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः ।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः ।
सम्भोगनर्म यथा ।
[1]सालोए चिचअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ।।
माननर्म यथा ।

तदवितथमवादीर्यन् मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद् दुकूलं दधानः ।
मदधिवसति मा गाः कामिनां मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ।।

सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलहएण ता देवीए णिवेदइस्समित्यादि ।

शृंगारांगं भयनर्म । यथा ममैव ।

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे । सुसङ्गता । [2]जाणिदो मए एसो

---

१. सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा ।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः ।।

२. ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद् देव्यै निवेदयिष्यामि ।

अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिंगति वधूम् ।।

अथ नर्मस्फिञ्जः ।

नर्मस्फिञ्जः···········नवसंगमे ।।५१–

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः ।

विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं
ननु चिरात् प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां
त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ।।

मालविका । [1]भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअं काउं ण पारेमीत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः ।

नर्मस्फोटस्तु········लवैः ।।५१।।

यथा मालतीमाधवे । मकरन्दः ।

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं त्वेतत् स्यात् किमन्यदतोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ।।

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाश्यते ।

अथ नर्मगर्भः ।

छन्ननेत्र०········कैशिकी ।।५२।।

यथाऽमरुशतके ।

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्याऽऽदराद्
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीड़ानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।

यथा प्रियदर्शिकायां गर्भांके वत्सराजवेषसुसंगतास्थाने साक्षाद् वत्सराज-प्रवेशः ।

---

१. भर्तः, देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।

अथ सात्त्वती ।

विशोका........परिवर्तकः ॥५३॥

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सात्त्वती । तदंगानि च संलापोत्थापकसांघात्यपरिवर्तकाख्यानि ।

तत्र ।

संलापको........मिथः ॥५४–

यथा वीरचरिते । रामः । अयं स यः किल सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुरामः । राम राम दाशरथे स एवाऽयमाचार्यपादानां प्रियः परशुः ।

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः ।
एतावताऽपि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान् गुरुर्मे ॥

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति ।

अथोत्थापकः ।

उत्थापकस्तु..........परम् ॥५४॥

यथा वीरचरिते ।

आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्सांगत्यसुखस्य नाऽस्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥

अथ साङ्घात्यः ।

मन्त्रार्थ..........सङ्घभेदनम् ॥५५–

मन्त्रशक्त्या । यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव । यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम् । दैवशक्त्या तु । यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद् विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

अथ परिवर्तकः ।

प्रारब्धोत्थान०........परिवर्तकः ॥५५॥

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः । यथा वीरचरिते ।

हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति-
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत् सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ॥

रामः । भगवन् परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतदित्यादि ।

सात्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणामाह ।

एभिरङ्गैश्च०.........वस्तूत्थानावपातने ॥५६॥५७–

मायामन्त्रबलेनाऽविद्यमानवस्तुप्रकाशनम् । तन्त्रबलादिन्द्रजालम् । तत्र ।

सङ्क्षिप्तवस्तु.......नेत्रन्तरपरिग्रह ॥५७॥५८–

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापनं सङ्क्षिप्तिः । यथोदयनचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोगः । पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्याऽवस्थान्तरपरिग्रहमन्ये सङ्क्षिप्तिकां मन्यन्ते । यथा बालिनिवृत्त्या सुग्रीव. । यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनं पुण्या ब्राह्मणजातिरित्यादिना ।

अथ सम्फेटः ।

सम्फेटस्तु.........संरब्धयोर्द्वयोः ॥५८॥

यथा माधवाघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे । इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु ।

अथ वस्तूत्थापनम् ।

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ॥५९–

यथोदात्तराघवे ।

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
र्भास्वन्तः सकलारवेरपि रुचः कस्मादकस्मादमी ।
एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रा रवाः फेरवाः ॥

इत्यादि ।

अथाऽवपातः ।

अवपातस्तु ....विद्रवैः ॥५९॥

यथा रत्नावल्याम् ।

कण्ठे कृत्वाऽवशेषं कनकमयमधः शृंखलादाम कर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः ।

दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्ववालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपाम्
अन्तः कञ्चुकि कञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशंकिनः ॥

यथा यथा च प्रियदर्शनायां प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे ।

उपसंहरति ।

एभिरंगैश्च०...... ...नाटकलक्षणे ॥६०॥

कैशिकीं.........प्रतिजानते ॥६१॥

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते न चोपपद्यते रसेषु हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात् । नीरसस्य च काव्यार्थस्य चाऽभावात् । तिस्र एवै ता अर्थवृत्तयः । भारती तु शब्दावृत्तिरामुखसंगत्वात् तत्रैव वाच्या ।

वृत्तिनियममाह ।

शृंगारे.........भारती ॥६२॥

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापारः प्रवृत्तिरित्याह ।

देशभाषा०.........प्रयोजयेत् ॥६३॥

तत्र पाठ्यं प्रति विशेषः ।

पाठ्यं.........क्वचित् ॥६४॥

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः ।

स्त्रीणां.........शौरसेन्यधमेषु च ॥६५–

प्रकृतेरागतं प्राकृतम् । प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवं तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम् । शूरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

पिशाचा०.........तथाः ॥६५॥

यद्देशं......भाषाव्यतिक्रमः ॥६६॥

स्पष्टार्थमेतत् ।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनाऽऽमन्त्रणमाह ।

भगवन्तो.........मिथः ॥६७॥

आर्याविति सम्बन्धः ।

रथो.........तैः ॥६८॥

अपिशब्दात् पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः। सोऽपि तैस्तातेति सुगृहीतनामा चेति।

भावोऽनुगेन........च ।।६९–

सूत्रधारः पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्यः। स च सूत्रिणामार्ष इति।

देवः........चाधमैः ।।६९।।

आमन्त्रणीया........स्त्रियः ।।७०–

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः।

तत्र स्त्रियं प्रति विशेषः।

समा........तथा ।।७०।।

कुट्टिन्यम्बे०........शब्द्यते ।।७१।।

पूज्या जरती अम्बेति। स्पष्टमन्यत्।

चेष्टागुणो०........शशिखण्डमौलिः ।।७२।।

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः। चेष्टा लीलाद्याः गुणा विनयाद्याः उदाहृतयः संस्कृत-प्राकृताद्या उक्तयः सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनोभावः सत्त्वस्य प्रथमो विकारः तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः।

इति श्री विष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
नेतृप्रकाशो नाम द्वितीयप्रकाशः समाप्तः।

तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलंघनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते ।

प्रकृति०·········नाटकमुच्यते ॥१॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । शेषं प्रतीतम् ।

तत्र ।

पूरङ्गं०·········नटः ॥२॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला । तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादो पूर्वरंगता । तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव [1]वैष्णवस्थानकादिनो प्रविश्याऽन्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्याथस्थापनात् सूचनात् स्थापकः ।

दिव्यमर्त्यें·····पात्रमथापि वा ॥३॥

सः स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा । वस्तु यथोदात्तराघवे ।

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान् मालामिवाऽऽज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां सम्पदं
प्रोद्दीप्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ता समस्ता द्विषः ॥

बीजं यथा रत्नावल्याम् ।

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

मुखं यथा ।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढ़तमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥

---

१. दीर्घपादविक्षेपेण परिक्रमो वैष्णवस्थानकम् । आदिशब्दात् ताण्डवादिना पराक्रमो रौद्रमिति कस्यचित् टिप्पणी

पात्रं यथा शाकुन्तले ।

तवाऽस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणाऽतिरंहसा ॥

रङ्गं...... वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा ।

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताऽऽभिमुख्यं पुनः ॥
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ॥

इत्यादिभिरेव भारती वृत्तिमाश्रयेत् ।

सा तु ।

भारती...... ०प्रहसनामुखैः ॥५॥

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती । प्ररोचना वीथीप्रहसनामुखानि चाऽस्यामङ्गानि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

उन्मुखीकरणं...... प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम् ।

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥

वीथी...... तत् पुनः ॥६॥

सूत्रधारो...... तदामुखम् ॥७॥

प्रस्तावना...... त्रयोदश ॥८॥

तत्र कथोद्घातः ।

स्वेतिवृत्तसमं...... द्विधैव सः ॥९॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । द्वीपादन्यस्मादपीति ।
वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे । सूत्रधारः ।

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनया सह केशवेन ।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुता सभृत्याः ॥

ततोऽर्थेनाऽऽह । भीमः ।

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपांडववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

अथ प्रवृत्तकम् ।

कालसाम्य०........प्रवृत्तकम् ॥१०॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकं यथा ।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढ़तमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥

ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः ।

अथ प्रयोगातिशयः ।

एषोऽयमित्यु०.......मतः ॥११॥

यथा एष राजेव दुष्यन्त इति ।

अथ वीथ्यगांनि ।

उद्घात्यकावलगिते........त्रयोदश ॥१२॥ ॥१३–

तत्र ।

गूढार्थपद.......तदुच्यते ॥१३॥ ॥१४–

गूढार्थ पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला । प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला । द्वयोरुक्ति-प्रत्युक्तो तद् द्विविधमुघात्यकम् । तत्राऽऽद्यं विक्रमोर्वश्यां यथा । विदूषकः । [1]भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसे सो किं पुरिसो आदु इत्थिअत्ति । राजा । सखे ।

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ।

विदूषकः । [2]एवं पि ण जाणे ! राजा ! वयस्य इच्छाप्रभवः स इति । विदू-

---

१. भो वयस्य क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।
२. एवमपि न जानामि ।

षक: । [3]किं जो जं इच्छदि सो तं कामेदित्ति । राजा । अथ किम् । विदूषक: । [4]ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि ;

द्वितीयं यथा पांडवानन्दे ।

> का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभव: को य: स्वकुल्यै: कृत:
> किं दु:खं परसंश्रयो जगति क: श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
> को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिता: शत्रव:
> कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितै: पांडवै: ॥

अथाऽवलगितम् ।

यत्रैकत्र········०गितं द्विधा ॥१४॥ १५–

तत्राऽऽद्यं यथोत्तरचरिते । समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदाया: सीताया दोहद-कार्ये अनुप्रविश्य जनापवादादरण्ये त्याग: । द्वितीयं यथा छलितरामे । राम: । लक्ष्मण तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाऽहं प्रवेष्टुं शक्नोमि । तदवतीर्य गच्छामि ।

> कोऽपि सिंहासनस्याऽध: स्थित: पादुकयो: पुर: ।
> जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धि: ।

अथ प्रपञ्च: ।

असद्भू०······ ०मत: ॥१५॥

असद्भूतेनाऽर्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योन्यस्तुति: स प्रपञ्च: । यथा कर्पूरमञ्जर्याम् । भैरवानन्द: ।

[1]रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो ॥

अथ त्रिगतम् ।

श्रुतिसा········तदिष्यते ॥१६॥

यथा विक्रमोर्वश्याम् ।

> मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
> शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीर: ।

---

३. किं यो यदिच्छति स तत् कामयतीति ।

४. तज्ज्ञातं यथाहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि ।

१. रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च ।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्म: कस्य न भवति रम्य: ॥

कैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥

अथ छलनम् ।

प्रियाभैर········छलम् ॥१७–

यथा वेणीसंहारे भीमार्जुनौ ।

कर्त्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याऽङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥

अथ वाक्केली ।

विनि०········०ऽपि वा ॥१७॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्वित्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तयः । तत्राऽऽद्या यथोत्तरचरिते । वासन्ती ।

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । [1]भोदि मअणिए मं पि इदं चच्चरिं सिक्खावेहि । मदनिका । हदास ण क्खु एसा चच्चरी दुवदिखंडअं क्खु एदम् । विदूषकः । भोदि किं एदिणा खंडेण मोदआ करीअन्ति । मदनिका । ण हि पढीअदि क्खु एदमित्यादि ।

अथाऽधिबलम् ।

अन्योन्य०········भवेत् ॥१८–

यथा वेणीसंहारे । अर्जुनः ।

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः ॥

इत्युपक्रमे । राजा । अरे नाऽहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु ।

---

१. भवति मदनिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय ।—हताश न खलु एषा चर्चरी द्विपदीखण्डकं खल्वेतत् ।—भवति किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते । न हि पठ्यते खल्वेतत् ।

द्रक्ष्यन्ति न चिरात् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोस्थिवेणिकाभङ्गभीषणाम् ॥

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याऽऽधिक्योक्तिरधिबलम् ।

अथ गण्डः ।

गण्ड........०दितम् ॥१८॥

यथोत्तरचरिते । रामः ।

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

प्रविश्य प्रतिहारी । [1]देव उअत्थिदो । रामः । अयि कः । प्रतिहारी । देवस्य आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो इति ।

अथाऽवस्यन्दितम् ।

रसोक्त०........तत् ॥१९-

यथा छलितरामे । सीता । [2]जाद कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं । तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो । लवः । अम्ब किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् । सीता । जाद सो क्खु तुम्हाणं पिदा । लवः । किमावयो रघुपतिः पिता । सीता । साशंकम् । जाद ण क्खु परं तुम्हाणं सअलाए ज्जेव्व पुहवीए इति ।

अथ नालिका ।

सोपहासा........प्रहेलिका ॥१९॥

यथा मुद्राराक्षसे । चरः । [3]हंहो ब्रह्मण मा कुप्प । किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि किं पि अम्हारिसा जणा जाणन्ति । शिष्यः । किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि । चरः । यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदोत्ति । शिष्यः । किमनेन ज्ञातेन भवतीत्युपक्रमे । चाणक्यः । चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषान् जानामीत्युक्तं भवति ।

---

१. देव, उपस्थितः ।—देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः ।

२, जात, कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं तर्हि स राजा विनयेन नमितव्यः । —जात स खलु युवयोः पिता ।—जात न खलु परं युवयोः सकलाया एव पृथिव्याः ।

३. हंहो ब्राह्मण मा कुप्य किमपि तवोपाध्यायो जानाति किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति ।—यदि त उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति ।

अथाऽसत्प्रलापः ।

असम्ब०.........यथोत्तरः ॥२०–

ननु चाऽसम्बद्धार्थत्वेऽसंगतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः । तन् न । उत्स्वप्नायित-मदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावः । यथा ।

अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके-
रङ्गुल्या विषकर्बुरान् गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान् ।
एकं त्रीणि नवाऽष्ट सप्तषडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ॥

यथा च ।

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥

यथा वा ।

भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥

अथ व्याहारः ।

अन्यार्थ०.........वचः ॥२०॥

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने । मालविका निर्गन्तुमिच्छति । विदूषकः । [1]मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससीत्युपक्रमे गणदासः । विदूषकम् । प्रति । आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः । विदूषकः । [1]पढमं पच्चूसे ब्रम्हणस्स पूआ भोदि सा तए लंघिदा । मालविका स्मयते इत्यादिना नायकस्य विश्रब्ध-नायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलाभकारिणा वचनेन व्याहारः ।

अथ मृदवम् ।

दोषा.........तत् ॥२०॥२१–

यथा शाकुन्तले ।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥

---

१. मा तावदुपदेशशुद्धा गमिष्यसि ।

प्रथमंषे प्रस्यब्राह्मणस्य पूणा भवति सा तथा लंघिता ।

इति मृगयादीषस्य गुणीकारः ।

यथा च ।

सततमनिर्वृतमानसमायासहस्रसंकुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।

उभयं वा ।

सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवाऽसता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

एषा०.........प्रपञ्चयेत् ॥२१॥ २२–

तत्र ।

अभिगम्य०.........महीपतिः ॥२२॥

प्रख्यातवंशो.........०ऽऽधिकारिकम् ॥२३॥ २४–

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसंवादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकः तत्प्रख्यातमेवाऽत्र नाटके आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यत्.......प्रकल्पयेत् ॥२४॥२५–

यथा छद्मना बालिवधो मायुरोजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः । वीरचरिते तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

आद्यन्तमेवं.......खण्डयेत् ॥२५॥२६–

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् संधीनां विभागान् कुर्यात् ।

चतुःषष्टिस्तु.......न्यसेत् ॥२६॥२७॥

अपरमपि प्रासंगिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम् ।

तत्रैवं विभक्ते ।

आदौ·········कार्य्युक्तितः ॥२८–

इयमत्र कार्ययुक्तिः ।

अपेक्षितं·········०संश्रयः ॥२८-२९॥३०–

स च ।

प्रत्यक्ष०·········०साश्रयः ॥३०॥ ३१–

रंगप्रवेशे साक्षात् निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजनसंविधानरसाधिकरण उत्संग इवाऽङ्कः ।

तत्र च ।

अनुभाव०·········परिपोषणम् ॥३१॥३२–

अंगिन एवाऽङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात् स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः ।

न चाऽतिरसतो·········०लक्षणैः ॥३२॥३३–

कथासन्ध्यंगोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः ।

एको०·········तम् ॥३३॥ ३४–

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामंगत्वमुक्तम् । तन् न । यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामंगत्वम् । केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव ।

दूराध्वानं·········चाऽनुलेपनम्

अम्बर० ·······निर्विशेत् ॥३४–३५॥

अंकैर्नवोपनिबन्ध्नीत प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

नाऽधिकारिवधं·······न च ॥३६–

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनाऽपि न सूचयेत् । आवश्यकं तु देवपितृकार्य्याद्यवश्यमेव क्वचित् कुर्य्यात् ।

एकाहा०·········निर्गमः ॥३६॥ ३७–

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमानत्तन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमंकं कुर्य्यात् । तेषां पात्राणामवश्यमंकस्याऽन्ते निर्गमः कार्यः ।

पताकास्था०·········परम् ॥३७–३८॥

इत्युक्तं नाटकलक्षणम् ।

अथ·········०रसादिकम् ॥३९-४०॥

इति । कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तम् । लोकसंश्रयमनुदात्तममात्याद्यन्यतंधीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धि कुर्यात् । प्रकरणे मन्त्री अमात्य एव । सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत् ।

नायिका·········धूर्तसंकुलम् ।।४१-४२।।

वेशो भृतिःसोऽस्या जीवनमिति वेश्या । तद्विशेषो गणिका । यदुक्तम् ।

आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ।।

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यैव तरंगदत्ते कुलजैव पुष्पदूषितके । ते द्वेऽपि मृच्छकटिकायामिति । कितवद्यूतकादिधूर्तसंकुलं तु मृच्छकटिकादिवत् संकीर्णप्रकरणमिनि ।

अथ नाटिका ।

लक्ष्यते·········०वृत्तये ।।४२–

अत्र केचित् ।

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसञ्ज्ञाश्रिते काव्ये ।।

इत्यमुं भरतीयं श्लोकमेको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्ये इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासञ्ज्ञः नाटीसञ्ज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते । तदसत् । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात् समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात् । वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः । अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन् मुनिना लक्षणं कृतं तत्राऽयमभिप्रायः । शुद्धलक्षणसंकरादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं संकीर्णानां नाटिकैव कर्त्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

तमेव संकरं दर्शयति ।

तत्र·········सलक्षणः ।।४२।। ४३–

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति । एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण त्रस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादंकपात्रभेदात् यदि भेदः ।

तत्र ।

स्त्रीप्राय०·········०ऽनन्तरूपता ।।४३।। ४४–

तत्र नाटिकेति स्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम् । कैशिकीवृत्त्याऽऽश्रयत्वाच् च तदंगसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरंकत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

विशेषस्तु ।

देवी········०नेतृसंगमः ॥४४॥ ४५–

प्राप्या तु ।

नायिका········०मनोहरा ॥४५–४६॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

अन्तः०········०दर्शनैः ॥४७॥

अनुरागो········शङ्कितः ॥४७॥४८–

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसंगीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरितः उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः ।

कैशिक्य०········नाटिका ॥४८॥

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यंगचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाणः ।

भाणस्तु········विटः ॥४९॥

सम्बोधनो०········०स्तवैः ॥५०॥

भूयसा········दशाऽपि च ॥५१॥

इति । धूर्ताश्चौरद्यूतकारादयः तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद् भाणः । एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तयः आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच् च वीरशृंगारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ ।

लास्यांगानि ।

गेयं········द्विगूढकम् ॥५२॥

उत्तमो०········०कल्पनम् ॥५३॥

शेषं स्पष्टमिति ।

अथ प्रहसनम् ।

तद्वत्०········०सङ्करैः ॥५४–

तद्वदिति भाणवद् वस्तुसन्धिसन्ध्यंगलास्यादीनामतिदेशः ।

तत्र शुद्धं तावत् ।

पाखण्डि०········०वचोन्वितम् ॥५४॥ ५५–

पाखण्डिनः शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः । विप्राश्चाऽत्यन्तमृजवः । जातिमात्रोपजीविनो वा । प्रहसनाङ्गिहास्यविभावास्तेषां च यथावत् स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटी व्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

विकृतं तु ।

कामुका०.......धूर्तसङ्कुलम् ।।५५।।५६–

कामुकादयो भुजंगाचारभटाद्याः तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम् । स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् । वीथ्यंगैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ।

रसस्तु........एव तु ।।५६।।

इति स्पष्टम् ।

अथ डिमः ।

डिमे........०मुद्धताः ।।५७।। ५८–

रसैर०.......चेष्टितैः० ।।५८।। ५९–

चन्द्र०........स्मृतः ।।५८–५९।।६०–

डिमसंघात इति नायकसंघातव्यापारात्मकत्वाड् डिमः । तत्रेतिहास प्रसिद्धमितिवृत्तम् । वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः । रसाश्च वीररौद्रवीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षट् । स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानो विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः सांगाः । मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः । शेषं प्रस्तावादिनाटकवत् । एतच् च

> इदं त्रिपुरदाहेतु लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
> ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसञ्ज्ञः प्रयोजितः ।।

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तास्य तुल्यत्वं दर्शितम् ।

अथ व्यायोगः ।

ख्यातेति०........रसाः ।।६०।।६१–

अस्त्री०........बहुभिर्नरैः ।।६०–६१।।६२–

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन् बहवः पुरुषा इति व्यायोगः । तत्र डिमवद् रसाः षट् हास्यशृंगाररहिताः । वृत्त्यात्मकत्वाच् च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते अस्त्रीनिमित्तश्चाऽत्र संग्रामः । यथा परशुरामेण पितृवधकोपात् सहस्रार्जुनबधः कृतः । शेषं स्पष्टम् ।

अथ समवकारः

कार्य........सन्धयः ।।६२।।६३–

वृत्तयो........पृथक् ।।६३।।६४–

बहुवीर०........०स्त्रीविद्रवः ।।६४।।६५–

द्विसन्धि०………०काद्वयम् ॥६५॥६६–

वस्तुस्वभाव०………०विद्रवाः ॥६६॥६७–

धर्मार्थ०………यथा ॥६७॥६८–

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः। देवासुरादयो द्वादश-नायकाः। तेषां च फलानि पृथक् पृथग् भवन्ति। यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः। वीरश्चाऽङ्गी अंगभूताः सर्वे रसाः। त्रयोऽङ्काः। तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेति वृत्तप्रमाणः। यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका च घटिकाद्वयम्। प्रत्येकं च यथासंख्यं कपटाः। यथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्र-वाणां मध्ये एकैको विद्रवः कार्यः। धर्मार्थिकामश्रृंगाराणामेकैकः श्रृंगारः। प्रत्यंक-मेव विधातव्यः। वीथ्यंगानि च यथालाभं कार्याणि। विन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

अथ वीथी।

वीथी………रसान्तरम् ॥६८॥६९–

युक्ता………०प्रयोजिता ॥६९॥७०–

वीथीवद् वीथीमार्गः अंगानां पंक्तिर्वा भाणवत् कार्या। विशेषस्तु रसः श्रृंगारः अपरिपूर्णत्वात् भूयसा सूच्यः। रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि। कैशिकी वृत्तिः रसौचित्यादेवेति। शेषं स्पष्टम्।

अथाऽङ्कः।

उत्सृष्टि०………नराः ॥७०॥७१–

भाणवत्………०पराजयौ ॥७१॥७२–

उत्सृष्टिकांक इति नाटकान्तर्गतांकव्यवच्छेदार्थम्। शेषं प्रतीतमिति।

अथेहामृगः।

मिश्र०………०नायकौ ॥७२॥७३–

ख्यातौ………०दिनेच्छतः ॥७३॥७४–

श्रृंगाराभा०………महात्मनः ॥७४–७५॥

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः। ख्याताख्यातं वस्तु अन्त्यः प्रतिनायको विपर्यासाद् विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः। स्पष्टमन्यत्।

इत्थं………स्फुटमन्दवृत्तैः ॥७६॥

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य, कृतौ दशरूपावलोके रूपकलक्षणप्रकाशो नाम तृतीयप्रकाशः समाप्तः।

चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते ।

विभावैर०........स्मृतः ॥१॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः । तेन रसिकाः सामाजिकाः । काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवदायुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत् ।

तत्र विभावः ।

ज्ञायमानतया........द्विधा ॥२॥

एवमयमेवमियमित्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभावः । यदुक्तं विभाव इति विज्ञातार्थ इति । तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषूपपादयिष्यामः । अमीषां चाऽनपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवाऽऽसादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता । तदुक्तं भर्तृहरिणा ।

> शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
> प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥

इति । षट्सहस्रीकृताऽप्युक्तम् । एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्त इति ।

तत्राऽऽलम्बनविभावो यथा ।

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
> शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
> वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
> निर्मातुं प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

उद्दीपनविभावो यथा ।

> अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्वः
> परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः ।
> ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै-
> र्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति ।

अनुभावो·········०सूचनात्मकः ॥३—

स्थायिभावाननुभावयतः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः । एते चाऽभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद् भावकानुभवकर्म्मतयाऽनुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चाऽनुभावाः रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते । विकारो भावसंसूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया इह तु तेषां कारणत्वमेव । यथा ममैव ।

उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया ।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः ॥

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः ।

हेतुकार्यात्मनोः·········संव्यवहारतः ॥३॥

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रतिहेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वान् न पृथग् लक्षणमुपयुज्यते । तदुक्तम् । विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वाच् च न पृथग् लक्षणमुच्यत इति ।

अथ भावः ।

सुखदु खा०·········०भावनम् ॥४—

अनुकार्य्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुखःादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः । तदुक्तम् अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद् भावितं वासितमिति । यत् तु रसान् भावयन् माव इति । कवेरन्तर्गतं भावं भावयत् भाव इति च तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम् ।

ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः ।

पृथग्····०भावनम् ॥४॥

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम् । यदाह । सत्त्वं नाम मनः प्रभवं तच् च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । एतदेवाऽस्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाऽश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निवृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच् चाऽनुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम् ।

ते च ।

स्तम्भ०·········सुव्यक्तलक्षणाः ॥५—६॥

यथा ।

[1]वेवइ सेअदवदनी रोमाञ्चिअ गत्तिए ववइ ।
विललुल्लु तु वलअ लहु वाहोअल्लीए रणेत्ति ॥
मुहउ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्घेण ।
मुद्धा मुहल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिज्जइ ॥

अथ व्यभिचारिणः । तत्र सामान्यलक्षणाम् ।

विशेषा०········वारिधौ ॥७॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाऽऽविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः । ते च ।

निर्वेद०········त्रयश्च ॥८॥

तत्र निर्वेदः ।

तत्त्व०··· ···०दीनताः ॥९॥

तत्त्वज्ञानान् निर्वेदो यथा ।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥

आपदो यथा ।

राज्ञो विपद् वन्धुवियोगदुःखं
देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः
फलं मयैतत् चिरजीवितायाः ॥

ईर्ष्यातो यथा ।

धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ।

---

१. अपभ्रंशिकभाषया चेटया उक्तिः सम्भाव्यते ।
वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वर्पति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्यां रणति ।
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन !
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ॥

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः ।

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा ।

ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-
पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नाऽपि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग-
सङ्क्रान्तकुङ्मरसाः खलु निष्फलास्ते ।

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः । एवं रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः ।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा ।

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्माद् यतः श्रूयताम् ।
वामेनाऽत्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायाऽपि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्याऽपि मे ।

विभावानुभावरसांगनंगभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदर्शनीयः ।

अथ ग्लानिः ।

रत्याद्या०·········०क्रियाः ॥१०॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः । अस्यां च वैवर्ण्य कम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः । यथा माघे ।

लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः ।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशान्
अवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥

शेषं निर्वेदवदूह्यम् ।

अथ शंका ।

'अनर्थ०·········वर्णस्वरान्यता ॥११॥

तत्र परक्रौर्याद् यथा रत्नावल्याम् ।

ह्रिया सर्वस्याऽसौ हरति विदिताऽस्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकम्
प्रिया प्रायेणाऽऽस्ते हृदयनिहितातंकविधुरा ॥

स्वदुर्नयाद् यथा वीरचरिते ।

दूराद् दवीयो धरणीधराभं
यस्ताटकेयं तृणवद् व्यधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः
स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ।

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम् ।

अथ श्रमः

श्रमः·········मर्दनादयः ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते ।

अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥

रतिश्रमो यथा माघे ।

प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

अथ धृतिः ।

सन्तोषो·········०भोगकृत् ।।१२।।

ज्ञानाद् यथा भर्तृहरिशतके ।

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

शक्तितो यथा रत्नावल्याम् ।

राज्यं निर्जितशत्रु योग्य सचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेतिनाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥

इत्याद्यूह्यम् ।

अथ जड़ता ।

अप्रति·········यस्तत्र ॥१३॥

इष्टदर्शनाद् यथा ।

एवमालि निगृहीतसाध्वसं
शंकरो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला
नाऽस्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥

अनिष्टश्रवणाद् यथा । उदात्तराघवे । राक्षसः ।

तावन्तस्ते महात्मानो निहाताः केन राक्षसाः ।
येषां नायकतां यातास्त्रिशिरः खरदूषणाः ॥

द्वितीयः । गृहीतधनुषा रामहतकेन । प्रथमः । किमेकाकिनैव । द्वितीयः । अदृष्ट्वा कः प्रत्येति । पश्य तावतोऽस्मद्बलस्य ।

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः ।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥

प्रथमः : सखे यद्येवं तदाऽहमेवंविधः किं करवाणीति ।

अथ हर्षः ।

प्रसत्ति०·········०गद्गदाः ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतःप्रसादो हर्षः । तत्र चाऽश्रुस्वेदगद्-गदादयोऽनुभावाः । यथा ।

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे ।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनाऽऽदराद्
उन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ।

दौर्गत्या०·········०दिमत् ॥१४॥

दारिद्र्यन्यक्कारादविभावैरनौजस्कता चेतसो दैन्यम् । तत्र च कृष्णतामलि-नवसनदर्शनादयोऽनुभावाः । यथा ।

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्ताऽपि नो ।
यत्नात् सञ्चिततैलविन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥

शेषं पूर्ववत् ।

अथौङ्गचम् ।

दुष्टे०········नादयः ॥१५॥

यथा वीरचरिते जामदग्न्यः ।

> उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषाद्
> उद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
> पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
> क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥

अथ चिन्ता ।

ध्यानं········०तापकृत् ।

यथा ।

> पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
> कुर्वन्त्या हरहासहा र हृदये हारावलीभूषणम् ।
> बाले बालमृणालनालबलयालङ्कारकान्ते करे
> विन्यस्याऽऽननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥

यथा वा ।

> अस्तमितविषयसंगा मुकुलितनयोत्पला बहुश्वसिता ।
> ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ॥

अथ त्रासः ।

गर्जिता०········०तादयः ॥१६॥

यथा माघे ।

> त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरु-
> र्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
> क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनाऽपि हेतो-
> र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥

अथाऽसूया ।

परोत्कर्षा०········०तानि ॥१७॥

गर्वे यथा वीरचरिते ।

> अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
> द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।

उत्कर्षं च परस्य मानयशोर्विस्रंसनं चाऽऽत्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥

दौर्जन्याद् यथा ।

यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्वगुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदन् श्रममेष्यसि ॥

मन्युजा यथाऽमरुशतके ।

पुरस्तन्वा गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात् किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक् परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सेव तरुणी ॥

ततश्चाऽभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याऽश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥

अथाऽमर्षः ।

अधिक्षे०·········०नादयः ॥१८॥

यथा वीरचरिते ।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

यथा वा वेणीसंहारे ।

युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवान्
अद्यैकं दिवसं ममाऽसि न गुरुर्नाऽहं विधेयस्तव ॥

अथ गर्वः ।

गर्वो०·········०वीक्षणम् ॥१९॥

यथा वीरचरिते ।

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियाऽसि ।

तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥

यथा वा तत्रैव ।

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

अथ स्मृति ।

सदृश०………०नादयः ॥२०॥

यथा ।

मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद् भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणम्
आ ज्ञातं स जटायुरेस जरसा क्लिष्टो बधं वाञ्छति ॥

यथा वा मालतीमाधवे । माधवः । मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्याऽनवरतप्रबोधात् प्रतायमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम् ।

लीनेव प्रतिविम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवाऽन्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिविडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥

अथ मरणम् ।

मरणं०………०नोच्यते ॥२१॥

यथा ।

सम्प्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारं वारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम् ।
सम्प्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो-
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥

इत्यादिवत् शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् । अन्यत्र कामचारः । यथा वीरचरिते । पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम् ।

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्र-
संवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।

नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यद्
उद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥

अथ मदः ।

हर्षोत्कर्षो०·····०धमादिषु ।

यथा माघे ।

हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥

इत्यादि ।

अथ सुप्तम् ।

सुप्त०········०परम् ॥२२॥

यथा ।

लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात् ।
कुचकलशमहोष्मावद्धरेखस्तुषारः ॥

अथ निद्रा ।

मनः०·········०तादयः ॥

यथा ।

निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाऽप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्याऽपि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

यथा च माघे ।

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
ददद‌पि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥

अथ विबोधः ।

विबोधः········०मर्दने ॥२३॥

यथा माघे ।

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणाम्
अशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥

अथ व्रीडा ।

दुराचारा०.........०सुखादिभिः ॥२४॥

यथाऽमरुशतके ।

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नवबधूः ॥

अथाऽपस्मारः ।

आवेशो०.........०मादयः ॥२५॥

यथा माघे ।

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चै-
र्लोकद्भुजाकारवृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामे
असावपस्मारिणमाशशङ्के ॥

अथ मोहः ।

मोहो०.........०दर्शनादयः ॥२६॥

यथा कुमारसम्भवे ।

तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं
मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं
कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥

यथा चोत्तररामचरिते ।

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

अथ मतिः ।

भ्रान्ति०·········०धीर्मतिः ।

यथा किराते ।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।।

यथा च ।

न पण्डिताः साहसिका भवन्ति
श्रुत्वाऽपि ते सन्तुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति
स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चाऽर्थम् ।।

अथाऽऽलस्यम् ।

आलस्यं·······०दिमत् ।।२७।।

यथा ममैव ।

चलति कथञ्चित् पृष्टा
यच्छति वचनं कथञ्चिदालीनाम् !
आसितुमेव हि मनुते
गुरुगर्भभरालसा सुतनुः ।।

अथाऽऽवेगः ।

आवेगः०·········०पसाराः ।।२८।।

अभिसरो राजविद्रवादिः तद्धेतुरावेगः । यथा ममैव :

आगच्छाऽऽगच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं संनिधेहि द्रुतं मे
खड्गः क्वाऽसौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवंप्रतीच्छन्
वादः स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ।।

इत्यादि ।

तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तयः ।।

यथा वा ।

प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा सन्त्यज्य सेकक्रियाम्
एतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।

आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च वटवो वाचंयमा अप्यमो
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिताः ॥

वातावेगो यथा।

वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्।

इत्यादि।

वर्षजो यथा।

देवे वर्षत्यशनपवनव्यापृता वह्निहेतो-
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान् पाणिभिस्ताड़यित्वा
सूर्यच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥

उत्पातजो यथा।

पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान-
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्नम्
आलिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः ॥

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्याम्। तद् यथा। उदात्तराघवे। चित्रमायः ससम्भ्रमम्। भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायतामित्याकुलतां नाटयतीत्यादि। पुनश्चित्रमायः।

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

रामः।

वत्सस्याऽभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चाऽस्त्येव मे संभ्रमः।
माहासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढ़स्य मे निश्चयः ॥

इत्यन्तेनाऽनिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रमः।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव। प्रविश्य पटाक्षपेण सम्भ्रान्तो वानरः वानरः [1]महाराअ एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिसेत्यादि देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिदं महुवणमित्यन्तम्।

---

१. महाराजैतत् खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्षइदि, देवस्य हृदयानन्दजननं विदलितं मधुवनमित्यन्तम्।

यथा वा वीरचरिते ।

एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ।

वह्निजो यथाऽमरुशतके ।
क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवाऽऽर्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ।
यथा वा रत्नावल्याम् ।

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैर्रचिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥

करिजो यथा रघुवंशे ।

सच्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं
भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं
सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः ।

तर्को·······०नतंकः ।

यथा ।

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।

मिथ्यैतन् मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्मातातातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥

अथवा ।

कः समुचिताभिषेकादार्यं प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैष पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना ॥

अथाऽवहित्थम् ।

लज्जा०·········०विक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे ।

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

अथ व्याधिः ।

व्याधयः·········विस्तरः ॥२९॥

दिङ्मात्रं तु यथा ।

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः ।
अद्य श्वः परिनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥

अथोन्मादः ।

अप्रेक्षा०·········०सितादयः ॥३०॥

यथा । आः क्षुद्रराक्षस तिष्ठ तिष्ठ क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसीत्युपक्रमे । कथम् ।

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥

इत्यादि ।

अथ विषादः ।

प्रारब्ध०·········दिकृत् ॥३१॥

यथा वीरचरिते । हा आर्ये ताडके किं हि नामैतत् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि ग्रावाणः प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।

दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥

अथौत्सुक्यम् ।

कालाक्ष०⋯⋯०विभ्रमाः ॥३२॥

यथा कुमारसम्भवे ।

आत्मानमालोक्य च शोभमानम्
आदर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव
स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥

यथा वा तत्रैव ।

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्
अनिनयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं विप्रकुर्यु-
र्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥

अथ चापला ।

मात्सर्य०⋯⋯०चरणादयः ॥३३॥

यथा विकटनितम्बायाः ।

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ।

यथा वा ।

विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्रा
क्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात्
सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥

अथवा । प्रस्तुतमेव तावत् सुविहितं करिष्य इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान् न पृथग् वाच्याः ।

अथ स्थायी ।

विरुद्धै०........लवणाकरः ॥३४॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी। यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्यमदनमञ्जूषायामनुरागः। तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी। यथा च मालतीमाधवे। श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुरागस्याऽतिरस्कारो मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्याऽनवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमित्र करोत्यन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यमित्यादिनोपनिबद्धः। तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी। तथाहि। विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा। उभयरूपेणाऽपि न तावत् तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाऽऽविर्भावात्। स्थायिनां च विभावादीनां यदि विरोधस्तत्राऽपि न तावत् सहानवस्थानं रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाऽविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्धः। यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भणाऽनुकार्येऽप्यावेश्यमानः स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः सम्पद्यते। तस्मान् न तावद् भावानां सहानवस्थानम्। बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः। स च व्यभिचारिणां स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धास्तेषामङ्गत्वात् प्रधानविरुद्धस्य चाऽङ्गत्वायोगादानन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्तं भवति। तथा च मालतीमाधवे श्रृंगारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चित् वैरस्यं तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसकावलम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः। सत्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी। यथा।

[1]अण्णहुणाहुमहेलिअहुजुहुपरिमलुसुसुअन्धु।
मुहुकन्तह अगत्थणह अंगण फिट्टइ गन्धु॥

इत्यत्र बीभत्सरसस्याऽङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन श्रृंगारसमावेशो न विरुद्धः प्रकारान्तरेणैकाश्रयविरोधी परिहर्तव्यः। ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्यंगत्वेनाऽविरोधः। यत्र तु समप्रधानत्वेनाऽनेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम्। यथा।

[2]एक्कत्तो रुअइ पिआ अणत्तो समरतूरणिग्घोसो।
पेम्पेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअं॥

इत्यादौ रत्युत्साहयोः। यथा वा।

---

१. देखिए परिशिष्ट–२।
२. एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम्॥

मात्सर्यमुत्सार्यविचार्यकार्यम्
आर्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणाम्
उत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

इत्यादौ रतिशमयोः । यथा च ।

इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चाऽयं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः ।

इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चाऽयं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ॥
अन्त्रैः कल्पितङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तं सभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः सम्भूयकान्तैः पिव-
न्त्यस्थिस्नेहसुरां कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः ।

एकं ध्याननिमीलनान् मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृंगारभारालसम् ।
अन्यद्दूर विकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम् ।

एकेनाऽक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनाऽपरेणाऽऽत्मकान्तम् ।
अन्हश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥

इत्यादौ रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत् कथं न विरोधः । अत्रोच्यते । अत्राऽप्येक एव स्थायी । तथाहि । एक्कत्तो रुअइ पिया इत्यादौ स्थायिभूतोत्साह-व्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम् । न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुप-कार्योपकारकभावरहितयोरेकवाक्यभावो युज्यते । किञ्चोपक्रान्ते सङ्ग्रामे सुभ-टानां कार्यान्तरकरणेन प्रस्तुतसङ्ग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम् । अतो भर्तुः सङ्ग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणी वीरमेव पुष्णाति । एवं मात्सर्यमित्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादानात् शमैकपरत्वमार्याः समर्यादमित्यनेन प्रकाशितम् । एवमियं सा लोलाक्षीत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्ष-

नायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतयां च रौद्रव्यभिचारिविषादविभाववितर्क-हेतुतया रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरमेरव। अन्त्रैः कल्पितमङ्गुलप्रतिसरा इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव। एकं ध्याननिमीलनादित्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्थस्याऽपि योग्यन्तरशमाद् वैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव समाधिसमय इत्यनेन स्फुटीकृता एकेनाऽक्ष्णेत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषय-मिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम्। यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थ-भेदेन स्वतन्त्रतया चाऽर्थद्वयपरतेत्यदोषः। यथा।

> श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
> त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाऽऽक्रान्तलोको हरिः।
> बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
> स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥

इत्यादौ तदेवमुक्तप्रकारेणरत्याद्यपनिबन्धे सर्वत्राऽविरोधः। यथा वा श्रूयमाणरत्या-दिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाऽग्रे दर्शयिष्यामः।

ते च।

रत्युत्साह०........नैतस्य॥३५॥

इह शान्तरसं प्रतिवादिनामनेकविधा विप्रतिवत्तयः। तत्र केचिदाहुः। नाऽस्त्येव शान्तो रसः। तस्याऽऽचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याऽभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तु-मशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। यथा—तथाऽस्तु। सर्वथानाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याऽभिनयायोगात्। यत् तु कैश्चिन् नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं तत् तु मलयवत्यनुरागेणाऽप्रबन्ध-प्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्याऽविरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्। तत्रैव शृङ्गारस्याऽङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाऽविरोधादीप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक्। अतोऽष्टावेव स्थायिनः। ननु च रसानाद् रसत्वमेतेषां मधु-रादीनामिवोक्तमाचार्यैः। निर्वेदादिष्वपि तत् प्रकाममस्तीति तेऽपि रसा इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इति अवधारणानुपपत्तिः।

अत्रोच्यते।

निवदा०........मता॥३६॥

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अतएव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति। न च निष्फलावमानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनं हास्यादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात्। पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात्। अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति। किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम्। न च निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः। ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते। अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता। कः पुनरेतेषां काव्येनाऽपि सम्बन्धः न तावद् वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्। न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृंगारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते। येन तेषां तत्परिपोषस्य वाऽभिधेयत्वं स्यात्। यत्राऽपि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वयात्रेण। नाऽपि लक्ष्यलक्षकभावस्तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याऽप्रयोगात्। नाऽपि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः। यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ। तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्याऽवस्थानासम्भवात् स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थं विना भूतार्थोपलक्षितं तटमुपलक्षयति। अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवाऽर्थान्तरमुपलक्षयेयुः। को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत। सिंहो माणवक इत्यादिवत्। अतएव गुणवृत्त्याऽपि नेयं प्रतीतिः। यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात् तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत्। न च काल्पनिकत्वमविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भतेः। अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति। तथाहि। विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् यथा कुमारसम्भवे।

विवृण्वती शैलसुताऽपि भावम्
अङ्गैः स्फुटद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ
मुखेन पर्यस्तविलोचनेन

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद् गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाऽशब्दाऽपि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति। रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः। न केवलं रसेष्वेव यावद् वस्तुमात्रेऽपि यथा।

[1]भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणहो अज्ज मारिओ तेण।

---

१. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकच्छकुटङ्गवासिना दरीसिंहेन॥

गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशब्दाऽपि व्यञ्जकशक्तिमूलैव ।

तथाऽलङ्कारेष्वपि ।

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्यादिषु चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दमित्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्वनिबन्धनीति । न चाऽसावर्थापत्तिजन्या । अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नाऽपि वाक्यार्थत्वं व्यङ्ग्यस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात् । तथाहि । भ्रम धार्मिकेत्यादौ पदार्थविषयाभिधालक्षणप्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षातिक्रान्ततृतीयकक्षाक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीनः स्फुटमेवाऽवभासते । अतो नाऽसौ वाक्यार्थः । ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु विषं भुङ्क्ष्वेत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थः । न चाऽत्र व्यञ्जकत्ववादिनाऽपि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वनेः । तत्र स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात् । सैव निषेधं कक्षा तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः । प्रकरणात् पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात् । रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात् । तदुक्तम् ।

अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ॥
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम् ।
तत् प्रसर्पति तत्र स्यात् सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥

इत्येवं सर्व रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद् वाच्यत्वं क्वचिद् व्यंग्यत्वम् । तत्राऽपि यत्र व्यंग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिरन्यत्र गुणीभूतव्यंग्यत्वम् । तदुक्तम् ।

यत्राऽर्थः शब्दो वा यमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राऽङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥

यथा । उपोढरागेणेत्यादि । तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् । अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यश्चेति

द्विधा। विवक्षितवाच्यश्च असंलक्षितक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः। तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमे ध्वनित्वं प्राधान्यप्रतीतौ सत्यामंगत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति।

अत्रोच्यते।

वाच्या·······भावस्तथेतरैः ॥३७॥

यथालौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु गामभ्याजेत्यादिष्वश्रूयमाणक्रियेषु च द्वारं द्वारमित्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसंविवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् क्वचित् प्रीत्यै नवोढा प्रियेत्येवमादौ क्वचित् च प्रकरणादिवशान् नियताविहितविभावाद्यविनाभावाद् वा साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिवाक्यार्थः। नचाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्। कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्यशक्तेः। तथाहि पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्। अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत् काव्यशब्दानां चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्य्यत्वेनाऽवधार्य्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते। अतो वाक्यस्याऽभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टोरत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यम्। यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ। न चैवं सति गीतादिवत् सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः। विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेस्तदनेनाऽतिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः। ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनप्रयासः यथाऽवोचाम काव्यनिर्णये।

तात्पर्यानतिरेकाच् च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥

विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥

ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ तन् न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥

> भ्रमधार्मिकविश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदे ।
> निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ।।
> प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद् यदि ।
> वक्तुर्विवक्षितप्राप्तिरविश्रान्तिर्न वा कथम् ।।
> पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्त्रता ।
> वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ।।

इति । अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि भाव्यभावक-सम्बन्धः । काव्यं हि भावकम् । भाव्या रसादयः ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टनिभा वादिमता काव्येन भाव्यन्ते । न चाऽन्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावक-लक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रिया-वादिभिस्तथाऽङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चाऽन्यत्र तथास्त्वन्वर्यव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात् । तदुक्तम् ।

> भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
> यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।

इति । कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेल्लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहाऽपि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः ।

रसः.........परत्वतः ।।३८।।

द्रष्टुः.........दर्शनात् ।।३९।।

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते । स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वान् नाऽनुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात् तस्य । अथ शब्दोपहितरूपत्वेनाऽवर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । तथाऽपि तदवभासस्याऽस्मदादिभिरनुभूयमान-त्वादसत्समतेकास्वादं प्रति विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते । अपितु सहृदयाना-नन्दयितुम् ।स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव । यदि चाऽनुकार्यस्य रामादेः शृंगारः स्यात् ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृंगारिणो स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकणां प्रतीतिमात्रं भवेन् न रसानां स्वादः सत्पुरुषाणां च लज्जेतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन् । एवं च सति रसादीनां व्यंग्यत्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनाऽपि व्यज्यते ।

प्रदीपेनेव घटादि। न तु तदानीमेवाऽभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्य स्वभावम्। भाव्यन्ते च विभादिभिः प्रेक्षकेषु रसाइत्यावेदितमेव !

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः। कथं च सीतादीनां च देवीनां विभावत्वेनाऽविरोधः। उच्यते।

धीरोदात्ता०........रसिकस्य ते ॥४०॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकी रामादीनामवस्थ नितिहासवदुपनिवध्नन्ति। किं तर्हि सर्वलोकसाधारणाः स्वोत् प्रेक्षाकृतसन्निधयो धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो दधति।

ता........रसहेतवः।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवाऽनिष्टं कुर्युः। किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेदुच्यते।

क्रीडतां........दिभिः ॥४१॥

एतदुक्तं भपति। नाऽत्र लौकिकशृंगारादिवत् स्त्र्यादिविभावादीनामुपथोगः। किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारणे लौकिकरसविलक्षणत्वं नाटचरसानाम्। यदाह। अष्टौ नाटचेरसाः स्मृता इति।

काव्यार्थं०........वार्यते ॥४२॥

नर्त्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति। तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।

कथं च काव्यात् स्वादोद्भूतिः किमात्मा चाऽसाविति व्युत्पाद्यते।

स्वादः........समुद्भवः ॥४२॥४३-
विकाश०........क्रमात् ॥४३॥
हास्याद्भुत०....धारणम् ॥४४॥४५-

काव्यार्थेन विभावादि संसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदेऽन्योन्यसंचलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः। तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्यत्वेन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद् यथा। शृङ्गारे विकासो वीरे विस्तरो बीभत्से क्षोभो रौद्रे विक्षेप इति तदन्येषां चतुर्णां [हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः। अतएव।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाऽद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥

इति। हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।

श्रृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्त्तितः।

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणादवधारणमप्यतएवाऽष्टाविति सम्भेदानां भावात्। ननु च युक्तं श्रृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थ-सम्भेदादानन्दोद्भव इति। करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथमिवाऽसौ प्रादुष्यात्। तथाहि। तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति। न चैतदानन्दात्मकत्वे सतियु ज्यते। सत्यमेतत्। किन्तु तादृश एवाऽसावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणायिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणामन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः। तथाह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि वा लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवह स्यात् तदा न कश्चित् तत्र प्रवर्तेत। ततः कारुण्यैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेद-श्रुपातादयश्चेति वृत्तवर्णानाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते। तस्माद् रसान्तरवत् करुणस्याऽप्यानन्दात्म-कत्वमेव।

ननु शान्तरसस्याऽनभिधेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नाऽस्ति तथाऽपि सूक्ष्मा-तीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्य्यते। अतस्तदुच्यते।

शम०.....तदात्मता।

शान्तो हि यदि तावत् ॥४५॥

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

इत्येवं लक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवाऽऽत्मस्वरूपपात्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात् तस्य च स्वरूपेणाऽनिर्वचनीयता। तथाहि श्रुतिरपि स एष नेति नेत्यन्यापोह-रूपेणाऽऽह न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्त्यथ तदुपाय-भूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति। तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते।

पदार्थैं०····गतैः ॥४६॥

भवितः····०परिकीर्तितः ॥४७–

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितो भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते । तत्राऽऽचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग् लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु ।

लक्षणैक्यं····०वयोः ॥४७॥

क्रियत इति वाक्यशेषः ।

तत्र तावत् शृंगारः ।

रम्यदेश०····विचेष्ठितैः ॥४८॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृंगारास्वादाय प्रभवतीति । कव्युपदेश-परमेतत् । तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते ।

> स्मरसि सुतनु तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन
> प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
> स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
> स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥

कलाविभावो यथा ।

> हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
> पादन्यासैर्लयमुपगस्तन्मयत्वं रसेषु ।
> शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तै-
> र्भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥

यथा च ।

> व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाऽप्यत्र लब्धाऽमुना
> विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
> गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण गतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता-
> स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे ।

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात् प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नाऽपेक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥

इत्युपक्रमे ।

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे
पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

वेषविभावो यथा तत्रैव ।

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागं
आकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं
वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ॥

उपभोगविभावो यथा ।

चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कवरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतः स्थलीवर्धितः ॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे ।

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवाऽन्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे ।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ॥

यूनोर्विभावो तथा मालतीमाधवे ।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।

साक्षात् कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितललितैरंगकैस्ताम्यतीति ॥

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव ।

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
आवृत्तवृत्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव ।

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥

ये सत्त्वजाः०........मिष्टम् ॥ ४९ ॥

त्रयास्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाऽष्टौ स्थायिन अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत् । युक्ताऽङ्गत्वेनोपनिबध्यमानाः शृंगारं सम्पादयन्त्यालस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादंगत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव ।

विभागस्तु ।

अयोगो........त्रिधा ॥५०॥

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद् विप्रलम्भस्यैतत् सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्माभूदिति न प्रयुक्तः । तथाहि । दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्व्येन नायिकान्तरानुसरणाच् च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तत्रा०........०सङ्गमः ॥ ५० ॥५१-

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः । पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद् दैवपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराज माधवाभ्यामिव दैवाद् गौरीशिवयोरिवाऽसमागमोऽयोगः ।

दशावस्थः........यथोत्तरम् ॥ ५१-५२ ॥

अभिलाषः........०साध्वसाः ॥ ५३ ॥

साक्षात्........०गुणस्तुतिः ॥ ५४ ॥

अभिलाषो यथा शाकुन्तले ।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्थमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

विस्मयो यथा ।

स्तनावालोक्य तन्वंग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम् ।

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरन् ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मनाग्
अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे ।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

यथा वा ।

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे
गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी
सा तथाऽपि रतये पिनाकिनः ॥

सानु०········०दर्शिताः ॥५५–

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान् न व्याख्यातम् ।

दशा०········तदनन्तता ॥ ५५ ॥५६–

दिङ्मात्रं तु ।

दृष्टे········० चिन्तनात् ॥ ५६ ॥५७–

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोगः ।

विप्रयोगस्तु········प्रणयेर्ष्ययोः ॥ ५७ ॥५८—

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगः । तस्य द्वौ भेदौ मानः प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः, प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

तत्र········०योर्द्वयोः ॥५८॥

प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयस्तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः । स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते ।

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य ।

प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद् विलक्षमवस्थितम् ॥

उभयोः प्रणयमानो यथा ।

[1]पणअकुविआण दोण्हवि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाण को मल्लो ॥

स्त्रीणा०·······मुखात् ॥ ५९ ॥

उत्स्वप्ना०········०गोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसंगिनि स्वकान्ते उपलब्धे सत्यन्यासंगः श्रुतो वाऽनुमितो दृष्टो वा स्यात् । तत्र श्रवणं सखीवचनात् तस्या विश्वास्यत्वात् । यथा ममैव ।

सुभ्रु त्वं नवनीतकल्पहृदया केनाऽपि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनाऽस्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद् विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥

उत्स्वप्नायिती तथा रुद्रस्य ।

---

१. प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥

निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादालीसमालिंगिता
केनाऽलीकमदं तवाऽद्य कथितं राधे ! मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ॥

भोगाङ्कानुमिती यथा ।

नवनखपदमंगं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसंगशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा ।

[1]केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती ॥
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य ।

प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणाम परोऽभवत् ।
नमितशिरसो गंगालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद् विलक्षमवस्थितम् ॥

एषाम् ।

यथोत्तरं····रसान्तरैः ॥६१॥

तत्र····नतिः ॥६२॥

सामादौ····पाविताः ॥६३॥६४–

तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव ।

स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदद्येताऽद्य गुणितम् ॥

[यथा वा ।
इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः]

१. केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता ॥

नायिकासखीसमावर्जनभेदो यथा ममैव ।

कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयममीमाऽद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ।।

दानं व्याजेन भूषादेर्य्यथा माघे ।

महुरुपहसितामिवाऽलिनादै-
र्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ।।

पादयोः पतनं नतिर्यथा ।

[१]णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअंत्ति च्चिअ कहेइ ।।

उपेक्षा तदवधीरणं यथा ।

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ।।

रभसत्रासहर्षादि रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव ।

अभिव्यक्तालोकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिंगति वधूम् ।।

अथ प्रवासविप्रयोगः ।

कार्यतः.........दिता ।।६४।।

स च.........पूर्वकः ।।६५।।

आद्य कार्य्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्य्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वात् भूतभविष्य-द्वर्तमानतया त्रिविधः ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा ।

---

१. नूपुरकोटि विलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुक्तमित्येव कथयति ।।

[1]होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम्।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेसु पिअविरहसहिरीआ ॥

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके ।

[प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वाऽस्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥
यथा वा तत्रैव ।]

देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्व्वीभृतां काननै-
यत्नेनाऽपि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशांपथिकस्तथाऽपि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥

गतप्रवासो यथा मेघदूते ।

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मंगोत्रांक विरचिपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाविशेषात् त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

द्वितीयः........वात् ।

उत्पातनिर्घातवादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद् वाऽबुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव सम्भ्रमजः प्रवासः । यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्याम् । यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपा०........वपि ॥६६॥

यथा कादम्बर्य्यां वैशम्पायनस्येति ।

मृते........नेतरः ॥६७॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे । कादम्बर्य्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

---

१. भविष्यत्पथिकस्य जाया आथा आयुःक्षणजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद्गृहेषु प्रियविरहसहिका ॥

तत्र नायिकां प्रति नियमः ।

प्रणया०·········खण्डिता ॥६८॥

यथ सम्भोगः ।

अनुकूलौ·········मुदाऽन्वितः ॥६९॥

यथोत्तररामचरिते ।

> किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगाद्
> अविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
> सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो
> रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥

अथवा । प्रिये किमेतत् ।

> विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
> प्रमोदो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
> तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणे
> विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

यथा च ममैव ।

> लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागरुश्यामले
> वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वंगि दूरोन्नते ।
> नासावंशमनोज्ञकेततनुभ्रू पत्रगर्भोल्लसत्
> पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृंगरिवाऽऽपीयते ॥

चेष्टास्तत्र·········प्रति ॥७०॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः ।

रमयेत्·········न च ॥७१॥

ग्राम्यः सम्भोगः रंगे निषिद्धोऽपि काम्येऽपि न कर्त्तव्य इति पुनर्निषिध्यते । यथा रत्नावल्याम् ।

> स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
> उद्भिन्नापरमृदुरकिसलय इव लक्ष्ययेऽशोकः ॥

इत्यादि । नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद् युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चाऽनुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

अथ वीरः ।

वीर.........०प्रहर्षाः ॥७२॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य । युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य । दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम् ।

त्यागःसप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः । इति ।

सर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धिविकसद्वक्षः स्फुरत्कौस्तुभं-
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनिः ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद् वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥

यथा च ममैव ।

लक्ष्मीपयोधरोत्संगकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनाऽस्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिना धीराणामपि भावात् त्रैधं प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः ।

अथ बीभत्सः ।

बीभत्सः.........शङ्कादयः ॥७३॥

अत्यन्ताहृद्यैः क्रमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः । यथा मालतीमाधवे ।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोपभूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्काद्
अङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभावः क्षोभणो बीभत्सः । यथा वीरचरिते ।

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालफलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्बन्धोद्धतं धावति ॥

रम्येष्वपि रमणीयजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो बीभत्सः । यथा ।

लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः ॥

न चाऽयं शान्त एव विरक्तो यतो बीभत्समानो विरज्यते । अथ रौद्रः ।

क्रोधो········वेगादयः ॥ ७४ ॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते ।

त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः ।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति ॥

वैरिवैकृतादिर्यथा वेणी संहारे ।

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डवबधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वदेरक्तवदननयनाद्यनुभावैः अमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः । परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः ।

अथ हास्यः ।

विकृता०········स्मृतः ॥ ७५ ॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्य रसो द्व्यधिष्ठानो भवति । स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात् षड्विधः ।

आत्मस्थो यथा रावणः ।

जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः ।
रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥

परस्थो यथा ।

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियं प्रियमहो वारांगनाभिः सह ।

वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनं दयूतेन चौर्येण वा
चौर्यदयूतपरिग्रहोऽपि भवतो दासस्य काऽन्या गति ॥

स्मितमिह········हसितम् ॥७६॥

अपहसितं········क्रमशः ॥७७॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते मध्यमस्य विहसितोपहसितेऽधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः । व्यभिचारिणश्चाऽस्य ।

निद्रा०····चारिणः ॥७८-७९॥

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा ।

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंगोद्धत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्याप्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाऽद्याऽपि विश्राम्यति ॥

इत्यादि ।

अथ भयानकः ।

विकृत०··· ····सहोदरः ॥८०॥

रौद्रशब्दश्रवणाद् रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भवानको रसः । तत्र सर्वांगवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः । दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः । भयानको यथा प्रागुदाहृतः ।

शस्त्रमेतत् समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः ।
यथायथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥
यथा च रत्नावल्याम् । नष्टं वर्षबरैरित्यादि । यथा च ।
स्वगेहात् पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात् सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ।
तदन्वंगान्यंगैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्रा चकितधीः ॥

अथ करुणः ।

इष्ट०····पितादयः ॥८१॥

स्वापाप०····चारिणः ॥८२॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षजः करुणः। तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्। व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः। इष्टनाशात् करुणो यथा कुमारसम्भवे।

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम्॥

इत्यादि रतिप्रलापः। अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्जनाद् यथा रत्नावल्याम्।

प्रीति०........कीर्तिता ॥८३॥

स्पष्टम्।

षट्०........तेषु च ॥८४॥

विभूषणं चाऽक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानो गुणककीर्तनं च।

इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत्काव्यलक्षणानि। साम भेदः प्रदानं चेत्येवमादीनि सन्ध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्विवाऽलंकारेषु हर्षोत्साहादिष्वन्तर्भावान् न पृथगुक्तानि।

रम्यं........लोके ॥८५॥

विष्णो........मेतत् ॥८६॥

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः।

परिशिष्ट–२

(१) अण्णहु णाहु० इत्यादि ४।३४ की वृत्ति का उदाहरण—

इसे प्राकृत गाथा समझकर विद्वानों ने दुरूह कहकर बिना व्याख्या के ही छोड़ दिया है। मुद्रित प्रतियों में इसकी संस्कृत छाया भी उपलब्ध नहीं होती। वस्तुतः यह अपभ्रंश का दोहा है। इसके पाठ में कुछ दोष अवश्य है पर अर्थ बहुत अस्पष्ट नहीं है। यह 'सत्त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेन उपविवध्यमान' विरोधी नहीं होता'—का उदाहरण है, अर्थात् विरुद्ध रस भी यदि किसी अवरोधी रसान्तर से व्यवहित होकर उपनिबद्ध किया गया हो तो विरोधी नहीं होता, यह बात स्पष्ट करने के लिये दिया गया है। मुझे डॉ० शिवप्रसाद सिंह से यह सूचना पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि हाल में इस उदाहरण का एक पाठान्तर भी प्राप्त हुआ है, जो इस प्रकार है—

अण्णउ ताउ महिला जह परिमल सुअंधु।
मह कन्तह अल्लीणउ वणवीस अगंधु॥

यह किसी दाक्षिणात्य हस्तलेख के अनुसार श्री वेङ्कटाचार्य द्वारा १९६८ के 'एनल्स आफ ओरिएण्टल कॉनफरेंस' में उद्धृत किया गया था। उक्त छन्द का संस्कृत रूपान्तर निम्न ढंग लिखित प्रस्तुत किया गया है—

अन्यास्ता महिला यया [?] परिमलगन्धाः।
मम कान्तस्य आश्रितो व्रणविस्रगन्धः॥

यह पाठान्तर और भी भ्रष्ट है। यह न तो छंद की दृष्टि से ठीक है और न भाषा की दृष्टि से। संस्कृत छाया भी बहुत शुद्ध नहीं है। परन्तु अर्थ स्पष्ट करने में यह थोड़ा सहायक अवश्य है। पहली पंक्तियों से अन्तिम पंक्ति का इसमें तालमेल नहीं बैठता। पहली पंक्ति में उन महिलाओं की चर्चा है जिनका परिमल सुगन्धित है। परन्तु दूसरी पक्ति में कहने वाली के पति के आश्रित दुर्गन्धपूर्ण व्रणों की चर्चा है। दोनों में तुलना का कोई उचित आधार नहीं है। दोनों में ही पतियों की चर्चा होती तो तुलना हो सकती और जिस प्रसंग में यह दोहा उद्धृत किया गया है उसकी ठीक ठीक संगति बैठ सकती। अपभ्रंश की परंपरा को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाए तो जिस रूप में इस दोहे का पाठ पहले मिला है वही प्रायः ठीक जान पड़ता है। वह पाठ इस प्रकार होगा—

अण्णहो णाह महेलिअहो जु हु परिमलु सु सुअंधु।
महु कन्तहु अग्गत्थणहु अंगहु फिट्टइ गंधु॥

संस्कृत छाया—अन्यासां नाथानां महिलानां यः खलु परिमलः स सुगन्धः ।
मम कान्तस्य अग्रस्थितस्य अंगेभ्यः भ्रश्यते गन्धः ।

हिन्दी अनुवाद—(पति के पराक्रम से गर्वीली नायिका व्याज निंदा के रूप में अपने पति के बारे में कहती है कि) अन्य महिलाओं के पतियों (के शरीर के) परिमल (अङ्गराग आदि) जो हैं, वे सुगन्धित होते हैं । (इधर लड़ाई में सबसे आगे रहने वाले) मेरे प्रिय के अंगों से (घावों की) दुर्गन्धि भभकती रहती है !

यहाँ शृंगार रस में भभकती हुई दुर्गंध की चर्चा विरोधी भाव-जैसा लगता है पर नायिका व्याज निंदा के बहाने अपना सौभाग्य ही बताती है जो स्थायी भाव (रति) का पोषक होने से अविरोधी हो जाता है ।

(४) ४।४ की वृत्ति में निम्नलिखित दो पद्य है जिन्हें 'अनतिसुगम' और 'सन्दिग्ध' समझा गया है । उनका पाठ भाषा और छन्द दोनों दृष्टियों से भ्रष्ट है । मुद्रित प्रतियों में पाठ इस प्रकार है—

वेवइ सेअदवदनी रोमांचिअ गत्तिए ववइ ।
विललुल्लु तु वलअ लहु वाहोवल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्घेण
मुद्धा मुहल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिज्जइ ॥

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार दी गई है ।

वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्यां रणति ॥
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन ।
मुग्धा मुखवल्ली साऽपि तव प्रेम्णा न धैर्यं करोति ।

मूल के काले टाइप में छपे शब्दों की संस्कृत छाया स्पष्टरूप से असंगत है । इससे अर्थ भी नहीं स्पष्ट होता । 'विदग्धेन विमूर्च्छति' का कोई अर्थ नहीं लगता । प्राकृत-अपभ्रंश में विदग्ध का रूप 'वियड्ढ' बनता है, 'विअग्ध' नहीं । विअग्घ का अर्थ कदाचित् वियोग है क्योंकि हेमचंद्र द्वारा 'छुडु अग्घइ विवसाउ' (४।४२६) दोहे में 'अग्घइ' का अर्थ 'मिलता हैं' बताया जाता है । इसलिये 'विअग्घ' का अर्थ मिलना का अभाव ही हो सकता है । 'साऽपि' (सावि) पद नायिका से भिन्न किसी स्त्री की ओर संकेत करता है । वह 'महल्ली' हो सकती है । 'महल्ली' अर्थात् नायिका की वृद्धा माता या दूती या महरी । देशीनाममाला (४।७८३) के अनुसार 'महल्ली' का वृद्धा अर्थ है । इसका मुखवल्ली अर्थ करना असंगत है । एक तो साहित्य में 'मुखवल्ली' अपरिचित है, दूसरे पहले ही बाहुवल्ली का प्रयोग हो

जाने के कारण पुनरुक्त दोष आ जाने की सम्भावना है। इसी प्रकार 'धिज्ज' धातु का प्रयोग परवर्ती साहित्य में विश्वास करने या आश्वस्त होने के अर्थ में हुआ है। कबीर का दोहा है—

मृतक को धीजौं नहीं, मेरा मन बीहै (कबीर ग्रंथावली पृ० ३०, सा. १३।८३)

यही अर्थ यहाँ भी ठीक लगता है। इन सब बातों को देखकर मेरी धारणा है कि इसका पाठ कुछ इस प्रकार रहा होगा—

वेवइ सेअदवदनी रोमांचितगात्रा अवरुवइ।
विलुलुल्लु तु वलअ लहू बाहूवल्लीए रणरणति ॥
मुहु सामल होइ खणे खणे विमुच्छइ विअग्घेण।
मुद्धह महल्लिया या सावि तुअ पेम्मेण णहु धिज्जइ ॥

अर्थ होगा—'काँपती है वह स्वेदवदना, रोमांचितगात्रा फफक फफक कर रो रही है (अवरोदिति), वलय वार वार विलुलित होकर वाहुवल्ली में झन-झना उठते हैं, एक क्षण में उसका मुँह काला पड़ जाता है और दूसरे क्षण में वियोग से मूर्छित हो जाती है। (अब हालत यह है कि) मुग्धा की वृद्धा माता (या महरी) भी तुम्हारे प्रेम से आश्वस्त नहीं हो पा रही है। या तुम्हारे प्रेम का विश्वास नहीं कर रही है।

यह सब केवल भाषा और काव्य की दृष्टि से सोचा हुआ है। इसे सहृदयों के सामने विचारार्थ रख दिया गया है।

राजकमल द्वारा प्रकाशित
आचार्य द्विवेदी की अन्य कृतियाँ

कबीर
कबीर-विषयक आलोचना साहित्य में मील का पत्थर
१६.००

आलोक पर्व
द्विवेदीजी के ललित निबन्धों का सर्वथा अभिनव संग्रह। प्रेस में

चारु चन्द्रलेख
इस्लामी आक्रमण के समय की पृष्ठभूमि पर लिखित सर्वथा अभिनव औपन्यासिक कृति। १३.५०

बाणभट्ट की आत्मकथा
आत्मकथा शैली में एक अविस्मरणीय उपन्यास। ७.५०

हिन्दी साहित्य की भूमिका
हिन्दी साहित्य का परिचय करानेवाली बेजोड़ पुस्तक।
११.००

कल्पलता
द्विवेदीजी के ललित निबन्धों का संग्रह। ७.००

कालिदास की लालित्य योजना
महाकवि की साहित्य-गरिमा का अपूर्व दिग्दर्शन। ६.००

मृत्युंजय रवीन्द्र
कविगुरु के व्यक्तित्व का अंतरंग परिचय। ७.५०

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद
प्राचीन काल के भारतवासियों के कलात्मक विनोदों का वर्णन। १०.००

राजकमल के कुछ उल्लेखनीय आलोचना-ग्रंथ

भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन	गोपीनाथ तिवारी	१८.००
मीरा की प्रेम साधना	भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१६.००
हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष	ओंकारनाथ श्रीवास्तव	२०.००
हिन्दी काव्य में अन्योक्ति	डा० संसारचन्द्र	१८.००
हिन्दी गद्य काव्य	डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	१५.००
छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन	,, ,,	१६.००
मधुर रस : स्वरूप और विकास	रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव'	२०.००
गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-गद्य	डा० गोविन्दनाथ राजगुरु	१६.००
भरत और भारतीय नाट्यकला	डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित	३५.००
आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त	डा० एस० पी० खत्री, शिवदानसिंह चौहान	१२.००
प्रेमचन्द : एक विवेचन	डा० इन्द्रनाथ मदान	५.५०
आज का हिन्दी उपन्यास	डा० इन्द्रनाथ मदान	५.००
व्यक्तित्व का विघटन	मैक्सिम गोर्की, अनु० शिवदानसिंह चौहान, विजय चौहान	७.००
बदलते परिप्रेक्ष्य	नेमिचन्द्र जैन	६.००
समीक्षा के सन्दर्भ	डा० भगवतशरण उपाध्याय	११.००
कलम का मजदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	१३.००
प्रतिक्रियाएँ	डा० देवराज	१०.००
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डा० रामविलास शर्मा	७.००
प्रेमचन्द और उनका युग	डा० रामविलास शर्मा	६.००
रंगमंच (सचित्र)	बलवन्त गार्गी	३०.००
कविता के नये प्रतिमान	डा० नामवर सिंह	१२.००
छायावाद	डा० नामवर सिंह	६.००
सुमित्रानन्दन पन्त तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता	ई० चेलिशेव	१२.००
फिलहाल	अशोक वाजपेयी	१०.००

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६